❈ आचार्य महावीरकीर्ति प्रणीत ❈

धर्मानन्द श्रावकाचार

आशीर्वाद

परम पूज्य प्रथमाचार्य श्री १०८ आदिसागरजी (अंकलीकर) के

तृतीय पट्टाचार्य

तपस्वी–सम्राट आचार्य श्री १०८ सन्मति सागरजी महाराज

❈

हिन्दी टीकाकर्त्री

प्रथम गणिनी आर्यिका विजयामति माता

❈

प्रकाशक :

सकल दिगम्बर जैन समाज

उदयपुर

ग्रन्थ : धर्मानन्द श्रावकाचार

ग्रन्थकर्ता : आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज

आशीर्वाद : आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज

हिन्दी टीका : गणिनी आर्यिका विजयमती जी

संपादक : प्रोफेसर टीकमचन्द जैन

प्रकाशक : सकल दिगम्बर जैन समाज, उदयपुर

सर्वाधिकार : प्रकाशकाधीन

संस्करण : प्रथम, 2003

अर्थदाता : शंकरलाल नवलचन्द जी मानोत
© : 2529887(ऑ.) 2584641 (नि.)

मूल्य : स्वाध्याय

प्राप्ति स्थान : महेन्द्र हुण्डावत, उदयपुर

मुद्रक : न्यू युनाइटेड प्रिन्टर्स
भूपालपुरा, मठ, उदयपुर
फोन : 2415656, 2415657

आशीर्वाद

वर्तमान युग में भगवान आदिनाथ से भगवान महावीर श्रुत परम्परा के मूलकर्ता हैं तथा गणधर वृषभसेन से गणधर गौतम स्वामी श्रुत परम्परा के उत्तरकर्ता हैं। उसके बाद अर्वाचीन ऋषियों से श्रुत परम्परा प्रवाहित होती आ रही है।

आज ख्याति प्राप्त आचार्य कुंदकुंद देव का नाम श्रुत परम्परा में अच्छी तरह से लिया जाता है। इन्होंने भगवान सीमंधर स्वामी से सुनकर श्रुत को प्रवाहित किया है।

बीसवीं शताब्दी में सर्वप्रथम आचार्य परम्परा में मुनिकुञ्जर आचार्य परमेष्ठी आदिसागर अंकलीकर का नाम लिया जाता है। इन्होंने अपनी आराधना से आराधित आत्मा से उद्गत श्रुत को जिनधर्म रहस्य, दिव्य-देशना, उद्बोधन, शिवपथ (संस्कृत), प्रायश्चित्त विधान (प्राकृत), वचनामृत, अंतिम दिव्य देशना इत्यादि के नाम से किया।

इसी परंपरा को परंपराचार्य श्री महावीरकीर्ति जी ने फाल्गुन शुक्ला ११ ग्यारस १७ मार्च १९४३ को मुनि कुञ्जर आचार्य परमेष्ठी आदिसागरजी महाराज अंकलीकर से दीक्षा लेकर एवं इसी वर्ष गुरु का आचार्य पद चातुर्मास में प्राप्त किया।

महापुरूषों का जीवन निस्पृही और परोपकारी होता है। दुःखी प्राणियों को अनंत सुख में परिणमित करने में उपयोग लगा रहता है। उन्हीं महापुरूषों में से परम पूज्य गुरूदेव आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज है जिन्होंने अपने लोकोत्तर ज्ञान को अपने गुरूदेव परम पूज्य महामना मुनि कुञ्जर समाधि-

सम्राट, ज्ञानी-ध्यानी, हितोपदेशी आचार्य शिरोमणि श्री आदिसागर जी अंकलीकर से प्राप्त कर अनेक ग्रन्थों में परिणत कर समाज के बीच में है। वह भव्यों के लिए कल्याणकारी हुआ। उन्हीं ग्रंथों में से एक "धर्मानन्द श्रावकाचार" है। यह उनकी एक अनुपम कृति है जो श्रावकों को शुद्धात्मा की प्राप्ति कराने में अद्वितीय सिद्ध हुई है। हिन्दी काव्य में है, सरस-सरल मिष्ट भाषा में होने से सर्वोपयोगी है। इसमें प्राण डालने वाले अथवा चार चांद लगाने वाले या ज्ञान में विशेषता लाकर श्री १०५ ज्ञान चिंतामणि, रत्नत्रय हृदय सम्राट, गणिनी कुन्जर आर्यिका शिरोमणि श्री विजयमति माताजी ने गणधर का कार्य किया है। उसकी व्याख्या कर सर्वजनोपयोगी सिद्ध कर दिया है। यह परंपरा आचार्य व श्रुत ज्ञान में अक्षुण्ण है तथा कार्य भी अक्षुण्ण रीति का है। वर्तमान में श्रावकाचार पूर्वक श्रमणाचार के जन्मदाता या जन्मश्रोत सिद्ध है। इस कृति का मूल जन्म सं. २४१३ में हुआ, द्वितीय २४८६, तृतीय २४९१, चतुर्थ २५१४ में होने के बाद यह प्रकाशन हो रहा है। इस कृति का प्रकाशन कार्य सर्व साधारण व्यक्तियों के लिए अति आवश्यक समझकर किया है। यथार्थता तो यही है कि गागर में सागर भरा हुआ है। जिनवाणी का प्रकाशन महान कार्य है। अतः मेरा उसके लिए शुभ आशीर्वाद है।

दीपावली २००३

आचार्य सन्मति सागर

आशीर्वाद

चारित्र-चूड़ामणि परम पूज्य गुरुदेव समाधि मार्ग दिवाकर

आचार्य श्री आदिसागरजी महाराज (अंकलीकर)

एवं तत् पट्टशिष्य

तीर्थ भक्त शिरोमणि, घोर उपसर्ग विजेता, समाधि सम्राट,

परम पूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति महाराज

एवं तत् पट्टशिष्य

सिद्धान्त चक्रवर्ती परम तपस्वी सन्मार्ग दिवाकर

परम पूज्य आचार्य श्री सन्मतिसागरजी महाराज

के चरण-कमलों में मेरा कोटि-कोटि वंदन,

जिनके मार्गदर्शन में इस ग्रंथराज का अनुवाद किया है। भव्य जीव इसका स्वाध्याय, मनन कर अपना आत्म कल्याण करेंगे। ऐसी मेरी भावना है। इस ग्रन्थ के द्रव्य प्रदाता एवं प्रकाशक को मेरा आशीर्वाद है एवं अन्य सभी कार्यकर्ता को शुभ आशीर्वाद।

आर्यिका प्रथम गणिनी विजयमति

परिचय

आचार्य आदिसागरजी अंकलीकर

भगवान महावीर से १३ वीं सदी तक दिगम्बर मुनि परम्परा निर्दोष चलती रही। बाद में १९ वीं सदी तक कोई भी साधु निर्दोष देखने में नहीं आया। २० वीं सदी में प्रथम आचार्य आदिसागर अंकलीकर हुए हैं।

आपका जन्म भाद्रपद शुक्ला ४ सन् १८६६ को अंकली ग्राम में हुआ। आपके पिता सिद्धगौड़ा, माता अक्का बाई थी। आपका नाम शिवगौड़ा था। गांव के जागीरदार थे, धार्मिक थे, न्याय नीतिज्ञ थे, तेजस्वी, शूरवीर, महापुरूष थे। किवाड़ों को मुक्कों से तोड़ना, कच्चा कद्दू खा जाना आदि क्रीड़ाएँ थी। कर्मों को क्षय करने में पराक्रमी थे, दीन-दुःखी जीवों के लिए दयालु थे। स्वाभिमानी थे।

४७ वर्ष की आयु में मगसर शुक्ला २ (दोज) को कुन्थलगिरि पर सिद्धों की साक्षी में स्वयं ने निर्वाण दीक्षा धारण की और आदिसागर नाम हुआ। भारत के सम्पूर्ण तीर्थों का दर्शन किया। आप पंचाचार का पालन करते एवं अपने शिष्यों को कराते थे।

आपके निर्दोष आचरण को देखकर चतुर्विध संघ ने जयसिंगपुर में श्रुतपंचमी सन् १९१५ को आचार्य पद दिया।

अपने ज्ञान को - दिव्य देशना, उद्‌बोधन, जिनधर्म रहस्य (संस्कृत), वचनामृत, प्रायश्चित्त विधान (संस्कृत), शिवपथ (संस्कृत), आदिशिक्षा इत्यादि ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया है।

अनेक श्रावक-श्राविकाओं को दीक्षायें दी है। फाल्गुन शुक्ला ग्यारस ४ मार्च सन् १९४३ को मुनि महावीरकीर्ति के नाम से दीक्षित किया और चातुर्मास में अपना आचार्य पद दिया है। पृथक्त्व दिनों तक अनशन पूर्वक ध्यान कर पारणा करते थे।

नैत्र ज्योति मंद होने पर फाल्गुन कृष्णा तेरस, २१ फरवरी सन् १९४४ को ऊदगाँव (कुञ्जवन) में १४ दिन के बाद समाधि की है। आपके दर्शन के लिए सरकार ने प्रतिदिन दर्शनार्थियों के लिए निःशुल्क रेल चलाई थी। आकाश में देवों मे जय घोष एवं वाद्य घोष किया था।

परिचय

आचार्य महावीरकीर्ति जी

आपका जन्म वैशाख कृष्णा ९ विक्रम संवत् १९६७ को फिरोजाबाद में हुआ। माता का नाम बून्दा देवी और पिता का नाम रतनलाल था। पद्मावती पुरवाल जाति थी, आदर्शमय जप-त्याग, तपोमय जीवन से संलग्न थे। न्यायतीर्थ, आयुर्वेदाचार्य, ज्योतिषाचार्य आदि की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। महेन्द्रसिंह नाम था।

बत्तीस वर्ष की आयु में निर्वाण दीक्षा परम पूज्य मुनि कुञ्जर, समाधि-सम्राट, दक्षिण भारत के वयोवृद्ध, दिगम्बर संत, आदर्श तपस्वी, अप्रतिम उपसर्ग विजेता, महामुनि आचार्य शिरोमणि श्री आदिसागरजी महाराज अंकलीकर से फाल्गुन शुक्ला ग्यारस, १७ मार्च सन् १९४३ को ऊदगांव में ली। मुनि महावीरकीर्ति नाम से जानने लगे।

आपने प्रबोधाष्टक, प्रायश्चित्त विधान, चतुर्विंशति स्तोत्र, शिवपथ, वचनामृत आदि ग्रन्थों की रचनाएँ तथा संस्कृत टीकायें की है। आपको अपने गुरु का आचार्य पद इसी चातुर्मास में प्राप्त हुआ।

तीर्थंकर प्रकृति की कारणीभूत गुरुदेव प्रातः स्मरणीय, विश्ववंद्य, देवाधिदेव, कलिकाल तीर्थंकर, चारित्र चक्रवर्ती, आचार्य शिरोमणि आदिसागरजी अंकलीकर, आचार्य वीरसागरजी, मुनि धर्मसागरजी आदि अनेक साधुओं को समाधि मरण कराने में हस्त सिद्ध रहे हैं।

आपके मुख्य शिष्य आचार्य विमलसागरजी, पट्टाचार्य सन्मतिसागरजी, गणधराचार्य कुन्थुसागरजी, स्थविराचार्य संभवसागरजी, गणिनि आर्यिका विजयमतिजी, क्षुल्लक शीतलसागरजी आदि हैं।

घनरूप शीत के कारण आपका समाधि मरण माघ कृष्णा ६ गुरुवार ६ जनवरी, सन् १९७२ को मेहसाना (गुजरात) में हो गया। आचार्य पद में आपके गुरु ने सम्मेद शिखर का प्रथम दर्शन, आपका प्रथम चातुर्मास एवं आपके शिष्य ने प्रथम समाधि मरण किया है।

परिचय

आचार्य विमलसागरजी

आपका जन्म आसोज कृष्णा सप्तमी विक्रम संवत् १९७२ में कोसमां उत्तर प्रदेश में हुआ। माता का नाम कटोरी बाई एवं पिता का नाम बिहारीलाल था। गृहस्थावस्था में नेमीचन्द्र के नाम से जानते थे।

आपने शिक्षा शास्त्री पर्यंत प्राप्त की। आपके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अत्यधिक तो था ही साथ ही दूसरों को अध्यापन के कार्य से ज्ञान की वृद्धि हुई। आपका पाण्डित्य और आयुर्वेद शास्त्र में भी अच्छा ज्ञान रहा। इसलिए आप पंडितजी, वैद्यजी की उपाधि से प्रख्यात हो गये। घर में रहकर भी दया, दान, इति परोपकार वृत्ति आदि धार्मिक कार्यों में निराजमान थे। आचार्य आदिसागरजी अंकलीकर एवं उनके पट्टाधीश आचार्य महावीरकीर्ति जी के सन्निकट रहने के कारण आपका जीवन वैराग्य की ओर मुड़ गया।

इस प्रकार आपने अपने सम्पूर्ण व्रतों को गुरुदेव परम्पराचार्य महावीरकीर्ति जी से ग्रहण किया। निर्ग्रन्थ दीक्षा संवत् २०१० में सोनागिरि में हुई। आपका नामकरण मुनि विमलसागर रखा गया। अपनी उज्ज्वल साधना के कारण टूंडला में आचार्य पद को प्राप्त हुए। आपके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक भव्य प्राणियों ने ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, मुनि, आर्यिका के व्रत ग्रहण किये। इनमें से योग्य मुनियों को आचार्य पद प्रदान किये।

आपके द्वारा रचनात्मक कार्य अनेक हुए। जिनवाणी का वैभव नामक ग्रन्थ ऐलक अवस्था में, आचार्य आदिसागर अंकलीकर नामक ग्रन्थ आचार्य पद में तथा अन्य साहित्य भी लिपिबद्ध किया गया। यह भव्य प्राणियों को बोध को प्राप्त कराने में श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। आपने अपने जीवन काल के समय में ही महत्वपूर्ण

दिशा बोध दिया है। वह इस प्रकार है – हमारी आचार्य परम्परा में प्रथम मुनिकुञ्जर आचार्य आदिसागरजी अंकलीकर थे। आप आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी के दीक्षा गुरु थे।

अतः आचार्य श्री आदिसागरजी अंकलीकर ने अपना आचार्य पद महावीर कीर्ति जी को दिया है। अतः जैन समाज में आचार्य आदिसागरजी अंकलीकर की परम्परा और आचार्य शांतिसागरजी (दक्षिण) की परम्परा इस युग में निर्बाध चली आ रही है। किसी प्रकार का विवाद न करके दोनों आचार्य परम्परा को आगम सम्मत मानकर वात्सल्य से धर्म प्रभावना करें।

आगम चक्षु साहू को महत्व देते रहे। मुख्यतया सम्मेद शिखरजी के प्रति प्रगाढ़ भक्ति को साकार रूप दिया। जिसके फलस्वरूप भगवान पार्श्वनाथ और भगवान चन्द्रप्रभु के जन्म, तप कल्याणक के दूसरे दिन पोस कृष्णा बारस को उस महा तीर्थराज सम्मेद शिखर क्षेत्र पर समाधि को प्राप्त हुए।

इस युग में आचार्य पदाधिकारी की प्रथम समाधि हुई है यही इस परंपरा की विशेषताएँ हैं।

परिचय

गणिनी आर्यिका विजयमतिजी

आपका जन्म बैसाख शुक्ला १२ विक्रम संवत् १९८५, १ मई सन् १९२८ को कामाँ, जिला भरतपुर (राजस्थान) में हुआ। आपका जन्म नाम सरस्वती देवी था। पिता श्री संतोषीलालजी एवं माताश्री चिरौंजाबाई बड़जात्या था। पूर्व जन्मों के संस्कार से और इस जन्म के परिवार के वातावरण से धार्मिक कार्यों में समय व्यतीत करते थे, प्रमाद नहीं था, प्रसन्नता थी।

विवाह की योग्यता होने पर १५ वर्ष की आयु में इनका लश्कर निवासी भगवान दासजी गंगवाल के साथ हुआ परन्तु २० दिन के वैवाहिक जीवन के पश्चात् दुर्दैववशात् वैधव्यता प्राप्त हुई।

आचार्य सुधर्मसागरजी की आज्ञा प्राप्त हुई कि वह जैसा कहे वैसा ही करें। आप से विचार करने पर चन्द्राबाई जैन बालाश्रम आरा (बिहार) में शिक्षा के लिए रखा गया। कक्षा ९ में प्रवेश हो गया अनुशासित रहकर बी.ए., बी.एड. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। वहाँ रहकर आपने देश के स्वतन्त्रता के आंदोलन में सक्रिय भाग लिया। आप ओजस्वी वक्ता थी।

आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज १९५६-५७ में आरा आए। उस समय आपके मन में आर्यिका दीक्षा लेने के भाव आए। लेकिन आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज से उत्तर मिला कि तुम्हारी आर्यिका दीक्षा मुझ से नहीं होगी तथापि यह सत्य है कि तुम्हारा कल्याण मेरे पास ही होगा। तब उनसे शुद्रजल का त्याग व्रत लिया और साधुओं को आहार देना प्रारंभ कर दिया।

कुछ समय बाद आचार्य शिवसागरजी महाराज से ब्यावर में दूसरी प्रतिमा के व्रत धारण किये। पश्चात् सन् १९६२ में वीर निर्वाण के दिन परम पूज्य परमात्मा आचार्य आदिसागरजी महाराज अंकलीकर की परंपरा के आचार्य विमलसागरजी

महाराजजी से सातवीं प्रतिमा के व्रत लिए केवल चार माह के पश्चात् आचार्य विमलसागरजी ने इन्हें आगरा में चैत्र कृष्णा तृतीया विक्रम संवत् २०१९ में आर्यिका दीक्षा ग्रहण की। नाम आर्यिका विजयामति माताजी हुआ।

आपने ईसरी और बाराबंकी चातुर्मास के बाद बावनगजा बड़वानी चातुर्मास में आचार्य श्री आदिसागरजी महाराज अंकलीकर के परंपराचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज के पास आचार्य श्री विमलसागरजी की आज्ञा से अध्ययन के लिए रहने लगे। गमक गुरु से गणिनि पद १९७२ में प्राप्त हुआ।

अनेक ग्रन्थों का रहस्यपूर्ण अध्ययन किया। आप ज्ञानचिंतामणि, रत्नत्रय हृदय सम्राट, गणिनि कुञ्जर, युग प्रधान गणिनि आर्यिका विजयामति के नाम से प्रख्यात हैं।

आपके द्वारा अनेक ग्रन्थों का प्रतिपादित, व्याख्यापित और अर्थ किये गये हैं। विशिष्ट ग्रन्थ इस प्रकार हैं - आत्म वैभव, आत्म चिंतन, नारी वैभव, तजो मान करो ध्यान, पुनर्मिलन, सच्चा कवच, महीपाल चरित्र, तमिल तीर्थ दर्पण, कुन्द-कुन्द शतक, प्रथमानुयोग दीपिका, अमृतवाणी, जिनदत्त चरित्र, श्रीपाल चरित्र, अहिंसा की विजय, शील की महिमा, आदि शिक्षा, दिव्य देशना, अंतिम दिव्य देशना, उद्बोधन, आचार्य महावीरकीर्ति का परिचय, विमल पताका, ओम प्रकाश कैसे बना सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य सन्मति सागर, नीति वाक्यामृत, जिनधर्म रहस्य का पद्यानुवाद, चतुर्विंशति स्तोत्र (हिन्दी अनुवाद), आदा समुच्चय आदि।

रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा का तेज आपके दर्शन करने वाले सहज ही जानते हैं।

✱

पुरोवाक्

"न धर्मो धार्मिकैर्बिना" इस सूक्ति में एक मार्मिक तथ्य निहित है। धर्म क्या है ? इस प्रश्न के साथ ही एक विशेष आधार शिला की ओर अनायास ही दृष्टि घूम जाती है। क्या धर्म कोई वस्तु है, जिसे स्थिर रखने को आधार की आवश्यकता है ? इसके समाधान के पूर्व धर्म कोई न पदार्थ है और न ही वह बाह्य जगत में उपलब्ध ही होता है। फिर क्या है ? यह तो प्राणी मात्र का स्वभाव है जो त्रैकालिक उसके साथ हर क्षण रहता है। इस तथ्य से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि धर्म स्वभाव है और स्वभावी है उसका आधार है। इस स्पष्टीकरण से विदित होता है मानव धर्म का आधार है और उसका स्वभाव-आचरण धर्म है। आगम के परिपेक्षण में "चारित्तं खलु धम्मो" यह गंभीर परिभाषा प्राप्त है। यह आचरण या चारित्र कब और किस प्रकार प्राप्त और विकासोन्मुख हो विचारने पर ज्ञात होता है सम्यग्दर्शन पूर्वक संयम के साथ इसका विकास होता है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन तो चारों ही गतियों में होना संभव है किन्तु संयम सर्वत्र नहीं होता। नरक और स्वर्ग गति में तो संयम की प्राप्ति सर्वथा असंभव है। तिर्यंचगति में होता है परन्तु यह एकदेश ही हो सकता है। पूर्ण संयम असंभव है। अब रह गई मानव पर्याय। इसमें पूर्ण संयम का फल अवश्य संभव है, तथाऽपि हर एक मनुष्य को नहीं होता और न बिना पुरुषार्थ के ही। यही उद्देश्य आचार्य परमेष्ठियों का रहा है कि येन-केन प्रकार से पूर्ण धर्म-संयम की उपलब्धि हो। इसी अपेक्षा से धर्म एक होने पर भी उसे पाने

की आकांक्षा से व्यवहार में ला जीवन के साथ घुला-मिला देख सके और पा सके उसे दो भागों में विभाजित कर समझाया है - १. श्रावक धर्म और २. यति धर्म। इनमें प्रथम साधन है और दूसरा साध्य। साधन के अभाव में साध्य की सिद्धि हो नहीं सकती, इसी से प्रथम श्रावक धर्म का स्थान आता है। प्रस्तुत ग्रन्थ "धर्मानन्द श्रावकाचार" में श्रावक धर्म का सुविस्तृत, सरल और स्पष्ट किया है। आबाल वृद्ध सर्व ही प्रबुद्ध हो सकते हैं। आचार्य परमेष्ठी श्री महावीर कीर्ति जी महाराज ने अपनी दूरदर्शिता से वर्तमान युग के चारित्र हीनता की स्थिति को ही ज्ञात करके सार्वजनिक जीवन को शिष्ट, प्रबुद्ध, विनयी, नम्र, भगवद्भक्त बनने का यह मार्ग दिखलाया है। इसमें श्रावक-गृहस्थ का सर्वांगीण जीवन का चित्रण सीधा सच्चा उतारा है। अतः प्रत्येक धर्मप्रेमी श्रावक-श्राविका इसका आद्योपान्त अध्ययन कर मुक्तिपथ को प्रशस्त करें। आशा है अवश्य लाभ उठायेंगे।

आर्यिका प्रथम गणिनी विजयामति

प्राक्कथन........

इस ग्रन्थ का नाम "धर्मानन्द श्रावकाचार" है। आनन्दकारी आत्मगुणों की पहचान कराने वाला यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। आर्ष परम्परा के अनुकूल सामग्री से युक्त होने से अतीन्द्रिय आत्म सुखों की ओर जीव को उन्मुख कराने वाला है इसलिए परमोपयोगी भी है। उपासकाध्ययनाङ्ग के विषय को सरल, सुगम भाषा में उपस्थित करने वाला होने से प्रामाणिक भी है।

भगवान् महावीर की मौलिक परम्परा का संवहन करने वाले वर्तमान युग में श्री कुन्दकुन्द स्वामी को आदि लेकर अनेक आचार्य हुए हैं। उनमें २० वीं शताब्दी के प्रथमाचार्य श्री १०८ मुनि कुञ्जर सम्राट श्री १०८ आदिसागरजी (अंकलीकर) के पट्टशिष्य तीर्थभक्त शिरोमणि, तपस्वी सम्राट, आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज ने भव्यजीवों के हितार्थ इस ग्रन्थ की रचना की है। अधिकांश जनता संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ है उन्हें भी श्रावक धर्म का स्वरूप अच्छी तरह समझ में आये इस भावना को लेकर संभवतः यह रचित है। इसके छन्द (दोहे) बहुत सरल हैं किन्तु गंभीर अर्थ को प्रगट करने वाले हैं, अतः गागर में सागर की लोकोक्ति को चरितार्थ करते हैं। तत् पट्टशिष्य आचार्य श्री १०८ तपस्वी सम्राट सन्मतिसागरजी महाराज की प्रेरणा एवं प्रयास से इसका प्रकाशन हुआ है। जो मोक्षमार्ग से विमुख हैं उन्हें मोक्षमार्गी बनाना, रत्नत्रय की उत्पत्ति फलोत्पत्ति का उपाय बताना इस रचना का प्रधान उद्देश्य है। सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रमाण और नय पर आधारित है क्योंकि प्रारंभ से अन्त तक नय दृष्टि से विषय प्रतिपादित है।

◆ ***धर्मानन्द श्रावकाचार के आधारभूत ग्रन्थ-***

रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, वसुनन्दी श्रावकाचार, भावपाहुड़, पद्मनन्दी पंच विंशतिका, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, भगवती आराधना आदि आर्ष प्रणीत ग्रन्थों को आधार बनाकर इस ग्रन्थ को लिखा गया है।

◆ ***विषय परिचय -***

प्रथम अध्याय - इसमें धर्मानन्द ग्रन्थ की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए

श्रावक धर्म का संक्षिप्त विवेचन है। मिथ्यात्व को हेय बताकर उनको त्यागने का उपाय भी बताया है। अन्याय, अनीति, लोक विरुद्ध, धर्म विरुद्ध, जाति विरुद्ध गर्हित निन्द्य आचारों के त्याग का उपदेश भी इस अध्याय में है। मिथ्यात्व की भेद, प्रभेद पूर्वक प्ररूपणा, अभक्ष्य क्या है ? अभक्ष्य सेवन से क्या हानि है ? इसका भी इस अध्याय में संक्षिप्त विवरण है। हिन्दू धर्म भी अभक्ष्य भक्षण का निषेध करता है इस बात को प्रस्तुत कर भव्य जीवों को पाठकगण को अभक्ष्य भक्षण से विरक्त होने की विशेष प्रेरणा दी है। आश्रमों के नाम बताकर गृहस्थाश्रम का वर्णन अपनी लेखनी का मुख्य विषय घोषित किया है। अनन्त संसार का कारण मिथ्यात्व है उसके आश्रय से जो प्रवृत्ति करती है वह अनन्तानुबंधी कषाय है जो सम्यक्त्व का घात करती है और मुख्य रूप से सम्यक्त्वाचरण चारित्र को रोकती है। मनुष्य भी इनके उदय से ग्रस्त हैं और हिताहित के विवेक से रहित पशुओं की तरह आचरण करते हैं। अन्याय मार्ग पर आरूढ़ होकर लोक विरुद्ध, धर्म विरुद्ध, जाति विरुद्ध गर्हित निन्द्य आचार में ही रच-पच जाते हैं फलतः दीर्घकाल तक जन्म मरण करते हुए दुःखी बने रहते हैं। यदि सुख शान्ति की चाह है तो सर्वप्रथम हम मिथ्यात्व रूपी हलाहल विष की पहचान करें और उससे बचने का उपाय ढूंढे, योग्य पुरुषार्थ करें। प्रथम अध्याय में वर्णित उक्त विषयों को जिनागम का सार जानकर उनका उचित श्रद्धान करना चाहिए।

◆ ***द्वितीय अध्याय–***

द्वितीय अध्याय में उस सच्चे धर्म का स्वरूप बतलाया गया है जिससे सदा-सदा के लिए दुःख से छुटकारा मिल सके। आज विषयाकांक्षा एवं तृष्णा की उत्ताल तरङ्गों से मानव इतना अधिक संत्रस्त है कि उसको अवकाश ही नहीं मिलता कि वह स्व स्वरूप का विचार कर सके। स्थिति बड़ी विचित्र हो जाती है - कभी दारिद्र्य से पीड़ित होकर कराहता है तो कभी पारिवारिक झंझटों से झुंझलाता है। कभी उसे शारीरिक पीड़ा सताती है तो कभी मानसिक अशान्ति। इस अध्याय में गुरुदेव ने उन जीवों के लिये ही करूणाकर दुःखों से छूटने का सरल और सच्चा उपाय बताया है। वह उपाय उनकी कोई व्यक्तिगत कल्पना नहीं, जिनवाणी से प्राप्त एक सच्ची दिशा है।

दर्शन पाहुड़ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने जैसा कि स्पष्ट कहा है –

''जिणवयणमोसहमिणं विसयसुह विरेयणं अमिदभूयं ।

जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ।। दर्शन प्राभृत १७ ।।

अर्थ – जिनवचन ही वह श्रेष्ठ औषधि है जो विषय सुख के विरेचन पूर्वक जन्म जरा मरण का दुःख हरकर समस्त दुःखों से छुड़ाती है। जो उस औषधि को यथाविधि स्वीकार करता है उसमें आश्चर्यकारी परिवर्तन देखा जाता है। तृष्णाओं की आँधी स्वयमेव शान्त हो जाती है। दुःख और अशान्ति का मूल जो मिथ्यात्व है उसका वमन हो जाने से उसे धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ होने लगता है। अब तक वह भ्रान्तिवश भोगों में सुखमान रहा था, उसकी दौड़ मात्र भोगों की ओर थी पर जिनवाणी द्वारा ज्ञानाञ्जन शलाका से दृष्टि जब खुल जाती है तब विपरीत मार्ग वह शीघ्र छोड़ देता है – बहिरात्मा से अन्तरात्मा बन जाता है – निज आत्म गुणों में अनुराग बढ़ता है, विषयभोग अब रुचिकर नहीं लगते हैं। रत्नत्रय स्वभावी निज आत्म स्वभाव में ही रमता है। जैसा कि प्रस्तुत ग्रन्थ में भी बताया गया है-

सम्यग्दर्शनज्ञान युत, अहिंसामय चारित्र ।

श्रावक मुनि व्रत पालकर, करते स्वात्म पवित्र ।। ३१ ।। द्वि. अ. ।

मुहूर्त एक समकित रतन, पाकर यदि हो त्याग ।

मारीचि सम बहुभ्रमित भी, शिवतिय धरे सुहाग ।। ३२ ।। द्वि. अ. ।

सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान पूर्वक अहिंसा धर्म का पालन करना चारित्र है वह चारित्र ही श्रेष्ठ धर्म है उसकी रक्षा हेतु श्रावक धर्म तथा मुनि धर्म को अर्थात् अणुव्रत और महाव्रतों को यथाशक्ति धारण करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग, २५ दोषों का उल्लेख भी इस अध्याय में है क्योंकि कहावत है – ''बिन जाने ते दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये''। हेय क्या है ? उपादेय क्या है ? दोनों पक्षों को जानने से व्रतों में स्थिरता दृढ़ता आती है। पाठक गण दोनों को भली प्रकार जान सकें इस अभिप्राय को लेकर यहाँ उन सबका संक्षेप में वर्णन किया है। उनका पठन, चिन्तन-मनन कर आत्म उत्थान हेतु कठोर पुरूषार्थ करना चाहिए। इत्यलं।

- *तृतीय अध्याय –*

इस अध्याय में हिंसा और अहिंसा तत्त्व का सुन्दर वर्णन है। प्रमाद और कषाय

जो हिंसा के मूल कारण हैं उनका भी इसमें उल्लेख है।

मानवता के विधा तक भौतिक विज्ञान की चकाचौंध में पड़े हुए आज हम अहिंसा धर्म से दूर हटते चले जा रहे हैं। मातायें एबॉर्शन करवाकर-भ्रूण हत्या करते हुए भी नहीं चूकती है। अपने ही पुत्र का वध करना क्या भारतीय संस्कृति पर घोर कुठाराघात नहीं है ? भ्रूण हत्या महापाप है। जिस धरती पर दूध की गंगा बहती थी वहाँ कत्लखानों में करोड़ों गायों का वधकर आज रक्त की गंगा बह रही है, मांसाहार तेजी से बढ़ता जा रहा है, जैन भी मांस अंडा फैशन में खाने लगे हैं जो उनके लिये उभयलोक में दुखदायी है। "अहिंसा परमो धर्मः" का उपदेश करने वाली जिनधर्म गत धर्म संहिता आज हमारे हृदय को झकझोरती है, जगाती है, प्रहरी की भाँति सावधान कर रही है - जागो -२ निज को निहारो, सुख शान्ति के आकर होकर भी क्यों दुःखी हो ? कारण को पहचानों। दुःख की जननी हिंसा है और सुख की जननी अहिंसा। इस सत्य को परखो। जैन धर्म प्राणी मात्र का हितकारी है। अहिंसा ही इस धर्म का प्राण है। इसीलिए जिसमें हिंसा है उसका यह निषेध करता है, जैसे - रात्रि भोजन नहीं करना, पानी छान कर पीना, जमीकन्द-मूली, गाजर, आलू आदि अनन्त जीवों का पिंड है अतः उसे नहीं खाना। इत्यादि ही इसका संहिताचार है। नेल पॉलिश, लिपिस्टिक, शैम्पू, बेल्ट आदि चमड़े की चीजों का प्रयोग भी हिंसा जन्य पापास्रव का कारण है। इनमें पंचेन्द्रिय जीवों की हत्या होती है उनसे इनका निर्माण होता है अतः उनका त्याग कर हिंसा से बचना चाहिए। अनेकान्त दृष्टि से अहिंसा के स्वरूप समझकर आत्महित में लगना चाहिए यही इस तृतीय अध्याय का सार है।

- **चतुर्थ अध्याय** -

इस अध्याय में गृहस्थाश्रम गत दैनिक कर्तव्य, देव पूजा का स्वरूप, महत्त्वादि का वर्णन है। जिनबिम्ब भी पूजनीय है इस विषय को भी स्पष्ट किया गया है। देव, शास्त्र, गुरु का लक्षण, तपाचार-संयमाचार से लाभ, दान का स्वरूप, दाता, देय, पात्र आदि का विवेचन, बिना छने जल के सेवन से हानि, हिंस्य, हिंसा और हिंसक की समीचीन व्याख्या भी है। श्रावक के मूलगुण, रात्रि भोजन, मद्यपान आदि से हानि, यज्ञोपवीत की आवश्यकता आदि विषयों को भी स्पष्ट किया है।

जिस प्रकार द्रव्य प्राणों की रक्षा हेतु हम प्रतिदिन भोजन जल आदि ग्रहण करते हैं उसी प्रकार भाव प्राण स्वरूप-रत्नत्रय धर्म की रक्षा हेतु षट् कर्मों का-जो प्रतिदिन करने योग्य आवश्यक क्रियायें हैं उन्हें अवश्य करना चाहिए। एक कार्य की सिद्धि हेतु अनेक कारणों की आवश्यकता होती है कोई उपादान कारण होता है कोई निमित्त कारण दोनों ही अपने-२ स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। अतः देव पूजा आदि कार्यों की उपेक्षा न करते हुए उन्हें यथा समय यथाविधि प्रतिदिन करना चाहिए। उनमें भी पूजा और दान श्रावक के मुख्य कर्त्तव्य हैं। पूज्य कौन हैं ? पूजा का क्या अर्थ है इस संदर्भ में सच्चे देव, शास्त्र और गुरू का लक्षण भी इस अध्याय में बताया गया है। जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं वे ही सच्चे देव हैं। उनमें जो तीर्थंकर प्रकृति सहित हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं शेष सामान्य केवली कहलाते हैं। तीर्थंकरोति इति तीर्थंकरः। जिनकी वाणी के द्वारा संसार सिन्धु से, जीव तिर जाते हैं वे धर्म तीर्थ के कर्ता, तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थ शब्द का अर्थ घाट होता है। घाट के सहारे से व्यक्ति सरोवर के बाहर सरलता पूर्वक निकल आता है, इसी प्रकार सामान्य केवली या तीर्थंकर भी संसार पार करने में घाट के समान सहायक हैं। उनके द्वारा दिये गये ही उपदेश को शास्त्र जानना चाहिए। वीतरागी सर्वज्ञ की वाणी भी तीर्थभूत है। स्वाध्याय से भेद विज्ञान और अन्ततः केवलज्ञान भी प्रगट हो जाता है। कहा भी है -

स्वाध्याय बिन होत नहीं, निजपर भेद विज्ञान।
जैसे मुनिपद के बिना न हो केवलज्ञान ॥

जो वीतरागी अरहन्त द्वारा प्रतिपादित, पूर्वापर विरोध रहित - संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित हो वही सच्चा शास्त्र है अन्य नहीं।

जो बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह से रहित हैं, ज्ञान, ध्यान, तप में निरन्तर लीन रहते हैं, वे ही तारण-तरण सच्चे गुरू हैं। गुरू उपासना भी देवपूजा की तरह दैनिक कार्य है -

कहा भी है -

ज्ञानचारित्रयुक्तो यः गुरूर्धर्मोपदेशकः।
निर्लोभः तारको भव्यान्, स सेव्यः स्वहितैषिणः ॥ १ ॥

जो गुण मण्डित बुद्ध हैं, रत्नत्रय से शुद्ध।

ऐसे मम गुरूवर महा, ध्यान करें अविरूद्ध ॥ २ ॥

गुरू उपासना - आहार दान, औषध दान, ज्ञान दान, अभयदान के रूप में संभवित है। दाता, पात्र, देय सामग्री का इस अध्याय में अच्छा विवेचन है।

दाता में ७ गुण होना चाहिए - १. श्रद्धा, २. शक्ति, ३. भक्ति, ४. विज्ञान, ५. निर्लोभी होना, ६. दया, ७. शान्ति। पात्र - जो सम्यग्दर्शनादि गुणों से युक्त हो वही पात्र है। जो जघन्य मध्यम और उत्तम के भेद से तीन भेद युक्त हैं।

दान की महिमा दान का फल भी जानने योग्य है - दान से स्व पर दोनों का अनुग्रह होता है। ज्ञानदान आदि की महमिा बताते हुए आचार्य लिखते हैं -

ज्ञानवान् ज्ञान दानेन, निर्व्याधि र्भेषजाद्‌भवेत्।

अन्नदानात्सुखी नित्यं, निर्भयोऽभय दानतः ॥

ज्ञान दान से व्यक्ति ज्ञानवान् बनता है, औषध दान से निरोगता, अन्नदान से सुखी जीवन और अभयदान से निर्भयता आती है। दानादि षट् कर्मों के साथ-२ श्रावक को मूलगुणों का पालन भी करना चाहिए। मूलगुणों की पालना हेतु सप्त व्यसनों का त्याग भी उसे होना चाहिए। सप्त व्यसनों से हानि - दुःख दारिद्रय की वृद्धि है इत्यादि विषयों का वर्णन इस अध्याय में है उन्हें पढ़कर अपने-२ योग्य कर्त्तव्यों में निष्ठ होना चाहिए।

- ***पाँचवाँ अध्याय -***

नैष्ठिक श्रावक का लक्षण बताते हुए इस अध्याय में गुरूदेव ने अणुव्रतों का विस्तृत विवेचन किया है। अणुव्रतों की रक्षा हेतु शीलव्रतों का पालन, स्त्री शिक्षा आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। परिग्रही अपरिग्रही की पहचान २४ प्रकार के परिग्रहों का उल्लेख कर उनका त्याग करने की प्रेरणा भी दी है। जिस प्रकार बाड़ लगाने से खेत की रक्षा होती है उसी प्रकार व्रत भी आत्मधर्म की सुरक्षा करते हैं। प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं। वे अणुव्रत और गुणव्रतों का निरतिचार पालन करते हैं।

प्रत्येक प्रतिमा के दो रूप होते हैं - एक भावरूप या अध्यात्म रूप और दूसरा द्रव्य रूप या बाह्य रूप। बाह्य त्याग तो देखने में आता है किन्तु अन्तरङ्ग देखने में नहीं

आता। वह तो स्वसंवेद्य होता है। जब चारित्र मोहनीय कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का क्षय अर्थात् उनके उदय का अभाव होता है और देशघाती स्पर्धकों का उदय रहता है तब राग द्वेष के घटने से निर्मल चिद्रूप की अनुभूति होती है। उस अनुभूति से उत्पन्न हुए सुख का स्वाद उन प्रतिमाओं का अन्तरङ्ग रूप है। ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर रागादि घटते जाते हैं त्यों-त्यों आगे-आगे की प्रतिमाओं में निर्मल चिद्रूप की अनुभूति में वृद्धि होती जाती है और उत्तरोत्तर आत्मिक सुख भी बढ़ता जाता है। इसके साथ ही श्रावक की बाह्य प्रवृत्ति में भी परिवर्तन आये बिना नहीं रहता। वह प्रतिमा के अनुसार स्थूल हिंसा आदि पापों से निवृत्त होता जाता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि श्रावक सतत् यह भावना रखता है कि कब मैं गृहस्थ आश्रम को छोड़कर मुनिपद धारण करूँ ? और तभी उसका प्रतिमा धारण करना सफल माना जाता है।

संदर्भवश इसी प्रकरण में अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत आदि प्रत्येक का लक्षण भी प्रस्तुत किया गया है।

- ***षष्ठो अध्याय*** -

इसमें तीन गुणव्रतों का वर्णन है। इनसे अणुव्रतों में विशेषता आती है, अणुव्रतों का निर्दोष पालन होता है। अहिंसा की भावना उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होती है। अतः उक्त शीलव्रतों को स्वीकार कर आत्महित में लगना चाहिए।

- ***सातवाँ अध्याय*** -

इसमें चार शिक्षाव्रतों का वर्णन है। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। जो व्रतों की विशेष शुद्धि करे उसे शीलव्रत कहते हैं। स्वहित वाञ्छक को इन्हें अवश्य पालना चाहिए।

- ***आठवाँ अध्याय*** -

इसमें सल्लेखना का स्वरूप, विधि, समय का सुन्दर विवेचन है। व्रतों की रक्षा के लिए अतिचारों को दूर करना अनिवार्य है अतः अतिचारों का भी वर्णन किया है। कषायों को कृश करते हुए शरीर का परित्याग होना सल्लेखना है उसे समाधि मरण भी कहते हैं। मैं मरण समय में अवश्य समाधि सिद्ध करूँगा ऐसी भावना वाला श्रावक भी भावना रूप से तो इस व्रत को सदा पालता है और मरण समय में साक्षात् पालता ही

है। सल्लेखना से अहिंसामय निश्चय चारित्र की सिद्धि होती है।

आधि-व्याधि और उपाधि से रहित अवस्था विशेष-मरण विशेष का नाम समाधि है। मानसिक विकार को आधि कहते हैं, शारीरिक विकार को व्याधि और बुद्धि के विकार को उपाधि। समाधि - मन शरीर और बुद्धि के विकारों से परे है। बुद्धि विकार वासना को जन्म देता है जो समाधि को नष्ट करने में मुख्य कारण है। मनुष्य का जीवन दो धुरियों पर केन्द्रित हैं - एक वासनात्मक दूसरा साधनात्मक। वासना संसार को जन्म देती है, दुःख की वृद्धि करती है। साधना मुक्ति का सोपान है और समाधि का बीज। समाधि की सिद्धि हेतु में व्रतों में लगे अतिचारों को दूर करना भी अनिवार्य है। अतिचार सहित पाला गया व्रत समाधि की सिद्धि में बाधा पहुँचाता है अतः अतिचारों का वर्णन अगले अध्याय में करेंगें।

◆ ***नवाँ अध्याय*** -

पाँच अणुव्रत, चार शिक्षाव्रत और सल्लेखना के अतिचारों का वर्णन करते हुए इस अध्याय में आचार्य श्री ने इस बात का संकेत किया है अतिचार सहित व्रत संवर और निर्जरा के कारण नहीं होते हैं। जैसा कि कहा भी है -

व्रतानि पुण्याय भवन्ति लोके, न सातिचाराणि निषेवितानि।
न क्वापि शस्यानि फलन्ति लोके, मलोपलिप्तानि कदाचनापि॥

अर्थ - व्रत से पुण्य की वृद्धि होती है, आत्म विशुद्धि बढ़ती है पर अतिचार सहित पाला गया व्रत यथार्थ फल नहीं देता है जिस प्रकार मिट्टी सहित रोपे गये चावल के पौधे धान्य राशि को पैदा नहीं करते हैं। बीजारोपण के बाद जब चावल के पौधे लगभग एक बिलस्त के हो जाते हैं तब किसान उन्हें उखाड़ लेता है और उनकी जड़ को अच्छी तरह से धोता है तब पुनः गुच्छे बनाकर रोपता है। जड़ को धोये बिना यदि बोया जाय तो धानोत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार मल-अतिचार सहित व्रताचरण से पुण्य रूपी धान्य की उत्पत्ति नहीं होती है, आत्म विशुद्धि नहीं बढ़ती है, संवर और निर्जरा भी नहीं हो पाती है। अतः प्रत्येक व्रत के अतिचारों को भली-भाँति जानकर उन्हें दूर करना चाहिए। ऐसा इस अध्याय का सार जानकर आत्म हित में लगना चाहिए।

◆ *दसवाँ अध्याय -*

इस अध्याय में प्रतिमा का लक्षण प्रत्येक प्रतिमा का सविस्तार कथन है। व्रत की महिमा बताकर व्रत भंग का दुष्परिणाम दिखाकर भव्य जीवों को चारित्र शुद्धि के प्रति सतर्क, सावधान रहने का उपदेश दिया है।

व्रती श्रावक के जो ग्यारह दर्जे हैं उन्हें प्रतिमा कहते हैं। मूलगुण और उत्तर गुणों के समूह के अभ्यास से जो संयम के प्रति बढ़ता जाता है, महाव्रती का इच्छुक होता है ऐसा क्रमिक विकास पूर्वक साधक ११ प्रतिमा तक पहुँचता है। शीलवान् पवित्र आचरण वाला श्रावक भी इन्द्र आदि से आदरणीय और जगत के लिये उत्कृष्ट भूषण होता है। दूसरी ओर व्रत भंग भव-भव में दुःखदायी होता है।

व्रत भंग के फल के प्रति इस प्रकार का उल्लेख मिलता भी है-

गुरून् प्रतिभुवः कृत्वा भवत्येकं धृतं व्रतम्।
सहस्रकूट जैनेन्द्र सद्मभंगाद्य भागलम्॥

अर्थ - गुरू साक्षी में धारण किये गये व्रत को भंग करने से सहस्रकूट चैत्यालय को नष्ट करने प्रमाण पाप लगता है अतः आत्म हितैषी को निर्दोष व्रत पालन करना चाहिए। इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालते हुए इस अध्याय में श्रावक धर्म का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

पाठकगण यदि इस ग्रन्थ का रूचि पूर्वक अध्ययन करेंगे, वाचन के साथ पाचन भी करेंगे तो निःसन्देह अल्प भव में सांसारिक दुःखों से छूटकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे। प्रत्येक छन्द जीवन को सुसंस्कृत करने के लिए श्रेष्ठ सामग्री प्रदान करता है। उन गुरूदेव के प्रति हम कोटीशः नमस्कार करते हैं जिन्होंने भोले-भाले अज्ञानी जीवों के उपकारार्थ ऐसा सुगम श्रेष्ठ मनोज्ञ ग्रन्थ रचा है। कोटिशः नमन।

गुरवः पान्तु नो नित्यं ज्ञानदर्शन नायकाः।
चारित्रार्णव गम्भीराः मोक्षमार्गोपदेशकाः॥

आर्यिका १०५ विमलप्रभा

संघस्था - पूज्य प्रथम गणिनी आर्यिका विजयामति माताजी

सम्मति........

ज्ञान के बिना संसार में चारों तरफ अंधेरी ही अंधेरा है। कुछ भी नजर नहीं आता, वह गुरू के द्वारा प्राप्त होता है। कुछ नहीं तो थोड़ा-थोड़ा। इस उक्ति के अनुसार दिशावलोकन या सिंहावलोकन गुरू ज्ञान से होता है। उसमें गुरू बुद्धि विशेष की प्राप्ति हो जाए तो चराचर पदार्थों के अवलोकन में चार चांद लग जाते हैं और यथार्थता झलकने लगती है।

इस परंपरा के श्रोत परम पूज्य मुनि कुञ्जर समाधि सम्राट आचार्य शिरोमणी श्री आदिसागर जी महाराज अंकलीकर के ज्ञान को उन्हीं के पट्टाधीश आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज ने प्राप्त किया। आपने उस प्राप्त ज्ञान को प्रबोधाष्टक, जिन चतुर्विंशति स्तोत्र, शिव पथ (संस्कृत अनुवाद), धर्मानंद श्रावकाचार, वचनामृत (अंग्रेजी), प्रायश्चित्त विधान (संस्कृत पद्यानुवाद) इत्यादि रूप में गुंठित किया है।

ये कृतियाँ जनोपकारी के साथ परोपकारी और हितकारी भी है। अविरत सम्यग्दृष्टि के पश्चात् श्रावक धर्म का क्रम है। इसकी जानकारी होने पर समीचीन क्रियायें या आचरण संभव होता है अन्यथा आचरण होने पर संसार पद्धति या संसार भ्रमण प्राप्त हो जाता है। इससे बचाने के लिए संस्कृत भाषा में गुरूदेव के द्वारा लिपीबद्ध को हिंदी काव्य में लिखा है जिसको कम पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी पढ़ सकता है, समझ सकता है और अपनी आत्मा को दुर्गतियों में जाने से बचाकर सुगति स्वर्ग मोक्ष की आनंदानुभूति कर सकता है। प्रस्तुत कृति धर्मानंद श्रावकाचार का जैसा नाम है वैसा ही उसके परिक्षलन से कार्य संभव होगा। उन गुरूदेव की असीम अनुकंपा है जो कल्याणकारी ज्ञान कराने हेतु इसकी रचना करके उपकृत किया है। अतः उनकी अधिक से अधिक गुणानुवाद करके भव पद्धति को दूर कर जिन गुण संपत्ति को प्राप्त करें।

आर्यिका शीतलमति

सम्पादकीय........

प्रो. टीकमचंद जैन, प्रतिष्ठाचार्य

शाहदरा, दिल्ली

रत्नगर्भा इस भारत वसुन्धरा को चिरकाल से ऋषि-मुनियों ने अपने प्रवचनामृतों से अभिसिंचित किया है। भव्य जीवों के हितार्थ दिगम्बर जैनाचार्यों ने समय-समय पर अपनी दिव्य लेखनी से प्रसूत आगम ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाया है। इसी पुनीत श्रृंखला में परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर, समाधि-सम्राट आचार्य शिरोमणी १०८ श्री आदिसागरजी महाराज अंकलीकर के पट्टाधीश परम पूज्य तीर्थ भक्त शिरोमणी, उपसर्ग विजेता, बहुभाषाविद् आचार्य सम्राट १०८ श्री महावीरकीर्ति जी महाराज ने अपने गहन आगम ज्ञान को नवनीत रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ "धर्मानन्द श्रावकाचार" के रूप में प्रस्तुत किया है, ताकि सामान्य जन भी धर्म के मर्म को जानकर, श्रावकोचित क्रियाओं का अनुपालन कर मानव जीवन सार्थक कर सकें और इन्द्रिय विषयों पर नियन्त्रण कर धर्ममय जीवन का आनन्द ले सकें।

सरस पद्यों में रचित प्रस्तुत ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम अध्याय में मिथ्यात्व को छोड़कर रत्नत्रयाराधना की देशना दी गई है, दूसरे अध्याय में सम्यग्दर्शन के आठ अंग, पच्चीस दोष तथा आठ कर्मों का वर्णन है, तीसरे अध्याय में अहिंसा का विस्तृत वर्णन है, चौथे में गृहस्थ के आवश्यक कर्त्तव्य व मूलगुणों का वर्णन है, पाँचवें में पंचाणुव्रतों का विस्तृत वर्णन है, छट्ठे में तीन गुणव्रतों और सातवें में चार शिक्षाव्रतों का वर्णन है। आठवें में सल्लेखना और उसके फल तथा नवमें अध्याय में श्रावक के बारह व्रतों के अतिचारों का पूर्ण उल्लेख है और दसवें अध्याय में ग्यारह प्रतिमा के स्वरूप का सरस पद्यों में विवेचन है। पूरी विषय-वस्तु के शास्त्रीय संदर्भ भी ग्रन्थ में दिये गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया है, उन्हीं की सुयोग्य शिष्या प्रथम गणिनी ज्ञान चिन्तामणि जिन धर्म प्रभाविका परम पूज्या १०५ आर्यिका श्री विजयामति माताजी ने, ताकि पद्यार्थ भी स्पष्ट रूप से सभी जानकर धर्म लाभ ले सकें।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के प्रेरणा स्रोत हैं, परम पूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के पट्टाधीश भारत गौरव, सिद्धान्त चक्रवर्ती, तपस्वी सम्राट १०८ आचार्य श्री सन्मतिसागरजी महाराज। आप में परम पूज्य आचार्य श्री आदिसागरजी महाराज अंकलीकर की दृढ़ता, आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज का अनुपम ज्ञान व निर्भयता, परम पूज्य आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज की वात्सल्यता एकत्रित होकर मूर्तिमान रूप झलकती है।

इस विषय कलिकाल में जहाँ सत्साहित्य का अभाव सा हो रहा है। कथा साहित्य के रूप में दूषित मनोरंजक एवं विषय कषाय पोषक साहित्य का सृजन हो रहा है, ऐसे समय में महान आचार्यों द्वारा रचित साहित्य को जन-जन तक पहुँचाना अत्यन्त आवश्यक है। जिन महानुभाव ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपने द्रव्य का सदुपयोग किया, वे साधुवाद के पात्र हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वाध्याय कर, मनन कर तदनुरूप आचरण कर पाठक गण अपना दुर्लभ मानव जीवन सफल बनायें। इसी पुनीत भावना के साथ..आचार्य श्री के चरणों में बारम्बार नमन करता हूँ।

आचार्य महावीर कीर्ति प्रणीत

"धर्मानन्द श्रावकाचार"

विषय-सूची

• प्रथम अध्याय – पृ. क्र. ४५ से ७७

१. मंगलाचरण
२. ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा
३. सर्वमान्य धर्म
४. श्रावक धर्म स्वरूप
५. धर्मानन्द की महिमा
६. अहिंसा धर्म का प्रयोजन
७. रत्नत्रय
८. तीन दोष दुखदायी
९. इन दोषों को त्यागने की आवश्यकता
१०. मिथ्यात्व का लक्षण
११. मिथ्यात्व के भेद
१२. एकान्त मिथ्यात्व का लक्षण
१३. संशय मिथ्यात्व का लक्षण
१४. विनय मिथ्यात्व का लक्षण
१५. अज्ञान मिथ्यात्व का लक्षण
१६. विपरीत मिथ्यात्व का लक्षण
१७. अन्याय का लक्षण व भेद
१८. धर्म विरुद्ध आचार

१९. जाति विरुद्ध आचार

२०. नय (लोकनीति) विरुद्ध आचार

२१. स्वराज्य नीति विरुद्ध आचार

२२. अभक्ष्य का लक्षण

२३. अभक्ष्य निषेध

२४. सच्चे हिन्दु का कर्तव्य

२५. उत्तम सिद्धान्त पालने का उपदेश

२६. आश्रमों के नाम

२७. ब्रह्मचर्याश्रम का लक्षण व कर्तव्य

२८. प्रतिज्ञा ग्रहण

२९. प्रथमाध्याय का सारांश

- **द्वितीय अध्याय –** पृ. क्र. ७८ से ११२

१. धर्म का लक्षण

२. धर्म ग्रहण की योग्यता

३. रत्नत्रय धर्म के पात्र

४. इसका माहात्म्य

५. सम्यग्दर्शन का लक्षण

६. इसके दोष

७. सम्यग्दर्शन के अंग

८. प्रथम अंग का लक्षण

९. द्वितीय अंग का लक्षण

१०. तृतीय अंग का लक्षण

११. चतुर्थ अंग का लक्षण

१२. पंचम अंग का लक्षण

१३. षष्ठम अंग का लक्षण

१४. सप्तम अंग का लक्षण

१५. अष्टम अंग का लक्षण

१६. मूढ़ता का लक्षण व भेद

१७. परीक्षा का उपाय

१८. मदों के नाम

१९. सच्चे देव का लक्षण

२०. सात तत्त्वों के नाम

२१. अनायतनों का लक्षण

२२. दूषित देशादि का निषेध

२३. वीतराग धर्म का प्रमाण

२४. कर्म का लक्षण

२५. कर्म के भेद

२६. पहले कर्म का स्वभाव

२७. दूसरे कर्म का स्वभाव

२८. तीसरे कर्म का स्वभाव

२९. चौथे कर्म का स्वभाव

३०. पाँचवें कर्म का स्वभाव

३१. छठवें कर्म का स्वभाव

३२. सातवें कर्म का स्वभाव

३३. आठवें कर्म का स्वभाव

३४. सम्यग्ज्ञान का लक्षण

३५. सम्यक् चारित्र का लक्षण

३६. अहिंसा धर्म के प्रकाशक

३७. द्वितीयाध्याय का सारांश

• तृतीय अध्याय – पृ. क्र. ११३ से १४५

१. हिंसा और अहिंसा में अन्तर
२. कषाय का लक्षण
३. हिंसा का लक्षण
४. कषायों के नाम
५. स्पष्टीकरण
६. हिंसा का कारण
७. अन्वय व्यतिरेक का कथन
८. इसका दृष्टान्त
९. से १३. कार्य का दिग्दर्शन
१४. विपरीत हिंसा का फल
१५. इसका दृष्टान्त
१६. हिंसा अहिंसा नहीं
१७. बलि दान निषेध
१८. निमित्त हिंसा निषेध
१९. यज्ञार्थ हिंसा का निषेध
२०. स्थूल हिंसा निषेध
२१. हिंसक हिंसा का निषेध
२२. दुःखित हिंसा का निषेध
२३. सुखी जीवों की हिंसा का निषेध
२४. गुरू हिंसा निषेध
२५. आत्मघात निषेध

२६. सामान्य हिंसा निषेध
२७. हिंसा से जपादि व्यर्थ
२८. निष्पक्षता की आवश्यकता
२९. विशेष
३०. तृतीयाध्याय का सारांश

• चतुर्थ अध्याय – पृ. क्र. १४६ से १९९

१. सामान्य गृहस्थाश्रम कर्तव्य
२. गृहस्थ के दैनिक कर्म
३. देव पूजा
४. साधु सेवा
५. स्वाध्याय
६. संयमाचरण से लाभ
७. तपाचरण से लाभ
८. दान से लाभ
९. मूलगुण
१०. मद्यपान से हानि
११. मद्यपान में दोष
१२. मांस भक्षण में पाप
१३. मधु में हिंसा
१४. निशिभोजन में हिंसा
१५. निशिभोजन त्याग का फल
१६. उदम्बर फल में हिंसा
१७. उदम्बर फल के नाम
१८. दया का उपदेश

१९. दया में हिंसा निषेध
२०. हिंसादिक तत्त्व
२१. बिना छने पानी में हिंसा
२२. छने पानी से लाभ
२३. इसकी सम्मति
२४. यज्ञोपवीत ग्रहण की योग्यता
२५. सप्त व्यसन त्याग
२६. जुआं से हानि
२७. मांस सेवन से हानि
२८. शराब से हानि
२९. वेश्या के दोष
३०. शिकार में दोष
३१. चौर्य में दोष
३२. परस्त्री के दोष
३३. उच्च विचार
३४. पाक्षिका का कर्तव्य
३५. निर्दयी-अज्ञानी की क्रिया
३६. आवश्यक उपदेश
३७. चतुर्थ अध्याय का सारांश

• पंचम अध्याय – पृ. क्र. २०० से २३९

१. नैष्ठिक श्रावक का कर्तव्य
२. पहली प्रतिमा और पाक्षिक श्रावक में अन्तर
३. अणुव्रतों के नाम
४. प्रथम अणुव्रत का लक्षण

५. हिंसा की संभवता
६. अहिंसा का फल
७. सत्य का लक्षण
८. असत्य का लक्षण
९. वर्तमान असत्य
१०. अवर्तमान असत्य
११. विपरीत असत्य
१२. चतुर्थ असत्य के भेद
१३. निंदित असत्य
१४. सावद्य असत्य
१५. अप्रिय असत्य
१६. असत्य से हिंसा
१७. अचौर्य का लक्षण
१८. चौर्य में हिंसा
१९. ब्रह्मचर्य का लक्षण
२०. स्त्री शिक्षा
२१. इसका शब्दार्थ
२२. परस्त्री सेवन से हिंसा
२३. परिग्रह-परिमाण का लक्षण
२४. इसका अर्थ
२५. परिग्रह के भेद
२६. आभ्यन्तर परिग्रह के नाम
२७. बाह्य परिग्रह के नाम
२८. बाह्य परिग्रह के दोष

२९. परिग्रह से हिंसा

३०. परिग्रही का लक्षण

३१. अपरिग्रही की पहचान

३२. पंचमाध्याय का सारांश

• षष्ठम अध्याय – पृ. क्र. २४० से २५०

१. गुणव्रतों के नाम

२. दिग्व्रत का लक्षण

३. इसका फल

४. देशव्रत का लक्षण

५. इसका फल

६. अनर्थदण्ड त्याग का लक्षण

७. इसके भेद व नाम

८. पापोपदेश

९. आजीविका के नाम

१०. दुःश्रुति

११. हिंसा दान

१२. अपध्यान

१३. प्रमादचर्या

१४. इनका फल

१५. षष्ठाध्याय का सारांश

• सप्तम अध्याय – पृ. क्र. २५१ से २७३

१. शिक्षाव्रत का लक्षण

२. सामायिक का लक्षण

३. इसकी प्रतिमा

४. इसकी विधि

५. पुनः

६. आसन ध्यान

७. इसका फल

८. प्रोषधोपवास का लक्षण

९. आहार के नाम

१०. प्रोषधोपवास में कर्त्तव्य

११. इसका फल

१२. भोगोपभोग परिमाण का लक्षण

१३. इसका निर्णय

१४. इसका दृष्टान्त

१५. दैनिक नियम

१६. अन्य भी

१७. व्रत का लक्षण

१८. यम-नियम का स्वरूप

१९. इसका फल

२०. अतिथि-संविभाग का लक्षण

२१. इसके भेद

२२. उत्तम दान

२३. इसका फल

२४. विद्यादान का फल

२५. औषधिदान का फल

२६. अभयदान का फल

२७. कुदान निषेध

२८. नवधा भक्ति

२९. इसका फल

३०. कुपात्र व अपात्र का लक्षण

३१. इसका फल

३२. अतिथि-संविभाग का फल

३३. व्रतों का उपसंहार

३४. सप्तमाध्याय सारांश

• **अष्टम अध्याय –** पृ. क्र. २७४ से २८७

१. सल्लेखना का लक्षण

२. इसका समय

३. इसकी निरंतर भावना

४. पापों की आलोचना

५. सल्लेखना की विधि

६. इसके परिणाम

७. कलुषता का त्याग

८. कायकृष की विधि

९. मृत्यु का सत्कार

१०. और भी कहा है

११. शुद्ध ध्यान

१२. विशेष

१३. और भी कहा है

१४. इसका फल

१५. अष्टम अध्याय का सारांश

- **नवम अध्याय –** पृ. क्र. २८८ से ३११

१. व्रतों की रक्षा
२. अतिचार का लक्षण
३. सम्यग्दर्शन के अतिचार
४. अहिंसा अणुव्रत के अतिचार
५. सत्य के अतिचार
६. अचौर्य के अतिचार
७. ब्रह्मचर्य के अतिचार
८. परिग्रह परिमाण के अतिचार
९. दिग्व्रत के अतिचार
१०. देशव्रत के अतिचार
११. अनर्थदण्डव्रत के अतिचार
१२. सामायिक के अतिचार
१३. प्रोषधोपवास के अतिचार
१४. भोगोपभोग परिमाण के अतिचार
१५. अतिथि संविभाग के अतिचार
१६. सल्लेखना के अतिचार
१७. नवम अध्याय का सारांश

- **दशम अध्याय –** पृ. क्र. ३१२ से ३३२

१. प्रतिमा का लक्षण
२. दर्शन प्रतिमा का लक्षण
३. व्रत प्रतिमा का लक्षण
४. सामायिक प्रतिमा का लक्षण

५. प्रोषधोपवास प्रतिमा का लक्षण

६. सचित्त त्याग प्रतिमा का लक्षण

७. रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा

८. ब्रह्मचर्य प्रतिमा

९. आरंभ त्याग प्रतिमा

१०. परिग्रह त्याग प्रतिमा

११. अनुमति त्याग प्रतिमा

१२. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

१३. वानप्रस्थ का कर्त्तव्य

१४. क्षुल्लक का स्वरूप

१५. विशेष

१६. ऐलक का स्वरूप

१७. सन्यास का कर्त्तव्य

१८. व्रतभंग का दुष्परिणाम

१९. धर्मानन्द श्रावकाचार का फल

२०. ,, ,,

२१. ,, ,,

२२-२४. ग्रन्थ की आवश्यकता

२५. कृतिकार का परिचय

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री परम पूज्य आचार्य प्रवर महावीरकीर्ति प्रणीत

धर्मानन्द श्रावकाचार

❊ मंगलाचरण ❊

कर्मकाष्ट तप दाहि प्रभु, पाया पूरण ज्ञान।
कहा धर्मानन्द जिन, प्रणमूं वह भगवान ॥ १ ॥

अर्थ – श्री अरहंत भगवान ने तपश्चरण रूपी प्रबल अग्नि में अपने सर्वघाति चारों कर्मरूपी काष्ट (लकड़ियों) को निःशेष भस्म करके केवलज्ञान रूपी अखण्ड अविचल ज्ञान ज्योति प्रकट की। सर्वज्ञ बन ''धर्मानन्द-श्रावकाचार'' उपदिष्ट किया। उन अनन्तज्ञानधारी जिनेश्वर को नमस्कार कर मैं (आचार्य महावीरकीर्ति) उस सिन्धु से बिन्दु ग्रहण कर स्व शक्ति अनुसार लघुरूप में वर्णन करूँगा ॥ १ ॥

◆ **ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा** –

जग के सर्व ही धर्मों में, अहिंसा धर्म अनूप,
उसका मैं संक्षेप से लिखूँ जिनोक्त स्वरूप ॥ २ ॥

अर्थ - विश्व में अनेकों प्रकार के धर्म प्रचलित हैं। यद्यपि धर्म का

---

१. मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभू भृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुण लब्धये (सर्वार्थ सिद्धौ)

अर्थ *- जो मोक्षमार्ग के नेता है। कर्मरूपी पर्वतों के भेदने वाले हैं, विश्व = सम्पूर्ण तत्त्वों के ज्ञाता है, उनकी, उन समान गुणों की प्राप्ति के लिए मैं पूज्यपाद आचार्य द्रव्य और भाव उभय रूप से वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥*

स्वरूप तो श्री सर्वज्ञ प्रणीत एक रूप ही है। परन्तु कुछ सर्वज्ञ मन्यमाना जनों द्वारा विभिन्न प्रकार से कल्पित किये हैं। जो हो सभी धर्मों की आधार शिला अहिंसा धर्म को ही स्वीकार किया है। अतः "**अहिंसा परमो धर्मः**" सर्वत्र मान्य है। अतएव मैं इस ग्रन्थ में अहिंसाधर्म का ही स्वरूप निरूपण करूँगा। श्री जिनेन्द्र भगवान ने सामान्य विशेष रूप से जैसा वर्णन किया है तदनुसार ही यहाँ निरूपण करने जा रहा हूँ। गृहस्थाश्रम का धर्म इसी रूप है॥ २॥

- **सर्वमान्य धर्म–**

महापाप हिंसा तजो, यह दुःखों की खान।
सब धर्मों का सार यह, श्रावक बनो सुजान॥ ३॥

अर्थ – संसार के अनेकों दुःख हैं – मानसिक, शारीरिक, भौतिक आदि। जीव निरंतर नाना यातनाओं का शिकार बनता रहता है। विचार करें आखिर इन कष्टों का कारण है क्या ? सभी दुःखों की जननी हिंसा है। यह महापाप अधर्म है। अतएव हिंसा के त्याग से ही धर्म होता है। सभी धर्मों का सारभूत दया धर्म है जो गृहस्थ इसका पालन करता है वही श्रावक कहलाता है। उसका धर्म श्रावक धर्म है॥ ३॥

- **श्रावक धर्म स्वरूप–**

देवशास्त्र गुरु भक्ति युत, पूजा दान महान्।
आठों मद का त्यागना, श्रावक धर्म कहाय॥ ४॥

अर्थ – प्रतिदिन जो भव्यात्मा, देव, शास्त्र और गुरूओं की भक्ति, पूजा करता है, सुपात्रों को चार प्रकार का दान देता है, सम्यग्दर्शन के घातक आठ

---

३. अहिंसा परमोधर्म यतोधर्म स्ततो जयः। (जैन शास्त्र)

अर्थ – अहिंसा परम धर्म है, जहाँ धर्म है वहाँ स्वयमेव विजय मिलती है॥ ३॥

प्रकार के मदों का त्याग करता है वही श्रावक कहलाता है। तथा उपर्युक्त कर्त्तव्यों का पालन करना ही श्रावक धर्म है। सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी देव कहलाता है। सर्वज्ञ प्रणीत आगम शास्त्र व जिनवाणी है, निर्ग्रन्थ दिगम्बर, वीतरागी साधु गुरू होते हैं। निष्कपट भाव से श्रद्धापूर्वक इनकी आराधना करना तथा जाति, कुल, ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, विद्या आदि आठ मदों का त्याग करना श्रावक धर्म है। जो निर्मल भावों से इसका पालन करता है वही धर्मानन्द पाता है ॥ ४ ॥

---

४. (क) मूल धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम संपदां।
गुणाना निधि रित्यङ्गिदयाकार्या विवेकिभिः ॥ (प. पंच विं.)

अर्थ – अहिंसा धर्म रूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतों में सबसे पहला व्रत है, सभी सम्पत्तियों का धाम-आयतन है, आत्मिक गुणों का पिटारा-खजाना है अतः विवेकी जनों को अहिंसा की रक्षा के लिए सभी जीवों पर दया करनी चाहिए, कोमल परिणाम बनाये रखना चाहिए।

(ख) अहिंसा सर्वश्रेष्ठ धर्म है ऐसा अथर्ववेद से भी ज्ञात होता है -

"ये त्रिषप्ताः परियंति, विश्वरूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पति बला तेषां तन्वो अद्य ददातु मे ॥ (अथर्ववेद ऋचा प्रथम)

अन्वयार्थ – (ये) जो विष्णु परम पद को प्राप्त परमात्मा है वह (त्रिषप्ताः) त्रिषु जलस्थलान्तरिक्षेषु सम्बद्धाः- जल, स्थल और आकाश से संबद्ध जो जलचर जीव, थलचर जीव और नभचर जीव हैं तद्रूप (विश्व रूपाणि बिभ्रतः) विविध, अनेकानेक प्रकार के रूप को धारण करता हुआ (तेषां तनवः) उन-उन पर्यायगत शरीर वाला (बला) बलवान् श्रेष्ठ (वाचस्पति) वेदवाण्याः पालको विद्वान् = वेद की वाणी के रहस्य को समझने वाला उनका पालन करने वाला वाचस्पति है। ये सब विशेषण परमात्मा विष्णु के लिए प्रयुक्त हैं वे विष्णु भगवान् (अद्य मे न हिनस्तु) आज - वर्तमान में मुझे न मारें (किन्तु मां प्रीणयंतु पुष्णातु) अपितु हमारा पालन कर मुझे प्रसन्न करें, सुखी करें।...

- **धर्मानन्द की महिमा–**

धर्मानन्द सब गुण निधि, वित्तादिक सुखधाम।
धर्ममूल व्रत शील को, धारों आठों याम ॥ ५ ॥

अर्थ – धर्म आनन्द का खजाना है। गुण निधियों का सागर है, लौकिक सुख-सम्पदाओं का दाता है। अतएव धर्म की मूल व्रत, शील संयम है। इसलिए सुख शान्ति के इच्छुक इस परम पावन धर्म का अहर्निश सेवन करो-पालो ॥ ५ ॥

...भावार्थ – जल, स्थल और आकाश में जहाँ जो भी जीव हैं, जलचर हों, थलचर हों या नभचर उनका वह शरीर एकमात्र ब्रह्म की ही पर्याय है। वाचस्पति आदि श्रेष्ठ नामधारी वह ब्रह्मा या विष्णु बलवान है, श्रेष्ठ है, दयालु है, हम सब चूँकि उसी ब्रह्मा के अंश हैं अतः आशीर्वचनात्मक अलंकार में स्तुति करते हुए वेद के रचयिता ऋषि यहाँ कहते हैं कि वे विष्णु हमें न मारें, हमारा रक्षण करें हमें सुख शान्ति प्रदान करें।

उक्त सूक्ति रचना की संस्कृत टीका–

महाकारूण्यको जगदीश्वरो जीवं बोधयति-सर्वैश्वर्यैककारणीभूतायै मत्प्रीतये विद्वद्भिः सर्व जन्तवः सदारक्षणीयाः, न च तेषु केचन हिंसनीयाः। ऋषयो ब्राह्मण देवाः प्रशंसन्ति महामते। अहिंसा लक्षणं धर्मं वेद प्रामाण्यदर्शनात्।

(महाभारत अनुशासन / ५)

इस संस्कृत टीका का अर्थ –

महा करूणावान् जगदीश्वर विष्णु देव जीवों को प्रबोधित करते हुए कहते हैं - सम्पूर्ण चराचर जगत् का ऐश्वर्य जिसमें केन्द्रित है ऐसे मुझमें प्रीति रखते हुए विद्वान् पुरूषों को भगवत् प्रीति के वश सभी प्राणियों की रक्षा करनी चाहिए, उनमें छोटे-बड़े किसी भी जीव का घात नहीं करना चाहिए। मूल सूक्ति में वर्णित जो ऋषि शब्द है उसका अर्थ है ब्राह्मण देवता। परम ज्ञानी ब्राह्मण देव उक्त प्रकार अहिंसा का वर्णन करने वाले हैं। प्रस्तुत विषय इस बात को स्पष्ट करता है कि अहिंसा लक्षण वाला धर्म मात्र जिनेन्द्र प्रणीत ही नहीं, वेदप्रमाण से भी सिद्ध है ॥ ४ ॥

* **अहिंसा धर्म का प्रयोजन–**

आत्म शुद्धि की प्राप्ति का, अहिंसा उत्तम द्वार।
जो चालै इस मार्ग पर, पावै सुक्ख अपार ॥ ६ ॥

अर्थ - अनादि काल से आत्मा के साथ अष्ट कर्म मल लगा है। इस मलिनता की शुद्धि का उपाय अहिंसा धर्म ही है। मल का उच्छेदन ही सुख है। इसलिए जो सुखसागर में अवगाहन करना चाहते हैं उन्हें इस अहिंसापथ का राही बनना चाहिए ॥ ६ ॥

---

६. तत्राऽहिंसा सर्वदा सर्वथा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनमिदम् परोपकारः पुण्याय, पापाय पर पीडनम्।

अर्थ *- सर्वदा - हर समय, हर क्षण, सर्वथा - हर प्रकार से अनुकूल प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में सभी जीवों पर द्रोह का न होना - उनके रक्षण का भाव होना, वात्सल्य भाव का होना पूर्वोक्त अहिंसा का स्वरूप है। १८ प्रकार के पुराणों में - वेद के रचयिता व्यास का यह वचन है - परोपकार पुण्यार्जन के लिये और पर पीड़ा पापार्जन के लिए कारण है अतः परोपकार वृत्ति को अपनाकर अहिंसाधर्म को विस्तरित करना चाहिए, अहिंसा लक्षण धर्म को अपने जीवन में वही साकार कर सकता है जो परोपकारी है पर पीड़ा आदि हिंसा से सदा दूर रहता है।*

स्वयंभू स्तोत्र में नमिनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए श्री समन्त-भद्राचार्य लिखते हैं -

अहिंसाभूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सातत्रा रम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ॥ ४ ॥

अर्थ *- हे भगवान् प्राणियों की अहिंसा जगत् में परम ब्रह्म रूप से प्रसिद्ध है अर्थात् अहिंसा ही परम ब्रह्म है। यह अहिंसा उस आश्रम विधि में नहीं है जिसमें कि थोड़ा भी आरम्भ होता है। इत्यादि।*

अन्ततः - परस्परं विवदमानानां धर्मशास्त्राणां अहिंसा परमोधर्मः इत्यत्रैकमतम्। किन्हीं-किन्हीं कारणों से परस्पर विवाद को प्राप्त हुए जो धर्म शास्त्र हैं उनमें अहिंसा...

* **रत्नत्रय–**

अहिंसापोषक रत्नत्रय, सम्यग्दर्शन ज्ञान।

सच्चारित्रमिलि धर्मानन्द, आत्म सुक्ख निधान ॥ ७ ॥

अर्थ - अहिंसा परम धर्म की पुष्टि करने वाला रत्नत्रय है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का एकीकरण ही रत्नत्रय है। प्रत्येक भव्य को प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। इसके प्राप्त होते ही ज्ञानावरणी कर्म का विशेष क्षयोपशम हो जाता है और ज्ञान गुण सम्यक् व्यपदेश प्राप्त कर लेता है। दर्शन और ज्ञान सम्यक् होते ही स्वभाव से ही विषय-कषायों से विरक्ति हो ही जाती है। यह शुभाचार ही सम्यक्चारित्र कहा जाता है। ये तीन रत्न सुखदाता हैं ॥ ७ ॥

...के प्रति कोई विवाद नहीं। सभी धर्म शास्त्र अहिंसा को परम धर्म मानते हैं। इस पक्ष में सभी एकमत हैं।

जो मोक्षमार्गी हैं वही अहिंसा धर्म का पालन कर सकता है अतः मोक्षमार्ग क्या है ? इसे भी जानना अनिवार्य है और मोक्षमार्ग में बाधक कौन हैं उसे भी समझना ही चाहिए अस्तु उक्त विषय का उल्लेख आगे करते हैं।

७. सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥

– तत्त्वार्थ सूत्र प्रथम अध्याय प्र. सूत्र।

अर्थ – सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है।

१. सम्यग्दर्शन – तत्त्वार्थ का सम्यक् प्रकार श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है।

२. सम्यक्ज्ञान – जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं उस-उस प्रकार से उनका जानना सम्यक्ज्ञान है। ज्ञान के पहले सम्यक् विशेषण संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय (विमोह) इन दोषों का निराकरण करता है।

३. सम्यक् चारित्र – ज्ञानावरणादि कर्मों के ग्रहण करने में निमित्त भूत क्रिया से ..

• तीन दोष दुःखदायी–

धर्मानन्द दूषक दोष त्रय, मिथ्यात्व, अन्याय अभक्ष।
इनके सबही भेद को, तज बुध निजगुण रक्ष ॥ ८ ॥

अर्थ – आचार्य, भव्य जीवों को सम्बोधन देते हुए कहते हैं कि आपके धर्मानन्द को मलिन करने वाले तीन दोष अति प्रबल हैं। प्रथम मिथ्यात्व है इसके उदय रहने पर दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मीय गुण विपरीत परिणमन करा जीव को अनन्त दुःखसागर में पटक देते हैं। इसका अहंकारी मंत्री अन्याय कुमार्ग पर ले जाकर विषयाटवी में जा उलझा देता है। फिर क्या ? दुराचार विवेक का हरण कर आसानी से भक्ष्याभक्ष्य विचार शून्य कर देता है। इस प्रकार चारों और अनेकों विपत्तियों-नरक-निगोद का पात्र बन जाता है। सुखेच्छुओं को इन दस्युओं से अपना रक्षण करना चाहिए। अर्थात् इनका त्याग करें। तभी व्यसनों से मुक्ति मिल सकेगी और सुख की प्राप्ति होगी ॥ ८ ॥

• उपर्युक्त दोषों के त्याग की आवश्यकता–

जिमि बिन शोधित भूमि में उगत सुबीज न कोय।
मिथ्यात्वादि त्याग बिन, आतम शुद्ध न होय ॥ ९ ॥

...उपरम-विरक्त होने को सम्यक् चारित्र कहते हैं। तीनों के एकीकरण से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसा उक्त सूत्र में बताया गया है। जो भव्य है वही मोक्षमार्ग को ग्रहण कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है इत्यादि विषय उक्त सूत्र में युक्ति और आगम पूर्वक प्रस्तुत किया है।

"युक्ति आगमानुसारिणी" – आगम का अनुकरण करने वाली तर्कणा को युक्ति कहते हैं।

***आगम** – आचार्य परम्परा से आगत मूल सिद्धान्त को आगम कहते हैं। वीतरागी सर्वज्ञ की वाणी जो पूर्वापर विरोध रहित है, शुद्ध है उसे आगम कहते हैं ॥ ७ ॥*

अर्थ – किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए द्रव्य, क्षेत्र, कालादि अनुकूल होना परमावश्यक है। जिस प्रकार बिना विचारे कालादि की अनुकूलता नहीं विचार कर यदि कंकरीली, पथरीली, कंटीली ऊसर भूमि में सुन्दर, पौष्टिक और योग्य भी बीज बोने पर वह वपित नहीं होता अपितु अपनी शक्ति, योग्यता को भी खो बैठता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान, प्रमाद आदि से ग्रस्त मानव हृदय में आत्मशुद्धि का बीज स्वरूप सम्यग्दर्शनादि उत्पन्न नहीं होते। अतः अनादि मिथ्या, मोह-राग-द्वेषादि कषाय, विषयाभिलाषा, आशा, तृष्णा, लोभादि का त्याग आवश्यक है। क्या वस्त्र को धोये बिना टीनोपॉल चमक ला सकता है ? नहीं, प्रथम उसे सर्फ, साबुन, जलादि से प्रक्षालित करना होता है, तब वह टीनोपॉल में डुबकी लगा चमक पाता है।

इसी प्रकार गुरूओं के सदुपदेश, जिनवाणी के अध्ययनादि साधनों से विषय-वासनादि मलिन भावों का परिहार होने पर आत्मीय, दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि का प्रकटीकरण होता है। अस्तु, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम रूपी कंकड़ों को निकालने पर ही मुक्ति रूपी बीजारोपण सफल होता है॥ ९॥

• मिथ्यात्व का लक्षण–

सप्त तत्त्व षड्द्रव्य का जो उलटा श्रद्धान।
जिस वश पर को निज गिने, सो मिथ्यात्व पहिचान॥ १०॥

अर्थ – यहाँ आचार्य श्री आत्मा के सर्वशक्तिमान शत्रु मिथ्यात्व का स्वरूप बतलाते हैं। जिनागम में तीर्थंकर (सर्वज्ञ) प्रणीत, जीव-अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व और जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य निरूपित हैं। इनका जैसा स्वरूप है उसे यथातथ्य न समझकर या श्रद्धान नहीं कर विपरीत समझना या श्रद्धान करना मिथ्यात्व है। सत्य ही है शराबादि पीकर या धतूरादि खाकर नशे में विवेक शून्य हो जाता है, वह शुक्ल को लाल, पीला, माता बहिन को विपरीत मानने

लगता है, योग्य वस्तु को अयोग्य कहता है और अयोग्य को योग्य समझ कर सेवन करता है। मोह मिथ्यात्व भी भयंकर नशा उत्पादक है जिसका सेवन करने से मनुष्य पागल, उन्मत्त हो जाता है और अनन्त संसार वर्द्धक जिनधर्म, जिनागम, जिनप्रणीत तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान कर लेता है। निज स्वरूप को विस्मृत कर पर रूप चेतन, अचेतन, मिश्र पदार्थों को अपना मान लेता है। इसी विपरीत परिणति का नाम मिथ्यात्व है। शरीरादि जड़ पदार्थों में स्वस्वरूप कल्पना करना ही मिथ्यात्व है ॥ १० ॥

• मिथ्यात्व के भेद–

पाँच भेद मिथ्यात्व के, प्रथम एकान्त बखान।
संशय, विनय, अज्ञान पुनि पंचम विपरीत जान ॥ ११ ॥

अर्थ – मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं - १. एकान्त, २. संशय, ३. विनय, ४. अज्ञान, ५. विपरीत। अर्थात् इन पाँच प्रकार की मान्यताओं से तत्त्वादि श्रद्धान में विपरीतता उत्पन्न होती है यथा अनेकान्त धर्मात्मक वस्तु तत्त्व को एक तत्त्व को लेकर तद्रूप ही कहना जैसे पर्याय दृष्टि से क्षणिक पदार्थ स्वभाव को लेकर वस्तु क्षणिक ही है मानना आदि ॥ ११ ॥

---

१०. मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं।
एयंतं विपरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥

अर्थ – दर्शनमोहनीय का भेद मिथ्यात्व है उसके उदय से होने वाला अश्रद्धान या विपरीत श्रद्धान मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व चार प्रकार से परिणमित होता है अतः उसके चार भेद हैं - १. एकान्त, २. विपरीत, ३. विनय, ४. संशय।

संस्कृत टीका में भी यही चार नाम मिलते हैं।

११. ऐकांतिकं सांसयिकं विपरीतं तथैव च। आज्ञानिकं च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत्।

प्रत्येक का लक्षण आगे बताते हैं –

* **एकान्त मिथ्यात्व का लक्षण–**

अनापेक्ष प्रतिपक्ष जहँ, ही समेत अभिप्राय।
यथा सर्वथा नित्य जग, यह एकान्त कहाय ॥ १२ ॥

अर्थ – इस पद्य में एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप बतलाया है। जिनमत में प्रत्येक पदार्थ या वस्तु तत्त्व को विविधनयों की कसौटी पर कसकर नित्यानित्यात्मक सिद्ध किया है, जैसा कि वस्तु का स्वभाव ही है। सभी नय सापेक्ष रहकर तत्त्व सिद्धि में समर्थ होते हैं। इस सापेक्ष दृष्टि से एक ही तत्त्व नित्य भी है और अनित्य भी। पर ऐसा न मानकर एकान्त से निरपेक्ष दृष्टि से उसे ही नित्य ही है ऐसा कहना (सांख्यमत से) अथवा सर्वथा अनित्य ही है (सौगत मत) कहना एकान्त मिथ्यात्व है॥ १२ ॥

---

१२. सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक ग्रन्थ के अनुसार-

इदमेवेत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः - ''पुरूष एवेदं सर्वम्'' इति नित्यएव वा अनित्य एवेति।

अर्थ - *यही है, इसी प्रकार है, धर्म और धर्मी में एकत्व रूप अभिप्राय का एकान्त रूप से होना एकान्त मिथ्यात्व कहलाता है। एकान्त मिथ्यादृष्टि वस्तु को एक धर्मात्मक मानते हैं। जैसे - १. नित्य ही है, २. अनित्य ही है, ३. सत ही है, ४. असत् ही है, ५. एक ही है, ६. अनेक ही है आदि। जो ३६३ पाखण्ड हैं वे एकान्त मिथ्यात्व के ही उदाहरण हैं।*

संस्कृत टीका में भी इसी प्रकार के उदाहरण मिलते हैं -

''तत्र जीवादिवस्तु सर्वथा सदेव, सर्वथा असदेव, एकमेव, सर्वथानेकमेव इत्यादि।''

एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप इन उदाहरणों से इस प्रकार निर्णीत होता है -

''प्रतिपक्षनिरपेक्षैकांताभिप्रायः एकान्तमिथ्यात्वं।

अपने प्रतिपक्षी धर्म का सर्वथा निराकरण कर निरपेक्ष एक धर्म को स्वीकार करने वाला सिद्धान्त एकान्त मिथ्यात्व है॥ १२ ॥

• **संशय मिथ्यात्व का लक्षण–**

आगम युक्ति प्रमाण भी, मिलते जो शक होय।
अहिंसा वा हिंसा धरम, जिमि करे संशय सोय॥ १३॥

अर्थ – यहाँ संशय मिथ्यात्व का स्वरूप वर्णन करते हैं। जो व्यक्ति-मानव आगम में उल्लेख पढ़कर, युक्ति और प्रमाण द्वारा सिद्ध धर्म स्वरूप में शंकाशील होता है उसका यह भाव परिणाम ही संशय मिथ्यात्व है। यथा सर्व ज्ञात प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि पर पीड़ा-हिंसा दुःख की कारण है और दया परिणति अहिंसाधर्म है, सुखदाता है।

इस प्रत्यक्ष सिद्ध, आगम युक्ति सिद्ध विषय में भी स्थिर बुद्धि नहीं हो यह सोचना कि अहिंसा धर्म है या हिंसा धर्म है ऐसी प्रतीति होना संशय मिथ्यात्व है॥ १३॥

---

१३. संशय मिथ्यात्व – किं वा भवेन्न वा जैनो, धर्मोऽहिंसादि लक्षणं। इति यत्र मतिद्वैधं भवेत् – सांशयिकं हि तत् –

अर्थ – जैन सिद्धान्त में वर्णित अहिंसा लक्षण वाला धर्म, वास्तव में धर्म है या नहीं है इस तरह सपक्ष-विपक्ष दोनों तरफ बुद्धि का दोलायमान होना संशय मिथ्यात्व है। जैसा कि सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में भी कहा है-

"सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं या नहीं। इस प्रकार किसी एक पक्ष को स्वीकार न करना संशय मिथ्यादर्शन है।

न्यायदीपिका ग्रन्थ के अनुसार – "विरूद्ध अनेक कोटि स्पर्शीज्ञानं संशयः" *विरूद्ध अनके कोटि का अवगाहन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं – जैसे यह स्थाणु है या पुरूष।*

इसको संशय मिथ्यात्व क्यों कहा ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं –

प्रत्यक्षादिप्रमाणागृहीतार्थस्य देशान्तरे कालान्तरे च व्यभिचारसंभवात्, परस्य विरोधिन आप्त वचनस्यापि प्रामाण्यमुपपत्तेरिदमेव-तत्त्वमिति निर्णयितुम्..

• **विनय मिथ्यात्व का लक्षण–**

सबही मत हैं एक से, देव शास्त्र गुरु धर्म।
जाँच बिना मूरख करें, तदपि विनय के कर्म ॥ १४ ॥

..अशक्तेः सर्वत्र संशय एवेत्यभिप्रायः संशयमिथ्यात्वं।

जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अगृहीत अर्थ का ग्राही है, देशान्तर और कालान्तर में जो व्यभिचरित होता है ऐसे एकान्तवाद का विरोधी अनेकान्त सिद्धान्त मय आप्त का वचन ही प्रामाणिक है क्योंकि तत्त्व यही है ऐसा ही है इस प्रकार का समीचीन निर्णय जिनवचन से ही संभवित है.

एकान्तवादी की उक्तियाँ निर्णयात्मक नहीं होने से, निर्णय को प्राप्त करने में असमर्थ होने से मिथ्या हैं उन्हीं में एक भेद संशय मिथ्यात्व है। यह संशय को उत्पन्न करता है किसी भी एक निर्णय तक नहीं पहुँचने देता है इसलिये इसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं। आगे वैनयिक मिथ्यात्व का स्वरूप बताते हैं ॥ १३ ॥

१४. सर्वेषामपि देवानां समयानां तथैव च, यत्र स्यात् समदर्शित्वं, ज्ञेयं वैनयिकं हि।

अर्थ *– सभी देवताओं को चाहे सरागी हों या वीतरागी हों सब समान रूप से विनय के पात्र हैं, सभी प्रकार के शास्त्र, वे आप्त वचन हों या अनाप्त वचन समान रूप से पूजनीय हैं, इस प्रकार गुणों और अवगुणों को महत्त्व दिये बिना मात्र विनय करना ही जो धर्म मानता है उसे विनय मिथ्यात्व कहते हैं।*

भावार्थ *– वैनयिक मिथ्यादृष्टि अविवेकी तापस होते हैं। इनका कहना है कि पापी हो या पुण्यात्मा, गुणी हो या मूर्ख सबकी समान रूप से विनय करो। यह मिथ्या मान्यता मोक्षमार्ग में बाधक है इसलिये हेय है, त्याज्य है, मिथ्यात्व का प्रतीक है।*

और भी – *"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपतया निर्ग्रन्थवेशविनापि विनयेनैवमुक्तिः भवति इति श्रद्धानं वैनयिकमिथ्यात्वं।*

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के धारी निर्ग्रन्थ मुनि हुए बिना भी मात्र विनय से मोक्ष हो जाता है, इस प्रकार की मान्यता ही वैनयिक मिथ्यात्व है ॥ १४ ॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि भारत में सांख्य, योग, सुगत, नैयायिक, जैन आदि अनेक प्रकार के दर्शन, मत-मतान्तर प्रचलित हैं। सभी अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार तत्त्व स्वरूप कथन करते हैं। धर्म का रूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करते हैं। एक मात्र जैन दर्शन ही सर्वज्ञ प्रणीत होने से उनका आगम, वाणी पूर्वापर विरोध रहित हैं। आगम युक्ति प्रमाण से परीक्षा नहीं कर अज्ञानी मूढ़ जन सभी को समान मानकर एक ही प्रकार से मान-सम्मान, आदर-सत्कार करना विनय मिथ्यात्व है और वे जन विनय मिथ्यात्वी हैं॥ १४ ॥

◆ अज्ञान मिथ्यात्व का लक्षण—

स्व-पर हिताहित की जहाँ, नहिं होय पहिचान।
यज्ञ में पशुवध धर्म जिमि, मति अज्ञान महान॥ १५ ॥

अर्थ - मोह तिमिर से आच्छन्न बुद्धि जन अपने हित और अहित के विचार से शून्य हो जाते हैं। धर्म में अधर्म और अधर्म में धर्म मानकर हिंसादि कर्मकर धर्म मानते हैं। पशुवत् विवेक हीन होते हैं। यज्ञ में अश्व, अज, मनुष्यादि का हवन करना और उनका स्वर्ग में गमन कथन करना अज्ञान है। इस प्रकार की श्रद्धा अज्ञान मिथ्यात्व है। इसका फल घोर यातनाओं से भरित नरक में ही गमन करना है जैसा कि राजा वसु और पर्वत का नरक गमन हुआ। इससे रक्षा करना चाहिए॥ १५ ॥

---

१५. अब अज्ञान से मोक्ष होता है ऐसी मान्यता वाले अज्ञान मिथ्यात्व का स्वरूप बताते हैं -

हिताहित विवेकस्य यत्र अत्यन्तमदर्शनम्। यथा पशुवधो धर्मस्तदज्ञानिकमुच्यते।

अर्थ - जिस मत में हित और अहित का बिल्कुल ही विवेचन नहीं है। पशुवध धर्म है इस प्रकार अहित में प्रवृत्ति कराने का जो उपदेश है वह अज्ञान मिथ्यात्व कहलाता है।...

...**विशेष** – भगवान् महावीर के तीर्थ में पार्श्वनाथ तीर्थंकर के संघ के किसी गणी का शिष्य मस्करी पूरन नाम का साधु था उसने लोक में अज्ञान मिथ्यात्व का उपदेश दिया। ऐसा जीवकाण्ड प्रबोधिनी टीका में कथन मिलता है।

बादरायण, वसु, जैमिनी आदि इसके अनुयायी हैं। **प्रश्न** – बादरायण, वसु, जैमिनी आदि तो वेद विहित क्रियाओं का अनुष्ठान करते हैं. वे अज्ञानी कैसे हो सकते हैं ? राजवार्तिक में आचार्य ने इसका समाधान इस प्रकार किया है-

उत्तर - इनने प्राणी वध को धर्म माना है, परन्तु प्राणी वध तो पाप का ही साधन हो सकता है, धर्म का नहीं। इनकी यह मान्यता अज्ञानमय है इसलिये इन्हें अज्ञान मिथ्यात्वी कहा है।

और भी- **ज्ञानदर्शनावरणतीव्रोदयाक्रान्तानां एकेन्द्रियजीवानां** -

ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के तीव्र उदय से आक्रान्त एकेन्द्रिय आदि जीवों के हिताहित का विवेक न होने से उनके भी अज्ञान मिथ्यात्व की मौजूदगी है।

और भी – अनेकान्तात्मकं वस्तु इति वस्तु सामान्ये, उपयोगलक्षणो जीव इति वस्तु विशेषेऽपि तत् प्रति अज्ञानजनितं श्रद्धानं अज्ञानं। जीवाद्यर्थानामिदमेव ईदृशमेव तत्त्वमिति आप्तवचनबोधाभावात् अज्ञानमेवेति श्रद्धानं अज्ञानमिथ्यात्वं।

भावार्थ – वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य से प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होते हुए भी विशेष दृष्टि से अपने-२ लक्षणों से युक्त हैं जैसे जीव का लक्षण उपयोग है। वीतरागी जिनेन्द्र देव के अनेकान्त सिद्धान्त से अनभिज्ञ व्यक्ति वस्तु यही है ऐसा ही है इस प्रकार निर्णय नहीं कर पाता अतः अज्ञानी है और उसका वह अज्ञान भी मिथ्यात्व से युक्त होने से अज्ञान कहलाता है।

जैसा कि धवला पुस्तक एक में बताया है –

न्यूनता आदि दोषों से युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न हुए तत्संबंधी बोध को अज्ञान कहते हैं। नयचक्र के अनुसार - संशय, विमोह, विभ्रम से युक्त ज्ञान अज्ञान कहलाता है अथवा कुशास्त्रों का अध्ययन पाप का कारण होने से वह भी अज्ञान है॥ १५॥

* **विपरीत मिथ्यात्व का लक्षण–**

> **युक्त्यागम से विरुद्ध को, उचित नहीं जहाँ जाँच।**
>
> **जिमि परिग्रही को ऋषि कथन, है विपरीत विचार ।। १६ ।।**

अर्थ - आगम में साधु का लक्षण करते हुए बताया है कि जो आरम्भ, परिग्रह का सर्वथा त्यागी है तथा ज्ञान, ध्यान व तप में सतत् प्रयत्नशील रहता है। विषय-कषायों से विरक्त रहता है। आत्म-स्वरूप चिन्तन करता है। परन्तु इन गुणों से सर्वथा हीन-रहित हैं, आरम्भ-परिग्रह में प्रवर्त रहे हैं, विषय-कषायों के ही पोषण में लगे हैं, जिसमें साधुत्व-ऋषित्व की गन्ध भी नहीं है उन्हें ऋषि कहना, मानना विपरीत मिथ्यात्व है। निश्चय ही यह संसार का ही कारण है ।। १६ ।।

---

१६. अब विपरीत मिथ्यात्व का लक्षण कहते हैं -

सग्रन्थो निर्ग्रन्थः केवली कवलाहारी स्त्री सिद्धयति इति एवमादिविपर्ययः एवं विधारूचिः यत्र तत् विपरीतमिथ्यात्वं।

अर्थ - *सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, केवली को कवालाहारी मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना विपरीत मिथ्यात्व है। उदाहरण और भी -*

अहिंसादि लक्षण सद्धर्मफलस्य स्वर्गादिसुखस्य - हिंसादिरूपादियागादि-फलत्वेन - *अहिंसादि लक्षण वाले धर्म से स्वर्ग मोक्ष सुख मिलता है पर ऐसा न मानकर हिंसादि रूप-बलि कार्य को यागादि को स्वर्ग मोक्ष का कारण मानना - यह विपरीत मिथ्यात्व है। और भी -*

प्रमाणसिद्धस्य जीवस्य मोक्षस्य निराकरणत्वेन प्रमाणबाधित स्त्रीमोक्षास्तित्ववचनेन इत्यादि अनेकान्तावलम्बने विपरीताभिनिवेशे विपरीतमिथ्यात्वम्।

प्रमाणभूत - *जिनागम में प्ररूपित मोक्ष के निराकरण पूर्वक प्रमाण बाधित स्त्री मोक्ष के अस्तित्व को मानना-विपरीताभिनिवेश लक्षण वाला विपरीत मिथ्यात्व है।*

• अन्याय का लक्षण–

धर्म जाति न्याय राज्य के, जे विरुद्ध आचार।
ये सब अन्याय त्याज्य हैं, हे बुध धर्माधार ॥ १७ ॥

अर्थ – धर्म, जाति, न्याय और राज्य क्या है ? इनका लक्षण व स्वरूप क्या है ? यह अवगत करना प्रथम आवश्यक है। क्योंकि "बिना दोष गुण की परख बिना शुभाशुभ में प्रवृत्ति व निवृत्ति नहीं हो सकती है।" जैनागम धर्म को दो भागों में विभाजित किया है। यद्यपि धर्म तो एक अखण्ड अविचल है किन्तु मानव जीवन की चाह या योग्यता की अपेक्षा भेद किया है।

वे हैं - १. श्रावक धर्म और २. यति धर्म। इनकी क्रिया-कलापों एवं भाव विचारों के माध्यम से षट्कर्मों - १. देवपूजा, २. गुरू उपासना, ३. स्वाध्याय, ४. संयम, ५. तप और ६. दान की अपेक्षा श्रावकों का धर्म बतलाया है। अर्थात् इन कर्त्तव्यों का प्रतिदिन समय और शक्ति अनुसार यथाविधि पालन करना श्रावक धर्म है। इसी प्रकार पंच महाव्रत, पाँच समिति, दस प्रकार उत्तम क्षमादि धर्म, षडावश्यक (वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, समता और कायोत्सर्ग) पालन करना, रत्नत्रय धारण, चारित्र पालन करना यतिधर्म है। इनमें यथोचित आगमानुसार प्रवृत्ति नहीं करना धर्म विरूद्ध अन्याय है। यह आत्मपतन का मूल कारण है, नरक का द्वार है। दुर्गति का हेतु और सद्गति की अर्गला है। अतः धर्म विरूद्ध आचरण अन्याय है। यह सर्वथा त्याज्य ही है।

माता के वंश (नानी की) परम्परा जाति और पिता की परम्परा कुल कहलाती है। इनके विवाह आदि के विधि विधान का उल्लंघन कर विजातीय विवाह, विधवा विवाह, अभक्ष्य भक्षण करना आर्ष परम्परा के विपरीत आचरण करना भी अन्याय है। राज्य की चोरी अर्थात् सेलटैक्स, इन्कमटैक्स आदि नहीं देना, चोरी आदि करना आदि राज्य विरुद्ध अन्याय बंध बन्धन का कारण है।

लोक निन्दा भी होती है। इसी प्रकार सदाचार शिष्टाचार के विरुद्ध आचरण करना अन्याय है। वर्तमान युग की तो लीला ही विचित्र है। चारों ओर लूटमार, मायाचार, हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, संचय की लालसा अपरिमित हो गई है। हर एक क्षेत्र में मनमानी धांधली मची हुई है। फलतः हर मानव दुःख-दैन्य से तप्त हो रहा है। टी.बी., बीडिओ का शिकार हो रहा है। हिंसात्मक खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा हो गयी है। प्राचीन संस्कृति कृति को भूल पाश्चात्य वातावरण का अनुसरण अन्याय क्या महा अन्याय है। सुख चाहते हो तो इस अन्याय का त्याग करो ॥ १७ ॥

• धर्म विरूद्ध आचार-

क्षमा आदि दश धर्म के, घातक जे परिणाम।
क्रोध मान माया अनृत, लोभादिक तज काम ॥ १८ ॥

अर्थ - पहले धर्म का लक्षण स्वरूप लिख दिया गया। "वस्तु स्वभावो धर्मः" यथार्थ में सभी परिभाषाओं का सार या निचोड़ यही है। आत्मा एक द्रव्य है, वस्तु है। आत्मा का स्वभाव उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच (लोभ त्याग) सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य है। इन दश धर्मों मय ही आत्मा है। इनका घातक होना आत्मा या धर्म का ही घात है। जिन परिणामों के द्वारा ये गुण विकृत किये जाते हैं, विपरीत परिणमन करते हैं वे भाव हैं -

१. क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ, ५. असत्य भाषण, ६. अदया-हिंसात्मक प्रवृत्ति, ७. इन्द्रिय विषय सेवन लोलुपता, ८. इच्छा और आशा तृष्णा का विशेष व्यापार, ९. अब्रह्म सेवन, १०. परिग्रह संचय का आकर्षण, ११. परनिन्दा, १२. स्व प्रशंसा, १३. धर्म, संघ आदि के विपरीत आचरण आदि हैं। पैशून्यादि भाव आत्म स्वभाव का घात करने वाले हैं। इन से आत्म

विकास नहीं अपितु निज गुणों का संहार होता है और नाना प्रकार के दुःखों से व्याप्त दुर्गति में जाना होता है। अतः सुखेच्छुओं को विरुद्ध धर्म विरोधी आचरणों का त्याग कर आत्मोत्थान करना चाहिए॥ १८॥

• जाति विरुद्ध आचार–

उच्च सनातन जाति के, जो विरुद्ध व्यवहार।
विधवा आदि विवाह तज, कर संस्कार प्रचार॥ १९॥

अर्थ - उच्च का अर्थ है उत्तम वर्ण - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण। सनातन से अभिप्राय है कुल क्रम से आर्षमार्गानुसार जाति, कुल, वंश, परम्परा की शुद्धि। एक प्रकार या जाति में शुद्धता रहती है। जहाँ विजाति वस्तुओं का मिश्रण होता है वहाँ अशुद्धि उत्पन्न हो जाती है। उसका नाम, धाम, काम सब कुछ विपरीत, वचन अगोचर, निंद्य और हीन कहलाने लगता है।

उदाहरणार्थ - यदि गेहूँ, जौ आदि धान्य एक ही जाति के बोये जाते हैं तो उनसे उत्पन्न अनाज उसी जाति का होता है यदि मिश्रकर वपित किया तो गोचर होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न जाति या विधवा विवाह करने पर दोनों के मिश्रण से किसी भी जाति की शुद्ध सन्तान नहीं होगी। यथा कोई खण्डेलवाल

---

१८. उत्तमक्षमामार्दवार्जव शौच सत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः

अर्थ – उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस धर्म हैं।

२. धृति क्षमादमोस्त्येयशौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यम क्रोधो दशकं धर्म लक्षणं॥

१० धर्मों की अन्य प्रकार विवक्षा करते हुए यहाँ बताते हैं – १. धैर्य, २. क्षमा, ३. इन्द्रियों का दमन, ४. अचौर्य, ५. शौच, ६. इन्द्रियों को वश में रखना, ७. बुद्धिपूर्वक कार्य करना-विवेकशील होना, ८. विद्या, ९. सत्य, १०. अक्रोध-क्षमा भाव रखना - ये १० प्रकार के धर्म हैं॥ १८॥

जाति का पुरुष अग्रवाल जाति की कन्या के साथ विवाह करता है तो उससे उत्पन्न सन्तान न तो खण्डेलवाल जाति के गुण धर्म वाली होगी न अग्रवाल, वह तो खडेलवार एक तीसरे ही प्रकार की होगी जो अपने जातीय आचार-विचार से पराङ्मुख ही रहेगी, यह जाति संकरता जाति विरुद्ध व्यवहार होगा। देखा जाता है कि यदि अश्व और गर्दभी के संयोग से सन्तान उत्पन्न हो तो वह न तो शुद्ध अश्व ही होती है और न ही गर्दभ (गधा) जाति की, अपितु खच्चर उत्पन्न होती है। वृक्ष, पौधे, फलादि में भी यदि विभिन्न जाति की कलम लगायी जाय तो वे भी विकृत रूप के पुष्प, फलादि उत्पन्न करते हैं। इससे सिद्ध है कि विजाति-विवाह सम्बन्ध करना अपनी जाति के विरुद्ध आचरण है।

कुल-वंश परम्परा का घातक है, सर्वथा त्याज्य है। विधवा विवाह तो समाज की शक्तियों की रीढ़ तोड़ने वाली, शुभाचरण की नाशक, व्यभिचार की पोषक प्रथा है। इससे आचार-विचार, धर्म सभी का नाश होता है। आगम की अवहेलना होने से तीव्र मिथ्यात्व-मोह कर्म का बंध होता है। कुल एवं जाति वंश की शुद्धि नहीं रहती, उसे जीवन भर सूतक ही रहता है जिससे जिनपूजा, पात्र-दान स्वाध्यायादि धार्मिक क्रियाओं के करने का अधिकार नहीं रहता। आगम में ऐसे जनों को शूद्र संज्ञा दी है। जिस प्रकार कोयला चाहे जितना धोया जाय कालिमा नहीं जा सकती उसी प्रकार विजाति विधवा विवाह करने वाले कितनी चेष्टा करें उनकी शुद्धि नहीं हो सकती है। अतः जाति भी एक धर्म है जिसकी शुद्धि बनाये रखने को तदनुसार ही अपना आचार-विचार, खान-पान, व्यापारादि करते हुए धर्मध्यान रत रहना चाहिए॥ १९॥

---

१९. (क) (१) कन्यादानं विवाहः इति लोक प्रसिद्धिः। *कन्यादान पूर्वक विवाह का होना लोकप्रसिद्ध है।*

(२) न विवाह विधायुक्त विधवा = *विधवा विवाह विधि युक्त नहीं है, सही नहीं है।...*

◆ नय (लोक) नीति विरुद्ध आचार–

सभ्य जगत की नीति के, विरुद्ध आचार-विचार।
गाली चोरी आदि तज, सभ्य बनो हितकार॥ २०॥

...(३) अयं द्विजैः विद्वद्भिः = *यह विद्वान् ब्राह्मणों की उक्ति है।*

(ख) पशुधर्मो विगर्हितः = *पाशविक प्रवृत्तियों के पोषण में लगे रहना गर्हित कार्य है।*

(ग) सिंह गमन सुपुरूष वचन कदली फलत न दूजी बार।
तिरिया तेल हमीर हट चढ़े न दूजी बार॥

अर्थ – ***सिंह गमन*** – *सिंह जिधर प्रस्थान करता है उस ओर गमन करता हुआ पीछे मुड़कर नहीं देखता है। सुपुरूष वचन – महापुरुषों का वचन एक होता है वे दुतरफी बातें नहीं करते हैं, सत्य मार्ग पर अटल रहते हैं।*

कदली फलत न दूजी बार = *केले का वृक्ष एक बार ही फलता है, दुबारा उसमे फल नहीं आता। तिरिया तेल – स्त्री पर्याय में एक ही बार तेल चढ़ता है अर्थात् विवाह संस्कार एक बार ही होता है।*

हमीर हठ – *हमीर कवि का नाम है, हमीर हठ भी वैसा ही है।*

(घ) एकपतौ व्रते कन्याः व्रतानि धारयन्ति – *एक पतिव्रत में निष्ठ कन्या गृहस्थ धर्मोचित अनेक व्रतों को धारण करती हुई गृहस्थ धर्म का पालन करती है।*

(ङ) कियन्तो महिला वैधव्यतीव्रदुःखं आजीवनं नेयन्ति कायेनापि – *कितनी महिलायें वैधव्य सम्बन्धी दुःख से दुःखी भी हैं। वैधव्य पूर्वक ही शील की रक्षा करते हुए पूरा जीवन व्यतीत कर देती हैं।*

(च) उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः।
बालवैधव्यदग्धानां कुलस्त्रीणां कुचाविव॥

अर्थ – *बाल विधवा कुलीन स्त्री के कुच (स्तन) के समान ही उन दरिद्रो के मनरोथ हैं जो उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं सुखादि फल को देने में असमर्थ रहा करते हैं॥ १९॥*

अर्थ – सभ्यता मानव जीवन का श्रृंगार है। सभ्य शब्द का प्रयोग मानव प्रतिकर्म के साथ-साथ रहता है। रहन-सहन, व्यवहार, बोल-चाल आदि। अर्थात् वचन वर्गणा से ही उसके उन्नत, उत्तम व नीच आचार-विचार आदि की परीक्षा हो जाती है। मानवता की परख कसौटी वाणी है। इसीलिए नीतिकार कहते हैं –

वाणी ऐसी बोलिए मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करें, आपहुं शीतल होय ।।

अर्थात् वाणी का प्रयोग स्व-पर उपकार की भावना से करना चाहिए। हमारे पूज्य आचार्यों ने भी यही भाव स्पष्ट करते हुए कहा है कि – अयोग्य अर्थात् गर्हित (निंद्यनीय) सावद्य (पाप सहित) और अप्रिय (पर पीड़ाकारक) वचनों का प्रयोग सत्पुरुषों को कदाऽपि नहीं करना चाहिए।

१. गर्हित वचन – चुगली रूप, हास्य मिश्रित, कठोर, अयोग्य, प्रलाप भरे (व्यर्थ की गपशप) करने वाले वचनों को गर्हित वचन कहते हैं। इस प्रकार के वचन लोक नीति के विरुद्ध हैं क्योंकि इनमें असत्य और प्रमाद संयुक्त रहता है। ये पारस्परिक प्रेम, स्नेह और शुभ सम्बन्ध का घात कर वैर-विरोध, अहंकार उत्पादक होते हैं। अतः सर्वथा त्याज्य हैं, लोक नय विरुद्ध हैं।

२. सावद्य – जो वचन छेदने, भेदने, मारने, ताड़ने, शोषण करने वाले अथवा निंद्य व्यापारादि के उपदेशक, चोरी आदि कर्म में प्रयोजनीय हैं वे सर्व सावद्य वचन कहे गये हैं क्योंकि ये पापोत्पादक हैं। जिन-जिन वचनों से पाप रूप प्रवृत्ति होती है वे सर्व इस लोक और परलोक दोनों ही नाशक दुर्गति के कारण होने से लोक व्यवहार में अयोग्य कहे हैं। इनके द्वारा लोक नय का घात होता है अतः विरुद्ध हैं।

३. अप्रिय – जिन वचनों से पारस्परिक प्रीति नष्ट है, आपसी वैर-विरोध, कलह उत्पन्न हो, भय और खेद, शोक, चिन्ता, ताप, संताप, पीड़ा

आदि उत्पन्न करें इस प्रकार की वाणी अप्रिय कहलाती है। ये सभी वचन दुर्ध्यान के कारण हैं। रौद्र परिणामों के जनक हैं। रौद्रध्यान नरक गमन का कारण है तथा लोक सद्व्यवहार का विघातक है। कहा भी हैं -

प्रिय वाक्य प्रदानेन सर्वे तुष्टन्ति मानवाः ।

अर्थात् - संसार में शत्रु भी प्रिय, मधुर वाणी से मित्र हो जाते हैं। कठोर वाणी से मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। लोक नीति भी यही है कहा है कि -

कागा काको धन हरे, कोयल काको देय।
मीठी वाणी बोलकर, जग अपनो कर लेय ॥

गर्हित, निंद्य, अप्रिय वचनों का कुफल दिखाते हुए कहा है कि-

जिह्वा ऐसी बावरी कहगई सर्ग पताल
आप तो कह भीतर गई, जूते खाये कपाल ॥

अर्थात् कठोर वाणी का फल वध, बंधन, मार-पीट होता है। अतः वचन चातुर्य होना अनिवार्य है। लोक नीति है "तलवार का घाव भर जाता है परन्तु वचन का घाव नहीं भरता।" अस्तु, वाक् शक्ति का प्रयोग उचित करना लोकाचार है और विरुद्ध बोलना, आगम विरुद्ध यद्वा-तद्वा भाषण करना लोकाचार विरोधी है। विरुद्ध आचार त्यागना चाहिए॥ २० ॥

◆ स्व राज्य नीति विरुद्ध आचार-

गृह, पुर, देश स्वराज्य के, जे विरुद्ध वरताव।
कलह अशुध वस्त्रादि तज धरि मन उन्नति चाव ॥ २१ ॥

अर्थ - मानव जीवन के यापन करने के साधन, घर, पुर (नगर, गांव) राज्य, राष्ट्र, देश, समाज और परिवार आदि होते हैं। इनके अनुकूल जो आचरण व प्रवृत्ति बनाये रखता है उसका जीवन सुख-शान्ति, मान-सम्मान से सहित रहता है। यदि विरुद्ध रहन-सहन, व्यवहार, चाल-चलन हुआ तो

जीवन में सतत् दुःख दैन्य, हीनता आदि बनी रहती है। जीवन जीना ही दुर्लभ हो जाता है। निर्मल, शील-स्वभाव, सुख-शान्ति व निरापद जीवन यापन की कला है। हम प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में यहाँ कुछ विचार करें। सर्वप्रथम घर क्या है, गृह किसे कहते हैं ?

चारों ओर चूना-मिट्टी या पाषाणों से दीवालें खड़ी कर देना घर है, वह हमारा रक्षण करेगा, सुख-शान्ति प्रदान करेगा ? विशाल महल, अटारी चून लेना क्या घर है ? नीतिकार कहते हैं "बिन घरनी घर भूत का डेरा" अर्थात् सुलक्षणी सौभाग्यशीला, कलाकुशल, उभय कुल पंकज विकासिनी गृहणी (पत्नि) नहीं है तो वह घर यथार्थ गृह नहीं है। गृहणी रहने पर ही परिवार, कुटुम्बी-सम्बन्धी रह सकेगें। यदि नारी सुशिक्षित, सदाचारिणी, पतिभक्ता, धर्मज्ञा, श्रावक धर्म पालक है तो उसका परिवार भी तदनुसार शिष्टाचारी होगा, क्योंकि माता ही प्रथम शिक्षिका कहलाती है। सबके अनुकूल रहने पर सर्व ही प्रसन्न सुखी व शान्ति पूर्वक रह सकेंगे। भू पर ही उन्हें स्वर्गीय सुख का अनुभव होगा। यदि कलहारी, कर्कशा, दुराचारिणी हुई तो समस्त संतति भी उसका ही आचरण कारिणी होगी और फलतः घर नरक का अनुभव कराने वाला होगा। कहा भी है -

जहाँ सुमति तहाँ सम्पद नाना, जहाँ कुमति तहाँ विपद निदाना ॥

अर्थात् परस्पर प्रेम, सौहार्द, अनुकूल आचरण करना गृहाचार है। इसके विपरीत चलना गृह विरुद्ध आचरण है। घर में फूट पड़े तो घर बरबाद हो जाता है। कहा जाता है "घर का भेदी लंका ढावे" तथा खेत में फूट फलै तो सब कोई खाय। घर में पड़े तो घर बह जाय ॥ १ ॥ अतएव अपने कुल परम्परानुसार शुद्धाचरण, शिष्टाचार का पालन करना चाहिए। प्राचीन रीति-रिवाज, रहन-सहन के अनुसार नहीं चलना गृह विरुद्ध आचार होगा जिससे स्व-पर का अकल्याण होगा।

जिस प्रकार घर विरुद्ध आचरण नहीं करना उसी प्रकार पुर, नगर विरुद्ध भी नहीं चलना चाहिए। राजा राज्य का अधिनायक होता है। प्रजा पालक, देश का संरक्षक होता है। न्याय-नीति, सदाचारादि प्रपालक होकर प्रजा को भी उसी ढांचे में ढालता है। प्रजा के सुख-दुःख का निरीक्षण कर तदनुरूप व्यवस्था करता है। राज्य शासन में समचित्त, सावधान, विवेकी एवं धर्मात्मा राजा को कहा है - "**सर्वदेवमयो राजा।**"

राजा शिष्टों का पालन-पोषण और दुष्टों को उचित दण्ड विधान कर गृहस्थी, समाज, राज्य, देश और राष्ट्र में सुख-शान्ति बनाये रखने का प्रयत्न करता है। राजशासन के अपने नियम, कानून, आदेश, आज्ञा आदि होते हैं जिनका पालन प्रजा को अनिवार्य रूप से, वफादारी एवं निश्छल भाव से करना चाहिए। राज्य और राजा की मर्यादा को सुरक्षित रखने के लिए धर्म और आगमानुसार, अपनी संस्कृति, परम्पराओं, जाति, कुल, वर्ण व्यवस्थाओं के अनुसार रहन-सहन, आचार-विचार, वेशभूषा, बोल-चाल, खान-पान, शील, संयम, तप, त्याग, दानादि में प्रवृत्ति करना चाहिए। इसके विपरीत, इन्कम टैक्स, सेल टैक्स आदि नियमों का उल्लंघन करना, दुराचार, व्यभिचार, अनाचार, चोरी, डकैती, लूट-पाट, मार-पीट, कलह विसंवादादि करना, परिवार, पुर, गेह, देश, राज्य, राष्ट्र विरुद्ध आचरण हैं। इनका परिणाम वर्तमान की दुर्दशा प्रत्यक्ष दर्शा रही है।

अमानुषिक अत्याचार, मूक पशुओं का घात, बाल हत्या, भ्रूण हत्याएँ हो रही हैं। मनुष्य शील, संयम, दान, पूजादि कर्त्तव्यों से विमुख हो रहा है। फलतः जीवन में अशान्ति, रोग-शोक, आधि, व्याधि आदि अनेक कष्ट वृद्धिंगत हो रहे हैं। हमें रामराज्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अतः राजशासन विरुद्ध आचरण का त्याग कर न्यायोचित, मानवता का पोषक आचरण करना चाहिए॥ २१ ॥

◆ अभक्ष्य का लक्षण–

जिनके भक्षण करने से, लागै हिंसा दोष।

उनको अभक्ष्य पदार्थ गिन, मद्यादिक अघ कोष ॥ २२ ॥

अर्थ - अभक्ष्य क्या है ? जिन पदार्थों के भक्षण करने से जिह्वा इन्द्रिय की लोलुपता बढ़ती है, अनन्त जीवों का घात होता है। हिंसा पाप से हिंसक कहलाना पड़े वे सभी पदार्थ अभक्ष्य हैं। ये पदार्थ तीन प्रकार के हैं -अनिष्ट, अनुपसेव्य और पातकवर्द्धक। सभी अभक्ष्य हैं। यहाँ खाद्य पदार्थ वास्तव में उपलक्षण मात्र है, वस्तुतः जिनके सेवन से आत्म स्वभाव का घात होता है, परिणामों में कठोरता, क्रूरता, उन्माद, अविवेकादि दुर्गुण उत्पन्न हों वे चाहें खाद्य हों, पहनने-ओढ़ने के हों, सौन्दर्य प्रसाधन के हों - जैसे चमड़े के बेल्ट, बैग, बिस्तर-बंध, जूते-चप्पल, पर्स, शैम्पू, लिपिस्टिक, नेल पॉलिश, क्रीम, पावडर वगैरह, ब्रेड, बिस्किट, डबल रोटी, नशीली वस्तुएँ यथा - गुटका (पान पराग आदि) च्वींगम, वैजयन्ती, भांग, चरस, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट आदि सभी हिंसादि पापों के कारण अभक्ष्य की ही कोटि में आते हैं।

त्याज्य हैं - मद्यपान, अण्डा, मछली भक्षण, आलू, गोभी, शकरकंद, सूरण, रतालू, अरवी, गाजर, मूली, अदरक, प्याज, लहसुन आदि असेव्य, अभक्ष्य हैं। सत्पुरुषों को इनका दूर से ही त्याग करना चाहिए। गरिष्ट, उन्मादक पदार्थ भक्ष्य होने पर खाने योग्य नहीं फिर अभक्ष्य कंदमूल, साबूदाना आदि का तो त्याग अनिवार्य हो ही जाता है ॥ २२ ॥

---

२२. ओला, घोर बड़ा, निशि भोजन, बहु बीजा, बेंगन, संधान।
बड़, पीपल, ऊमर, कठऊमर, पाकर फल, जो होय अजान।
कंदमूल, माटी, विष, आमिष, मधु, माखन अरू मदिरा पान।
फल अति तुच्छ, तुषार, चलित रस, ये अभक्ष्य बाईस बखान ॥..

◆ **अभक्ष्य के दोष–**

मद्य, मांस, मधु निशि अशन, उदम्बर फल संधान।
कंदमूल रस से चलित, तज अभक्ष मतिमान ॥ २३ ॥

अर्थ – मद्य-शराब, मांस-द्विन्द्रियादि जीवों का कलेवर मांस कहलाता है, अर्थात् दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों को मार कर दुष्ट, निर्दयी, हिंसक, घातक जन मांस का उत्पादन कर रहे हैं, प्रतिदिन हजारों गायें, बछड़े आदि निरपराध, मूक प्राणियों के घात से उत्पादन होता है वह मांस है। मधु मक्खियों का उगाल-वमन मधु कहलाता है। घातक जन छत्तों को तोड़कर रस निचोड़ते हैं जिसमें उनके अण्डे-बच्चों के कलेवरों का भी रस निचोड़ कर आता है। जो महा पापोत्पादक होने से सर्वथा अभक्ष्य है।

रात्रिभोजन करना तो महा गर्हित है ही। जैन सिद्धान्त में तो इसे जन्मजात त्याज्य कहा ही है, अन्य हिन्दू धर्म में भी निषिद्ध कहा है यथा देखिये -

अस्तंगते दिवानाथे तोयं रुधिर मुच्यते।
अन्नं मांस समं प्रोक्तं मार्कण्डे महर्षिणः ॥

अर्थात् मार्कण्ड पुराण में लिखा है कि सूर्यास्त होनें पर जलपान करने से रक्तपान करने के सदृश पाप है और अन्न भक्षण भोजन करना मांस खाने के समान पापोत्पादक है। जैनाचार्य श्री रविषेण स्वामी पद्मपुराण में लिखते हैं कि वनमाला का लक्ष्मणजी के साथ पाणिग्रहण संस्कार हो गया। पुनः वे आगे जाने लगे तो वनमाला ने भी साथ जाने का आग्रह किया। लक्ष्मण के निषेध करने पर वनमाला अति शोकाकुल हुयी। लक्ष्मण ने धैर्य बंधाते हुए कहा,

---

*...**भावार्थ** – यहाँ बाईस अभक्ष्यों के नाम हैं। घोर बड़ा का अर्थ है - अमर्यादित दही में डाला गया बड़ा। आमिष का अर्थ है मांस शेष अर्थ शब्द से ही सुगम हैं। इनके भक्षण से बहुत जीवों का घात होता है अतः इन्हें अभक्ष्य कहा है ॥ २२ ॥*

"अयोध्या पहुँचने पर अवश्य ही शीघ्र बुलाऊँगा, उसे आश्वस्त करने को कई प्रकार शपथ करने भी कहा, परन्तु वनमाला ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। तब अधीर हो लक्ष्मण ने कहा - "तुम्हीं बताओ किस शपथ से तुम्हें विश्वास होगा ? उसने कहा "रात्रि भोजन में जो पाप होता है वह मुझे होगा" यदि वायदानुसार नहीं बुलाया तो। ठीक है ऐसा ही हो। इससे स्पष्ट होता है कि रात्रि भोजन हिंसा महापाप और गृद्धता का कारण होने से महा निंद्य, पापोत्पादक है, त्याज्य है, नरक का द्वार है। इसी प्रकार पाँच प्रकार के उदम्बर फल भी अभक्ष्य व तजनीय है। कारण ये क्षीर फल कहलाते हैं।

इनमें अनेकों सूक्ष्म जन्तु भरे रहते हैं, वे एक साथ ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं। उनका पृथक करना अशक्य है। इनके त्यागने पर श्रावक संज्ञा सार्थक होती है। संधान-अचार भी अभक्ष्य में सम्मिलित है क्योंकि यह अनन्त जीवों का पिण्ड हो जाता है, जिससे भयंकर हिंसा होती है। परिणामों में अदयाभाव जाग्रत होता है, कुछ समय बाद फफूंद हो जाती है जो अनन्तानन्त जीवों का पिण्ड होता है। त्रस जीवों का समूह होने से मांस भक्षण का पाप लगता है। कन्दमूल भी अनन्तकाय है क्योंकि इनमें अनन्तानन्त निगोदिया जीव रहते हैं। एक-एक अंश में प्रजनन शक्ति रहती है।

उदाहरण के लिए आलू को लें, इसमें एक आलू में जितनी गांठे होती हैं उतने ही अंकुर निकलते हैं, पौधे उगते हैं। जौ, गेहूँ, चना आदि में एक-एक में एक-एक ही वृक्ष होता है पर इन कन्दों में वैसा नहीं है। अतः ये दसों प्रकार के कन्द दयालु, सन्त- विवेकी जनों को त्यागना चाहिए। इसी प्रकार से चलित रस हुए सभी पदार्थ त्यागने योग्य हैं। जैसे - आम, जाम, सन्तरा आदि का स्वाद बिगड़ गया है तो वे चलित रह कहलाते हैं क्योंकि विकृति उत्पन्न करते हैं, अतः परिहार करना चाहिए। धीमान् जनों को प्रत्येक वस्तु का स्वरूप ज्ञात कर ही प्रयोग करना चाहिए॥ २३ ॥

• सच्चे हिन्दू का कर्तव्य –

जीव जाति सकल पहिचाने, हिंसा से रहे दूर।
सच्चा हिन्दू होय कर, दया करे भरपूर ।। २४ ।।

अर्थ – यहाँ हिन्दू जाति का यथार्थ लक्षण बतलाया है। क्योंकि जन्म के साथ तदनुरूप कर्तव्य भी पालन करना चाहिए। यथा कोई मनुष्य, मनुष्य गति में जन्म पाकर नाम से तो मनुष्य हो गया पर मानवता बिना कर्तव्य पाले नहीं आ सकती। इसी प्रकार हिन्दू मात्र नामधारी से हिन्दू कहला नहीं सकता है। यथार्थ शब्द से नहीं जो भाव से भी हिन्दू बनना चाहता है उसे समस्त पर्यायों में रहने वाले जीवों की जाति को समझना चाहिए।

जो जीव जाति ज्ञात कर उनका रक्षण करता है। उनको किसी प्रकार उत्तापन, विदारण, मारण, च्छेदन-भेदन आदि नहीं करता है, सतत दया रूप कोमल परिणाम रखता है, पाप भीरू होता है, धर्मज्ञ और सदाचारी होता है, अत्याचार व अनाचार, वैर, अभिमान, कलह, चुगली, निन्दा, असत्य भाषण, चोरी, अब्रह्म, परस्त्री सेवन आदि पापों से दूर रहता है वही सच्चा हिन्दू है। क्योंकि ये सभी कार्य हिंसा के ही रूपान्तर हैं।

गीता में एक उपाख्यान आया है "जिस समय पांचों पाण्डव अज्ञातवास में भ्रमण कर रहे थे, तब किसी समय भोजन की तलाश में थे। किसी एक ने उन्हें प्याज मिश्रित भोजन दिया उस समय युधिष्ठिर ने कहा "**ब्राह्मणः अहं पलाण्डु न भक्षयामि**" अर्थात् मैं ब्राह्मण हूँ प्याज नहीं खाता। वर्तमान हिन्दू बांधव विचार करें उनमें हिन्दूत्व है या नहीं ?, है तो कितने अंश में है ? विवेक चक्षुओं को खोलकर वास्तविक हिन्दू बनने का प्रयत्न करें। दया धर्म सर्वोपरि धर्म है ।। २४ ।।

◆ उत्तम सिद्धान्त पालने का उपदेश–

सहयोग हिंसा से तजकर, सत्याग्रह नित पाल।
अहिंसाभक्त परमात्मा, क्यों न बनो बुधवान ! ॥ २५ ॥

अर्थ – संसार में अनेकों कला-कौशल एवं विद्याएँ हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मनुष्य उनमें नैपुण्य प्राप्त करते हैं। सामान्य से हर कलाकार, प्रत्येक विद्या के ज्ञाता को हम विद्वान, बुद्धिमान कह देते हैं, परन्तु वास्तविक विद्वान-बुधजन है कौन ? इस पद्य में उसी का लक्षण स्पष्ट किया है। वैज्ञानिकों में एक से एक बढ़कर नवीन-नवीन आविष्कारक हैं, धर्मक्षेत्र में भी विद्वानों-पण्डितों की बाढ़ आ रही है, पर इनमें यथार्थ विद्वान कौन हैं ? कितने हैं ? क्या वाक्जाल फैलाकर उदरपूर्ति का उपाय करना, चमत्कार दिखाकर महल-अटारियाँ कारखाने चलाकर ऐशो-आराम का जीवन बिताना, विषय भोगों में रत रहना, अभक्ष्य भक्षण, रात्रि भोजन करते रहना क्या विद्वत्ता है ? नहीं विद्वान की पहिचान धर्माचरण, सदाचरण, शिष्टाचार और निस्पृहता से है। देव-शास्त्र-गुरु भक्ति से है।

दया, अनुकम्पा, करुणा और सरल निष्कपट आचरण से होती है। हिंसा कर्म से विरत और अहिंसा धर्म में प्रीति विद्वान् का लक्षण है। कोरा शाब्दिक ज्ञान प्राप्त कर लेना बुद्धिमत्ता नहीं है अपितु जिनागम का तल स्पर्शी रहस्य ज्ञात, तत्त्व स्वरूप पहिचान तदनुकूल जीवन में आचरण करने वाला बुद्धिमंत है। ज्ञान है क्या ?

जिसके द्वारा विषयों से विरक्ति हो, मन संयत बने, संयम धारण की भावना जाग्रत हो, उत्तरोत्तर आत्म विशुद्धि वृद्धिंगत होती जाय। संसार, शरीर, भोगों के प्रति विकर्षण होता जाय, धर्म और धर्मात्माओं में आस्था, वात्सल्य बना रहे आदि गुणों का विकासक प्रकाशक ज्ञान-सम्यक् ज्ञान है और इस ज्ञान

का आधारभूत ज्ञानी पुरुष विद्वान कहलाने का अधिकारी होता है। अस्तु मुमुक्षु बन्धुओं का कर्त्तव्य है, वित्तैषणा का शमन करते हुए आत्म कल्याण की भावना से ज्ञानार्जन कर यथार्थ सिद्धान्तों को जीवन में उतारकर सही बुधजन बनने का प्रयत्न करें। अहिंसा धर्म, जिनधर्म, मानव धर्म के पुजारी, रक्षक बनकर मुक्तिमार्ग के अनुयायी बनें। यही यथार्थ पाण्डित्य है। नहीं तो कोरे पण्डा पुजारी रह जायेंगे ॥ २५ ॥

◆ आश्रमों के नाम–

ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थपुनि, वानप्रस्थ सन्यास।
इनका सप्तम अंग में, श्री जिन किया प्रकाश ॥ २६ ॥

अर्थ – श्रावक धर्म की साधना करने पर ही गृहस्थाश्रम और यत्याश्रम की सिद्धि हो सकती है। हमारे करुणा सागर भगवन्तों, आचार्य परमेष्ठियों ने भव्यों के क्रमिक विकास के लिए अनन्त चतुष्टय प्राप्ति के प्रतीक स्वरूप चार आश्रमों का विधान किया है। इनमें सर्वप्रथम दयाधर्म रक्षक, आत्म विशुद्धि कारक ब्रह्मचर्याश्रम निर्दिष्ट किया है। मानव जीवन के उत्थान की बाल्यावस्था है, यहीं से कुमार, यौवन, प्रौढ़, वृद्ध अवस्थाएँ पुष्टि पाती हैं।

पूर्वकाल में विद्यार्थी ऋषि-मुनियों का आश्रमों में निवास करते हुए निर्दोष अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते हुए विद्यार्जन करते थे। उस काल में वे सांसारिक विषय-विकारी वातावरण से अति दूर, सरल और धर्म निष्ठ रहते थे। उन्हीं संस्कारों से पुष्ट जीवन उन्हीं संस्कारों से सुसंस्कृत जीवन यापन करते परिणामतः निश्छल, न्याय-नीति पूर्ण, पारस्परिक प्रेम-वात्सल्य, धर्म और धर्मात्माओं का समादर करते। अभिप्राय यह है कि गृहस्थी में रहकर भी ब्रह्मचारी बनकर रहना चाहिए। इन आश्रमों का क्रमशः लक्षण आगे कहते हैं। २. गृहस्थाश्रम, ३. वानप्रस्थआश्रम और ४. सन्यास आश्रम ॥ २६ ॥

◆ **ब्रह्मचर्याश्रम का लक्षण व कर्त्तव्य–**

प्रथमाश्रम में प्रविष्ट हो, श्रेष्ठ गुरु ढिंग बाल।
उभयलोक विद्या पढ़े, ब्रह्मचर्य व्रत पाल ।। २७ ।।

अर्थ – जिनागम या जिन वाङ्मय बारह अंगों में निबद्ध है। उनमें सातवाँ अंग उपासकाध्ययन है। इसमें चारों प्रकार के आश्रमों का वर्णन है। यहाँ उसी का अंश लेकर प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का लक्षण व कर्त्तव्य निर्दिष्ट किया है। जो बालक विद्याध्ययन करने को उत्तम, योग्य, सदाचारी गुरू के सानिध्य में विद्याध्ययन करता है। विद्यार्जन काल पर्यन्त अखण्ड, निर्दोष ब्रह्मचर्य व्रत पालन की प्रतिज्ञा कर ज्ञानार्जन प्रारम्भ करता है। वही विद्यार्थी इस ब्रह्मचर्याश्रम वाला कहलाता है।

उभयलोक अर्थात् इस लोक और परलोक की सिद्धि करने वाले सम्यग्ज्ञान, प्राणीरक्षा, दयाधर्म एवं कामवासना से विरत, भोगैषणा का निग्रह करने वाला और सम्यक्त्व पूर्वक शुद्ध, निर्मल आचरण करने वाला ब्रह्मचारी कहलाता है। इस काल में मर्यादा-समय-काल की सीमा लेकर विद्याध्ययन करना ब्रह्मचर्याश्रम है। इस काल में वह सात्विक, मित और सुपाच्य भोजन करता हुआ गुरु सानिध्य-आश्रमादि में ही निवास करता है और यथोचित, रुचि व अपनी कुल परम्परा की मर्यादानुसार अस्त्र, शस्त्र, शिल्प, धर्म, सिद्धान्त, दर्शन आदि विद्याओं का सम्यक् अध्ययन करता है।

विशेष – "गृहस्थाश्रम का स्वरूप"

---

२६. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्चभिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जनानां सप्तमांगाद् विनिःसृतौ ।।

अर्थ – मनुष्य का जीवन ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक के भेद से चार भागों में विभक्त है ऐसा सातवें उपासकाध्ययनाङ्ग से उद्धरण प्राप्त होता है।

क्षान्ति योषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानतिथि प्रियः।
स गृहस्थो भवेन्नूनं मनो दैवत साधकः ॥ १ ॥

अर्थ - जो पुरुष क्षमारूपी नारी में आसक्त, सम्यग्ज्ञानी, अतिथियों का प्रेमी अर्थात् दान देने में तत्पर, त्यागी, व्रतियों की सेवा रत और मन रूपी देवता का साधक-वश करने वाला, जितेन्द्रिय है वह निश्चय से गृहस्थ है। कुरल काव्य में भी कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं।

धर्मराज्य के साथ में, जिसमें प्रेम प्रवाह।
तोष सुधा उस गेह में, पूर्ण फलें सब चाह ॥ ५ ॥ परिच्छेद ५ ॥

अर्थात् जिस घर में स्नेह, प्रेम और धर्म का निवास है, धर्म साम्राज्य ही प्रवर्तता है, हर परिस्थिति में सन्तोषामृत वर्षण होता रहता है वहीं सफल गृहस्थाश्रम है। उस गृह में निवासियों के गृहस्थों के समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं ॥ २ ॥

वानप्रस्थ आश्रम - वानप्रस्थ से तात्पर्य है "वनवासी"। परन्तु वन में निवास करना मात्र ही वानप्रस्थाश्रम नहीं है। अपितु नीति विरुद्ध, अश्लील प्रवृत्तियों - हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहाशक्ति का त्याग करना तथा उत्तम सम्यक् चारित्र धारण कर, वीतराग पूर्वक वन में निवास करना है। तात्पर्य यह है कि जो पंच महाव्रत धारण कर संयम पूर्वक, निर्ममत्व हो एकाकी वन में विचरण करता है, आत्मानुभव का प्रयत्न करता है वह वानप्रस्थाश्रम है। इसके विपरीत कुटिया बनाकर स्त्री, बाल-बच्चों, कुटुम्ब को लेकर वन में रहना वानप्रस्थ नहीं है ॥ ३ ॥

जिन महात्माओं ने सम्यग्ज्ञान द्वारा विवेक रूपी नेत्रोन्मीलन कर लिया है, सद्-असद् विचार से मानसिक विशुद्धि की है, चारित्र पालन द्वारा दीप्ति और नियमों का पालन कर जितेन्द्रियता प्राप्त की है उसे तपस्वी कहते हैं। किन्तु बाह्य वेषधारी को तपस्वी नहीं कहा जाता।

जिनागम के अनुसार - श्रावक की ११ प्रतिमाएँ होती हैं, इनमें उत्तरोत्तर

चारित्र पालन की विशेषताएँ हैं - प्रथम प्रतिमा से छठवीं प्रतिमा तक पालन करने वाले चारित्री "गृहस्थाश्रमी" कहलाते हैं। सातवीं प्रतिमा से नवमीं प्रतिमा धारी चारित्र पालक "ब्रह्मचारी" कहलाते हैं। दसवीं, ग्यारहवीं प्रतिमा सम्बन्धी चारित्र पालक "वानप्रस्थ" कहे जाते हैं। और इनके ऊपर परम वीतरागी, बाह्याभ्यंतर परिग्रह त्यागी दिगम्बर साधु-मुनिवर "यत्याश्रमी" कहलाते हैं। चारों ही आश्रमों की सिद्धि सम्यग्दर्शन पूर्वक होती है॥ २७॥

• प्रतिज्ञा ग्रहण

धर्मानन्दा गृही आचार में, यदि बुध किया विहार।
चुन-चुन प्रतिज्ञा पुष्प का, गुण युत पहनो हार॥ २८॥

अर्थ - जो गृहस्थ-श्रावक अपने आचार-विचार, षट्कर्मों के पालन में निरंतर प्रवृत्ति करते हैं अर्थात् पालन करते हैं, वे क्रमशः चारों आश्रमों के गुणरत्नों को गुण रूपी डोरी में पिरोकर रत्नत्रय गुम्फित हार तैयार कर धारण करते हैं। अर्थात् आत्मा का पूर्ण विकास कर सिद्धि सौध में अनन्तकाल पर्यन्त आत्मानन्द में निमग्न हो जाते हैं॥ २८॥

• प्रथम अध्याय का सारांश

रत्नत्रय आराधकर, दोष त्रय को त्याग।
महावीर की अर्चना, धरो हृदय बड़भाग॥ २९॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन रत्न हैं। इनका एकीकरण रत्नत्रय कहलाता है। इनकी सिद्धि तीन दोषों - १. मिथ्यादर्शन, २. मिथ्याज्ञान और ३. मिथ्याचारित्र के त्याग परिहार से होती है। अतः भव्य बड़भागी बुधजन इन दोषों का सर्वथा त्याग कर रत्नत्रय की आराधना पूर्वक भगवान महावीर स्वामी की अर्चना, भक्ति-आराधना में तत्पर रहें। जिनभक्ति करें। यही परम्परा से मुक्ति का सफल साधन है॥ २९॥

इति प्रथम अध्याय

❋ अथ द्वितीय अध्याय ❋

• **धर्म का लक्षण–**

जग के दुःख से जीव को, सुख मग धारे धर्म।
आत्म स्वभाव है रत्नत्रय, नष्ट करे वसु कर्म ॥ १ ॥

अर्थ – धर्म क्या है ? प्रथम अध्याय में इसका स्वरूप वर्णन हो चुका है। फिर भी विशेष रुचि वाले शिष्यों पर अनुग्रह कर कृपालु आचार्य देव पुनः समझा रहे हैं। अतः जो संसार दुःख सागर के जलधि की अनन्तों तरंगों के समान अनन्त दुःखों से भरा है और जीव निरंतर उनसे महापीड़ित हो रहा है, उसे उन असह्य कष्टों से निकाल कर चिर सुख साधक मुक्ति पथ पर आरूढ़ करें वह धर्म है। वह स्वयं आत्मा का स्वभाव है। वह स्वभाव रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मा और आत्मा रत्नत्रय है। आचार्य परमेष्ठी श्री नेमिचन्द्रजी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में लिखा है –

रयणत्तं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवयम्हि।
तम्हा तत्तिय मइयो होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥ ४१ ॥

अर्थात् आत्मद्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, अतः आत्मा ही मोक्ष का कारण है। क्योंकि रत्नत्रय और आत्मा एक स्वरूप ही है। यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि रत्नत्रय स्वभावोपलब्धि अष्ट कर्मों के विनाश से ही होती है क्योंकि वे आत्मा स्वभाव नहीं विभाव है। दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। प्रत्येक भव्यात्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र धारण कर अष्टकर्मों को नष्ट कर आत्म सुख प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए ॥ १ ॥

---

१. (क) संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।

यह रत्नकरण्ड श्रावकाचार का श्लोकांश है। जो संसार के दुःखों से मुक्त कर प्राणियों को उत्तम सुख में स्थापित करे वह सच्चा धर्म है।...

♦ धर्म धारण की योग्यता किसमें ?–

धर्म ग्रहण के योग्य जिय, संज्ञी भव्य पर्याप्त।
कालादि लब्धि सहित, अन्य न होय कदाऽपि ॥ २ ॥

अर्थ - यद्यपि धर्म एक रूप और प्राणी मात्र का कल्याण करने वाला है। परन्तु हर एक पर्याय हर एक प्राणी में उसे प्राप्त करने की सामर्थ्य, योग्यता नहीं है। वह योग्यता क्या है ? यही यहाँ स्पष्ट किया है। जो जीव भव्य हैं, संज्ञी, पर्याप्त और लब्धि आदि लब्धियों को प्राप्त करने की योग्यता रखता है, उसे भी तदनुरूप निमित्त अर्थात् समर्थ कारण प्राप्त होते हैं तभी रत्नत्रय स्वरूप धर्म धारण कर सकता है। लब्धियाँ पाँच हैं -१. क्षायोपशमिक, २. विशुद्धि, ३. देशना, ४. प्रायोग्य और ५ करण। प्रथम चार तो सामान्य हैं जो भव्य और अभव्य दोनों के हो सकती है। परन्तु पाँचवीं करण लब्धि उसी भव्य के होती है जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के उन्मुख हैं।

अशुभ कर्मों के अनुभाग का उत्तरोत्तर क्षीण होना क्षायोपशम लब्धि है। परिणामों की निर्मलता विशेष होना विशुद्धि लब्धि है। योग्य सम्यक् उपदेश की प्राप्ति देशनालब्धि है। पंचेन्द्रिय, संज्ञी पर्याप्त अवस्था प्राप्त कर अनन्त

...(ख) वत्थु सहावो धम्मो - *वस्तु का जो स्वभाव है उसे ही धर्म कहते हैं। अर्थात् अपना-२ स्वभाव ही उस-उस वस्तु का धर्म है।*

(ग) सद् दृष्टि ज्ञान वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराविदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भव पद्धतिः ॥

तीर्थंकरादि ने - धर्म तीर्थ के प्रवर्तक वृषभादि तीर्थंकरों ने सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र को धर्म कहा है और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र को संसार भ्रमण का कारण कहा है।

(घ) यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः - *जिससे स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि हो वह धर्म है ॥ १ ॥*

गुण के कर्म विपाक स्थिति का क्षीण होना प्रायोग्य लब्धि है। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामों को करणलब्धि कहते हैं। इसके होने पर नियम से सम्यग्दर्शन होता ही है। इसकी योग्यता विहीन असंज्ञी आदि जीव को कदाऽपि रत्नत्रयोपलब्धि नहीं होती ॥ २ ॥

◆ रत्नत्रय फल प्राप्ति योग्य कौन ?–

सम्यग्दर्शन ज्ञान युत, अहिंसामय चारित्र।
श्रावक मुनिव्रत पालकर, करते स्वात्म पवित्र ॥ ३ ॥

अर्थ – यहाँ आचार्य श्री का अभिप्राय श्रावक-मुनि के भेद से रत्नत्रय के फल पाने का विभाजन कर स्पष्टीकरण करना है। प्रथम श्रावक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, उसके साथ ही सम्यग्ज्ञान भी हो जाता है। दोनों की उपलब्धि होने पर उसके परिणामों में स्वतः विनय, दया, विवेक भी जागृत हो जाता है। अतः अहिंसाभावों से जीवरक्षण का ध्यान रखकर गृहस्थाश्रम के आरम्भादि को करता है। लोभ, लालच भी मन्द हो जाता है। आशा-तृष्णा मन्द होना सम्यक् चारित्र का प्रतीक है। भक्ष्याभक्ष्य का विचार जाग्रत हो जाता है। परन्तु यह रत्नत्रय एकदेश ही रहता है। इसलिए फलरूप सुख-सम्पदा भी अधूरी ही प्राप्त होती है। हाँ, यह अधूरापन उससे छिपा नहीं रहता है। उसकी पूर्ति के लिए वह छटपटाता है और अवसर पाते ही सर्वसंग-परिग्रह त्याग दिगम्बर मुनि बन जाता है और इस अवस्था से घोर कठोर तपकर अपनी आत्मा का पूर्ण विकास करने में समर्थ होता है। रत्नत्रय को पूर्ण कर क्रमशः मुक्ति पा लेता है ॥ ३ ॥

---

२. **भव्य, पर्याप्तिवान्, संज्ञी, लब्धकालादिलब्धिकः, सद्धर्मग्रहणेऽर्हो नान्योजीवः** कदाचन – *जो भव्य है, पर्याप्तक है, संज्ञी है, काललब्धि आदि योग्य लब्धियों को प्राप्त कर चुका है वही सद्धर्म को ग्रहण करने में समर्थ होता है अन्य नहीं।*

◆ रत्नत्रय का माहात्म्य—

मुहूर्त एक समकित रतन, पाकर यदि हो त्याग।
बहु भ्रमि मारीचि भी, पा रमा मुक्ति श्री साथ ॥ ४ ॥

अर्थ - जिस प्रकार पुष्पकली खिलते ही चारों ओर सुरभि बिखर जाती है, रवि के उदय के साथ ही तिमिर छिप जाता है, प्रकाश प्रसारित हो जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की किरण चमकते ही अनादि से घिरी मिथ्यात्व की घटायें तितर-बितर हो जाती हैं, आत्मीय ज्ञान ज्योति झिलमिला उठती है, चारित्र की फुलवाड़ी प्रकट दृष्टिगत हो जाती है। रत्नत्रय महिमा अवर्णीय और अतुल है। क्योंकि वह अमूर्तिक स्वरूप प्रदान करता है, जिसका वर्णन मूर्तिक शब्दों की क्षमता हो ही किस प्रकार संभव है ?

इस रहस्य का स्पष्टी करण करने को यहाँ प्रथम तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव के पौत्र मरीचि कुमार का उदाहरण दिया है। उसके जीवन की कथा कितनी लम्बी थी, तथाऽपि पशुपर्याय में ही उत्तम देशना लब्धि प्राप्तकर सम्यक्त्व रत्न पाया और क्रमशः परम पुरूषार्थ के बल पर तीर्थंकर गोत्र प्रकृति का बंध किया नन्द राजा की पर्याय में और स्वर्ग सम्पदा भोगकर तीर्थंकर हो भुक्ति के साथ अर्थात् परम वैभव को त्याग मुक्ति रमा के कन्त हो गये भव-भव के संचित पाप रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण कर्म ही लय हो जाते हैं। यहाँ तक कि अनादि मिथ्यादृष्टि भी अन्तर्मुहूर्त मात्र समय में कैवल्य पा शिवसुख प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

---

४. मुहूर्त्तेन येन सम्यक्त्वं संप्राप्त पुनरूज्झितं।
भ्रान्त्वापि दीर्घकालेन स सेत्स्यति मरीचिवत् ॥

अर्थ - एक मुहूर्त के लिये ही जिसे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ और फिर छूट गया वह दीर्घकाल पर्यन्त संसार में भ्रमण करके मरीचिकुमार के समान सिद्धि को तो प्राप्त होगा ही। सम्यक्त्व की महिमा को बताते हुए यह श्लोक है ॥ ४ ॥

◆ सम्यग्दर्शन का लक्षण–

सांग मूढ़तामद रहित, भक्ति सद्देव गुरु शास्त्र।
सात तत्त्व श्रद्धान से, होता समकित भ्रात॥ ५॥

अर्थ – समीचीन सच्चे देव (आप्त-सर्वज्ञ), निर्ग्रन्थ, वीतरागी, दिगम्बर गुरु और १८ दोष रहित सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी द्वारा उपदिष्ट पूर्वापर विरोध रहित शास्त्र-आगम का तथा सात तत्त्वों का अष्ट अंग सहित एवं तीन मूढ़ता, आठ मद, छः अनायतन, आठ शंकादि दोषों से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अतः हमें **"तत्त्वश्रद्धाणं सम्यग्दर्शनं"** परिभाषा ही सही नहीं इसीलिए श्री उमास्वामी आचार्य श्री ने **"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं"** कहा है। जिस क्षण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, उसी काल से उस श्रद्धालु के जीवन की दिशा ही बदल जाती है॥ ५॥

◆ सम्यग्दर्शन के दोष

तीन मूढ़ता आठ मद, षट् अनायतन जान।
वसु शंकादि पच्चीस इम, समकित दोष पिछान॥ ६॥

अर्थ – तीन मूढ़ता, आठ मद, छः अनायतन, आठ शंका-कांक्षा आदि दोष २५ हैं। इनके द्वारा सम्यग्दर्शन मलिन होता है॥ ६॥

---

५. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम तपोभृतां।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ रत्नकरण्ड श्रा.॥

अर्थ – सच्चे देव शास्त्र गुरू का तीन मूढ़ता रहित आठ अंग सहित श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। जीवाजीवास्रवबंधसंवर निर्जरामोक्षास्तत्त्वं। (तत्त्वार्थ सूत्र)

६. मूढत्रयं मदश्चाष्टो तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः॥...

* **सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग–**

शंका कांक्षा ग्लानि नहीं, तत्त्व-कुतत्त्व पिछान।
उपगूहन वात्सल्य थिति, अंग प्रभावन जान ॥ ७ ॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन की निर्मलता व पुष्टि के कारण भूत आठ हैं, इसी से ये अंग कहलाते हैं।

वे हैं – १. जिनेन्द्र प्रणीत तत्त्वों के विषय में शंका नहीं करना। अर्थात् निःशंकित अंग, २. निः कांक्षित अर्थात् आगामी भव में इन्द्रिय जन्य विषयों की वाञ्छा नहीं करना, ३. निर्विचिकित्सा अंग अर्थात् धर्म और धर्मात्माओं में ग्लानि नहीं करना, ४. अमूढदृष्टित्व अंग अर्थात् सदसत् तत्त्वों का विचार कर सुतत्त्वों समीचीन तत्त्वों का ग्रहण करना, श्रद्धान करना, ५. उपगूहन अंग - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्रतिकूलता व अशुभ कर्मोदय में यदि कोई साधर्मी भाई-बहिन या साधु-सन्तों द्वारा अपने व्रतों-नियमों, त्याग, षड्कर्मों में दोष लग जाये, व्रतादि भंग हो जाय तो उसे छिपाना, जन सामान्य में प्रकट न कर प्रच्छन्न रूप से अपराधी को समझा कर दूर करने का प्रयत्न करना, ६. वात्सल्य अंग - धर्म और धर्मात्माओं में गौ-वत्स समान निष्कपट प्रीति करना, ७. स्थितिकरण अंग - धर्मी जन-यति या श्रावक किसी विशेष परिस्थितिवश, व्रतादि धर्म क्रियाओं से च्युत हो जाय तो उसे धैर्य बंधा उपदेशादि देकर पुनः धर्म में दृढ़ता से स्थापित करना और ८ विद्या, मंत्र विशेष पंचकल्याणादि, विधि-विधान, रथोत्सवादि द्वारा जिनधर्म का माहात्म्य प्रकट करना प्रभावना अंग है ॥ ७ ॥

---

*...**अर्थ** – तीन मूढ़ता, आठ मद, ६ अनायतन, आठ शंकादि दोष – ये २५ सम्यग्दर्शन के दोष हैं। सम्यक्त्व के आठ अंगों के पालन से शंकादि दोषों का निराकरण होता है ॥ ६ ॥*

◆ प्रथम निःशंकित अंग का लक्षण–

आप्त कथित जीवादि सब हैं अनेकान्त स्वरूप।
अन्य नहीं, अन्य प्रकार नहीं, यही निशंकित अंग ॥ ८ ॥

अर्थ – परमदेव अरहंत तीर्थंकर देव उपदष्टि तत्त्वों के विषय में ये अनेकान्त धर्म सिद्ध जैसे हैं वैसे ही हैं, अन्य प्रकार नहीं हो सकते। अन्य प्रकार से जो एकान्तवादियों द्वारा परिकल्पित हैं उस प्रकार वे समीचीन तत्त्व कदाऽपि नहीं हो सकते इस प्रकार का अकाट्य श्रद्धान करना निःशंकित अङ्ग है। इस अंग का धारी विपत्ति, उपसर्ग आदि आने पर भी अपने श्रद्धान से उसी प्रकार चलायमान नहीं होता जैसे असि-तलवार पर चढ़ी चमक उसके छिन्न-भिन्न होने पर भी विचलित चलायमान नहीं होती। जिस प्रकार अंजन चोर ने श्रेष्ठी द्वारा प्राप्त मंत्र श्री णमोकार पर अटल विश्वास, श्रद्धान कर निर्भय होकर क्षणमात्र में विद्यासिद्ध कर ली फलतः कैलाशगिरि पर जा निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु बन घोर तपस्या में लीन हो गया। घोर साधना निश्छल ध्यान द्वारा अष्टकर्मों को विध्वंश कर अंजन से निरंजन बन गया। अनन्त काल को अनन्तचतुष्टय हो गया ॥ ८ ॥

◆ द्वितीय निश्काङ्छित अंग का लक्षण–

क्षणभंगुर जान राज्यादि पद, पुत्र धन-धान्य सम्पदा।
धर्मानन्दी चाहे नहीं इनको, निःकांक्षित हो सर्वथा ॥ ९ ॥

अर्थ – सम्यग्दष्टि सांसारिक शरीर, भोग, सम्पदा, धन, दारा आदि

---

८. सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या ॥ पु. सि. / २३।

अर्थ – सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट सम्पूर्ण वस्तु समूह अनेकान्तात्मक कहा गया है। वह कथन सत्य है या असत्य ? ऐसी शंका न होना निःशंकित अंग कहलाता है ॥ ८ ॥

पदार्थों को सर्वथा क्षणभंगुर अनुभव करता है, भोगोपभोग पदार्थों, विषय-वासना से उदासीन रहता है। विरक्त रहकर आत्म साधना में रत रहता है। गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी जल में पंकज की भांति अलिप्त रहता है फिर भला, तप साधना, धर्मध्यान कर उनसे परभव में स्वर्गादि सम्पदा, वैभवादि आकांक्षा क्यों करेगा ? अतः परभव में भोगों की आकांक्षा से विरत होना निःकांक्षित अंग है। इसका पालक धर्मानन्द में मग्न रहता है ॥ ९ ॥

* तृतीय निर्विचिकित्सा अंग का लक्षण

स्वभाव से अपवित्र तन, रत्नत्रय युत हो शुद्ध।
ग्लानि रहित गुण प्रीतिहि, निर्विचिकित्सा बुद्ध ॥ १० ॥

अर्थ - शरीर की स्वभाव से स्थिति क्या है ? नवद्वार बहे घिनकारी। अर्थात् शरीर हाड़-मांस, चर्म, रक्त, पीव, मल-मूत्र का भण्डार है। यदि मल से भरा, मल ही से निर्मित घट में पवित्रता खोजें तो क्या प्राप्त होगी ? नहीं। इसी प्रकार यह मानव शरीर भी पिता का वीर्य और माता की रज के निश्रण से निर्मित है और ऐसे पदार्थों से भरा है। तथाऽपि इसकी भी पवित्रता रत्नत्रय धारण से हो सकती है। इस रत्नत्रय परम पवित्र औषधि के धारक परम वीतरागी दिगम्बर जैन साधु होते हैं। फलतः उनका अपावन शरीर भी तप साधना से पवित्र हो जाता है। उनके शरीर को बाह्य मल, धूल-मिट्टी, पसेवादि से मलिन

---

९. इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥ २४ ॥ पु. सि. ॥

अर्थ - इस जन्म में स्त्री पुत्र धन-धान्य आदि वैभव की तथा परलोक में चक्रवर्ती, नारायण इन्द्र आदि पदों की इच्छा न होना निःकांक्षित अंग है। सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि वैभव का मिलना न मिलना पुण्य पाप कर्मोदय के आधीन है इच्छानुसार ये कभी किसी को मिलते नहीं अतः तज्जन्य इच्छायें उसकी चित्तभूमि में उत्पन्न ही नहीं होती है ॥ ९ ॥

होने पर घृणा-ग्लानि नहीं करना सम्यग्दर्शन का तीसरा निर्विचिकित्सा नामक गुण है। महान तार्किक विद्वान् आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने भी अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ के १३ वें श्लोक में यही भाव निरुपित किया है। विशेष रूप से जानने के इच्छुक को वहाँ से ज्ञातव्य है। इस अंग के पालन में उद्दायन राजा का नाम प्रसिद्ध है। इसे ज्ञात कर हमें ग्लान, रुग्न, वृद्धादि साधुओं की अनुराग पूर्वक सेवा, सुश्रूषा करना चाहिए। मल, मूत्र, वमन आदि होने पर उनकी शुद्धि करने का यथोचित प्रयत्न करना चाहिए॥ १० ॥

◆ चौथा अमूढदृष्टि अंग का लक्षण

कुपथ कुमार्गिन को तथा, मन से नाहिं सराही॥
तन से नुति वचन प्रशंसा न करे, अमूढ दृष्टि कहाहि॥ ११॥

अर्थ - जिनेन्द्र देव प्रणीत मोक्षमार्ग सन्मार्ग है, रत्नत्रय धारी इस पथ के राही सम्यक मार्गी कहलाते हैं, इनसे विपरीत हिंसादि पाप वर्द्धक यज्ञ यज्ञादि करना, वृक्ष पौधों की पूजा, मिथ्या दृष्टि देवी-देवताओं, पाखण्डियों द्वारा चलाया मार्ग कुपथ है क्योंकि इससे आत्मा मलिन, अनन्त संसार सागर में भ्रमण करता है। ऐसे कुमार्ग और उस पर चलने वालों की मन, वचन, काय से प्रशंसा, स्तुति, विनयादि नहीं करना अमूढ दृष्टि नामक सम्यग्दर्शन का अंग है। इसका पालन करने में आत्मा का श्रद्धागुण पुष्ट होता है। इस अंग के पालन में रेवती रानी ने प्रसिद्धि प्राप्त की थी। क्षुल्लक जी द्वारा परीक्षार्थ ब्रह्मा,

---

१०. क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया॥ पु. सि. २५॥

अर्थ - भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी इत्यादि नाना प्रकार की अवस्थाओं में तथा विष्टा आदि पदार्थों में ग्लानि नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है।

विष्णु, महेश का ही नहीं, अपितु जिनेन्द्र प्रभु का समवशरण रचने पर भी उसका श्रद्धान चलायमान नहीं हुआ ॥ ११॥

• पांचवाँ उपगूहन अंग स्वरूप

आत्म वृद्धि की वृद्धि हित, क्षमादि भाव न भाय।

निज गुण पर अवगुण ढकन, उपगूहन कहलाय ॥ १२ ॥

अर्थ - सम्यक्त्व का पांचवाँ अंग उपगूहन है। गूहन का अर्थ है ढँकना और उप का अर्थ समन्तात या पूर्णतः होता है। इसी का दूसरा नाम "उपवृहण" भी है। यहाँ श्लोक में दोनों ही शब्दों को लेकर वर्णन है। प्रथम, तप, ध्यान, संयम, त्याग, व्रतोपवासादि, कषायोपशमनादि गुणों-क्रियाओं द्वारा आत्म शक्ति की वृद्धि करना, आत्म गुणों का प्रकटीकरण करना अर्थात् आत्मा को कर्म मल से विमल करते जाना "**उपवृहण**" अंग है।

द्वितीय शब्दापेक्षा निज गुणों और पर के दूसरे भव्यों के अवगुणों-दोषों को आच्छादित करना, प्रकाशित नहीं करना "**उपगूहण**" है। अर्थापेक्षा मीमांसा करने पर कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही अर्थ एक मात्र आत्मोत्थान, आत्मविकास करना ही है। कर्मास्रव के प्रकरण में श्री उमास्वामी ने कहा है "**तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य**" ॥ ६/२७ सू.। अर्थात् नीचगोत्र के आस्रव के कारणों से विपरीत आत्म निन्दा, अन्य प्रशंसा, गुणीजनों में

---

११. लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।

नित्यमपि तत्त्वरूचिना कर्त्तव्यमूढ़दृष्टित्वम् ॥ २६ ॥ पु. सि.

अर्थ - लोक व्यवहार में (लोक मूढ़ता में) शास्त्राभास में, धर्माभास में, देवता भास में और चकार से तत्त्वाभास, आप्ताभास आदि में धर्म के किसी भी पहलू में - तत्त्वाभिरूचि रखने वाला सम्यग्दृष्टि श्रद्धालु नहीं होता - इस प्रकार श्रद्धा में मूढ़ता नहीं होना ही अमूढ़दृष्टि अंग है ॥ ११ ॥

विनय, भक्ति, श्रद्धाभाव रखने से उच्चगोत्र की प्राप्ति होती है जो सम्यग्दर्शन प्राप्ति और विकास का प्रमुख कारण है। अतएव उपगूहन अंग भी निर्मल सम्यग्दर्शन का विशेष अंग है, गुण है। इस गुण में जिनेन्द्रदत्त श्रेष्ठ ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। आगम में उल्लेख है कि कपट वेशधारी क्षुल्लक को विनय और श्रद्धा से विश्वास कर अपने चैत्यालय में निवास स्थान दे दिया।

एक दिन सेठ बाहर गाँव जाने तैयार हुआ तो मायावी क्षुल्लक को चैत्यालय रक्षण का भार प्रदान कर निकला परन्तु कुछ विलम्ब होने से जहाज चूक गया और वापिस घर की ओर लौटा। इधर अवसर पाकर वह कपटी वैडूर्यमणि का छत्र चुराकर भागा, परन्तु उसकी कान्ति को नहीं छुपा सका और उसे पकड़ने को दौड़े इसी बीच सामने से सेठ आता मिला, उसने शान्ति से कारण ज्ञात किया और द्वार रक्षकों को डाँटकर कहा, "अरे, छत्र तो मैंने ही मंगाया है, आप क्षुल्लक महाराजजी को क्यों परेशान करते हो। फलतः वह मायावी भी सच्चा साधु हो गया और धर्म का भी रक्षण हो गया। अतः हमें इस अंग का पालन करना चाहिए॥ १२॥

• छठवाँ स्थितिकरण अंग का लक्षण

समकित ज्ञान चरित्र से, विचलित निज पर जान।
पुनः धर्म में दिढ़ करन, सुस्थिति करण पिछान॥ १३॥

---

१२. धर्मोऽभिवृर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्॥ २७ पु. सि.।

अर्थ – *(उपगूहन का दूसरा नाम उपवृंहण है यहाँ उपवृंहण की अपेक्षा भी कथन जानना।) उपवृंहण गुण के लिए मार्दव आदि भावना से सदा अपनी आत्मा का धर्म बढ़ाने योग्य है और दूसरे के दोषों को ढकना भी योग्य है।*

नोट – *रत्नत्रय स्वभाव की सिद्धि पुष्टि एवं वृद्धि करना उपवृंहण है और दूसरे के दोषों को प्रगट न करना उपगूहन है।*

अर्थ – मानव जीवन अनेक रोग, शोक, आधि, व्याधियों से घिरा होता है। कब किस निमित्त से ये आपत्तियाँ उमड़ पड़ती हैं यह निश्चित नहीं होता। तीव्र कषायादि के उदय आने पर असह्य वेदना से, कलुषित-खोटी संगति, दर्प, अज्ञानता, मंत्र-तंत्र-यंत्रादि के मिथ्या चमत्कारों से प्रमाद वश सामान्य त्यागी, व्रती, क्या विशेष संयमी, साधु-सन्त आदि भी अपने व्रत, शील, संयम से स्खलित, च्युत, चलायमान हो जाते हैं। धर्म से विपरीत आचरण करने लगते हैं।

इस स्थिति में धर्मानुराग से, सिद्धान्त रक्षण भाव से तथा करुणा, दया, वात्सल्य से समझाकर, तत्त्वोपदेश देकर प्रेम से पुनः धर्मारूढ़ करना स्थितिकरण अंग है। अर्थात् स्वयं हो या अन्य जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र से पराङ्मुख हो रहा हो उसे येन-केन प्रकारेण सन्मार्ग पर लाना, पुनः कर्त्तव्य निष्ठ करना स्थिति करण है। उसे मानव जीवन और धर्म की दुर्लभता समझाना तथा व्रत भंग के कटु फल दुर्गति, दुःख तापादि दर्शाकर भय उत्पन्न कराना, धिक्कारादि से तिरस्कृत कर लज्जा उत्पन्न कराना आदि साम, दाम कर धर्म में सुस्थिर करना चाहिए। कभी उसकी प्रशंसा भी कर मार्गारूढ़ किया जा सकता है यथा आप तो महान् हैं, उच्च कुलोत्पन्न हैं, वीर हैं, साहसी, उत्तम कार्यकर्ता हैं, फिर यह क्या कार्य कर रहे हो ? क्या यह आपके अनुकूल है ? आप जैसे महापुरुष या सन्त को ऐसा करना योग्य है क्या ?

इत्यादि वाक्यों से इस प्रकार उद्बोधन करने पर वह अपनी भूल को स्वयं अनुभव कर सुधार करने को उद्यमी हो जायेगा। यथा प. पू. १०८ मुनि श्री वारिषेण मुनिराज के द्वारा एकाक्षी स्त्री में अनुरक्त पुष्पडाल मुनि को १२ वर्ष के सुकठिन उपायों से भावलिंगी साधु बना आत्म कल्याण में तत्पर किया था। आगम से इसकी कथा अवश्य पढ़िये और स्थितिकरण अंग पालन कर अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने का प्रयत्न करिये॥ १३॥

◆ सातवाँ वात्सल्य अंग–

सुखद अहिंसा धर्म से, धर्मी जनों से प्रेम।
कपट रहित गौ वत्स सम, पाले वत्सल एम ॥ १४ ॥

अर्थ – अहिंसा जिनागम का प्राण है, मानव जीवन की रीढ़ है, मानवोन्नति की मूल है, आत्मा को परमात्मा बनाने का मोहन, अमोघ मंत्र है। आगम में कहा है जो मानव प्राणीमात्र में जिनवर का रूप देखता है और जिनवर में जीव का आरोपकर परखता है वह अतिशीघ्र निर्वाण पद प्राप्त करता है।

धर्म के सदृश ही धर्म में अनुरागी धर्मात्माओं के प्रति जो अति स्नेह, प्रेम का व्यवहार करता है वह वात्सल्य अंग कहलाता है। जिस प्रकार गाय प्रत्युपकार की आशा रहित निष्कपट भाव से, सरल परिणामों से अपने बछड़े-बछड़ी के प्रति अनुराग करती है उसी प्रकार धर्म और धर्मात्माओं में प्रेम करना वात्सल्य है। अहिंसा क्या है ? "अत्ता चैव अहिंसा" अर्थात् आत्मा ही अहिंसा है।

समन्तभद्रस्वामी ने भी कहा है "रत्नत्रयधारी मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका, व्रती-अव्रती सम्यग्दृष्टियों के प्रति यथायोग्य प्रेम, वात्सल्य भाव रखना, निष्कपट भाव से विनय करना, नमस्कार, आसन प्रदान, मार्गानुगमन, वन्दना, विहार करना, आहारादि देना, सेवा सुश्रूषा करना, वैयावृत्ति करना, साधर्मियों का सम्मान करना, मधुर व्यवहारादि करना वात्सल्य है। इस महान

---

१३. कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥ २८ पु. सि. ॥

अर्थ – जीव को न्याय मार्ग = धर्म पथ से विचलित करने के लिये जब काम क्रोध मद आदि का उदय होता है तब पापोदय से ग्रस्त होने पर अपने को और दूसरे जीवों को शास्त्र अनुसार युक्ति अनुसार समीचीन न्याय मार्ग पर स्थिर करना सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अंग है ॥ १३ ॥

अंग के पालन में श्री विष्णुकुमार मुनिराज प्रसिद्ध हुए हैं, जिनके प्रभाव से ७०० मुनिराजों की प्राण रक्षा, धर्म रक्षा, धर्मीजनों की रक्षा हुई। तथा उसी निमित्त से आज भी उस दिन का स्मरण कर ''रक्षाबन्धन'' नाम से महोत्सव मनाते हैं। जन-जन में प्रेम-वात्सल्य की सरिता सतत प्रवाहित रहती है। प्रत्येक जिनधर्मावलमबी को इस अंग का निष्प्रमाद होकर पालन करना चाहिए॥ १४॥

◆ **आठवाँ प्रभावना अंग**

यथा शक्ति रुचि से करे, अहिंसा धर्म प्रचार।
जिससे महत्व जिन शासन का, प्रकटे अपरम्पार॥ १५॥

अर्थ - जिनशासन में सर्वथा, सर्वत्र अंहिसा का ही प्राधान्य है। इसीलिए अहिंसा धर्म कहा है। इस धर्म का प्रचार करना, माहात्म्य प्रकट करना, जिनशासन का प्रचार है। इसको मन, वचन, कायादि नव कोटि से यथाशक्ति करना प्रभावना अंग है। अन्यत्र आगम में विस्तार रूप से इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि प्रभावना दो प्रकार की है - आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से। अर्थात् आत्म प्रभावना और जिनशासन प्रभावना।

कठोर तप, साधना, ध्यान, अध्ययन, तत्त्व चिन्तन, आत्मानुभूति द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र रत्नत्रय की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए उसके प्रकाश से आत्मा की प्रभावना करना आभ्यन्तर प्रभावना है। तथा विद्या, बुद्धि, ऋद्धि, मंत्र, तंत्र, यंत्रादि द्वारा जिनधर्म, जिनशासन की प्रभावना करना बाह्य धर्म प्रभावना है। यथा जिनालय निर्माण, जिन प्रतिमा निर्माण, पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा, रथोत्सव, शास्त्र रचना, प्रवचन करना, अध्यापन

---

१४. अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबंधने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्॥ २९ पु. सि.॥

अर्थ - मोक्ष सुख रूपी लक्ष्मी को कारण भूत अहिंसामय धर्म में (रत्नत्रय धर्म में) और सब धर्मात्माओं में भी निरन्तर उत्कृष्ट प्रीति का होना वात्सल्य अंग है॥ १४॥

कराकर आबाल वृद्ध जनों को तत्त्व समझाकर सन्मार्गारूढ़ करना इत्यादि कार्यों से जिन शासन की महिमा प्रकट होती है। महान उत्सवों, नृत्य-गान, जिन गुण स्तवनादि का श्रवण कर विधर्मी-मिथ्यादृष्टि भी आश्चर्य चकित हो जिनधर्म प्रशंसा करें और कहें वस्तुतः जिनधर्म ही सनातन, समीचीन, सच्चा धर्म है। कल्याणकारी है, प्राणीमात्र का हित करने वाला है। इस प्रकार की महिमा प्रकट कर प्रभावना अंग का पालन करना चाहिए।

श्रावक ही नहीं मुनिराज भी धर्म रक्षणार्थ जिनशासन का प्रचार-प्रसार कर इस अंग को धारण और पालन करते हैं। उदाहरणार्थ श्री मुनि श्री वज्रकुमारजी ने उर्विलारानी का आकाशमार्ग से बुद्धदासी के रथ के पूर्व चलवाकर जिनधर्म का नजारा, चमत्कार दिखलाकर धर्म का डंका बजवाया था। फलतः समस्त प्रजा ने और साथ ही बुद्धदासी ने भी इस माहात्म्य को देखकर जैन धर्म स्वीकार किया। सम्यग्दर्शन रत्न प्राप्त किया। हमें भी इसी प्रकार वृहद् प्रभावना कर कलियुग को सतयुग बनाने में उद्यमशील होना चाहिए॥ १५॥

◆ मूढ़ता का स्वरूप

जब सत-असत विवेक बिन, धर्म कल्पना होय।
लोक देव गुरू मूढ़ता, त्रिविध कहावे सोय॥ १६॥

अर्थ - मूढ़ता का अर्थ है अज्ञान। अर्थात् मूर्खता पूर्वक व्यवहार। जब मनुष्य सत्य-असत्य का विचार न कर विवेकहीन होकर विरुद्ध श्रद्धान, विपरीत तत्त्व, देव, शास्त्र, गुरु की मान्यता कर लेता है। अर्थात् अदेव में देव कुगुरु में

---

१५. आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥ ३० पु. सि.॥

अर्थ - निज रत्नत्रय के तेज से सदा आत्म प्रभावना करना तथा दान, तप, जिनपूजा, विद्या (शास्त्रज्ञान) की वृद्धि द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करना प्रभावना अंग है। प्रभाव युक्त होना प्रभावना है॥ १५॥

सद्गुरु, अधर्म में धर्म की कल्पना कर बैठता है। यही मूढ़ता है। मोक्षमार्ग रूप रत्नत्रय के आधार देव, शास्त्र एवं गुरु प्रधान हैं। इनका स्वरूप व लक्षण यथार्थ ज्ञात न कर यद्वा-तद्वा स्वीकार करने पर मिथ्यामार्ग, संसार परिभ्रमण का पथ बन जाता है। मूढ़ता के आधार तीन के विषय में विपरीत कल्पना व धारणा के कारण मूढ़ता के भी तीन भेद हो जाते हैं - १. देव मूढ़ता, २. गुरु मूढ़ता और ३. धर्म मूढ़ता या लोक मूढ़ता। इनका सच्चा स्वरूप ज्ञात करने को देव, शास्त्र, धर्म या आगम व गुरु का लक्षण ज्ञात करना आवश्यक है।

१. देव का स्वरूप - जिसमें १८ दोषों का अभाव हो - वे दोष हैं - १. क्षुधा-भूख, २. तृषा-प्यास, ३.वृद्धत्व, ४. रोग, ५. जन्म, ६. मरण, ७. भय, ८. विस्मय (आश्चर्य), ९. राग, १०. द्वेष, ११. मोह, १२. निद्रा, १३. स्वेद (पसीना), १४. खेद, १५. चिन्ता, १६. अरति, १७. शोक, १८. खेद हैं। जो सर्वज्ञ, हितोपदेशी और वीतरागी होता है वही सच्चा देव कहला सकता है। इसके विपरीत जो उपर्युक्त दोषों से सहित हैं, पुत्र, कलत्र, अस्त्र-शस्त्रादि से सहित रहने वाला कदाऽपि सच्चा देव होने योग्य नहीं हो सकता है। इनकी परीक्षा न करके मिथ्या देवों की वर की आशा से अर्थात् पुत्र, सम्पत्ति, वनिता, वैभवादिक की आकांक्षा से उपासना, पूजा करना देवमूढ़ता है। इससे मिथ्यात्व सेवन से अनन्त संसार की वृद्धि होती है अतः उभयलोक सुख के इच्छुकों को विवेक जागृत कर देवमूढ़ता का त्याग करना चाहिए।

२. गुरु मूढ़ता - परिग्रहधारी, आरम्भ में संलग्न, हिंसा कर्म रत, विषय-कषायों में प्रवर्तन करने वाले, जटाजूट धारी, भगवा वस्त्रधारी, मिथ्या धर्म प्रवर्तनादि में लगे हुए, अपने को गुरु मन्यमाना को गुरु मानकर उनकी सेवा, सुश्रूषा, पूजा, आदर-सत्कार करना गुरु मूढ़ता है।

जो आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा रहित, वीतरागी दिगम्बर साधु ही सच्चे गुरु होते हैं। इसकी परीक्षा न कर पाखण्डियों को गुरु मानना मूढ़ता ही तो है।

३. लोकमूढ़ता – धर्म समझकर सागर की लहर लेना। नदी में स्नान करना, पत्थरों का ढेर लगाना, पर्वत से गिरना, जीवन्त अग्नि में जलकर सती होना, रेत-धूलि का ढेर लगाना इत्यादि लोकमूढ़ता है। ये तीनों मूढ़ताएँ विपरीत होने से दुःख सागर-संसार में डुबोने वाली हैं। इनसे अपनी रक्षा करना ही सच्चा विवेक है। अतः विवेकी बनो ॥ १६ ॥

---

१६. (क) आपगासागरस्नान मुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ रत्न. श्रा. २२ ॥

अर्थ – धर्म बुद्धि से नदी वा समुद्र में स्नान करना, बालू-रेत की ढेर लगाना, पर्वत से गिरना, अग्नि में जलना आदि लोकमूढ़ता है।

(ख) वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवतायदुपासीत, देवतामूढमुच्यते ॥

अर्थ – आशा-तृष्णा के वशीभूत होकर वांछित फल की प्राप्ति की अभिलाषा से राग-द्वेष से मलिन-काम क्रोध मद मोह तथा भय आदि दोषों से दूषित देवताओ को, देवाभासों को, देवबुद्धि से पूजना उनकी उपासना करना देवमूढ़ता है।

(ग) सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥ २४ रत्न. श्रा. ॥

अर्थ – जो धन-धान्यादि परिग्रह से सहित है, कृषि वाणिज्यादि सावद्य कर्म करने से आरंभ सहित है। आरंभ, उद्योगी, संकल्पी तथा विरोधी हिंसा में रत है।

संसार में भ्रमण के कारण भूत विवाहादि कर्मों द्वारा दुनिया के चक्कर-गोरख धन्धे में फँसे हुए हैं ऐसे दुष्ट पाखण्डियों को सुगुरु बुद्धि से पूजना उनका आदर सत्कार करना गुरुमूढ़ता या पाखण्डिमूढ़ता है।

*"**विशेष – पापं खण्डयति इति पाखण्डी**" जो पाप का खण्डन करने वाला हो वह पाखण्डी है यह निरुक्ति अर्थ है। इस निरुक्ति का अर्थ सत्साधु है। जो सत्साधु नहीं है उन्हें भी सच्चा साधु मानना पाखण्डी मूढ़ता है। रूढ़ि से तो "पाखण्डी" शब्द कुगुरू के लिए प्रसिद्ध है। कुगुरू में गुरू बुद्धि होना पाखण्डी मूढ़ता है ॥ १६ ॥*

◆ मूढ़त्व की परीक्षा का उपाय–

अहिंसा धर्म कसौटी पर, देव, शास्त्र गुरु पहिचानों ।
जिनमें पूर्ण अहिंसा झलके, हे बुध उनमें राचो ॥ १७ ॥

अर्थ - खरे-खोटे की पहिचान की कसौटी अहिंसा धर्म है। जिनका रूप इस धर्म से सम्पन्न हो, जिनके आचरण में अहिंसा का प्रयोग हो, जो कार्य अहिंसा पुट से वासित हों वे ही समीचीन सच्चे देव, गुरु, शास्त्र हैं, इनसे विपरीत को मिथ्या समझो। आगम से पहिचान करो, विशेष रूप से समझो और मानों।

जिससे संसार के बीज मिथ्यात्व से अपना रक्षण कर सको तथा संसारोच्छेदक सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त कर रत्नत्रयमयी आत्मा को परमात्म रूप प्रदान कर चिरसुख पा सकोगे। नीर-क्षीर न्यायवत् बुद्धि कौशल जाग्रत करना चाहिए। यही विवेक है ॥ १७ ॥

◆ मदों की नामावली–

प्रभुता ज्ञानसुजाति कुल, तप धन बल अरु रूप।
पाय आठ इन मान नहीं, करे समकीती भूप ॥ १८ ॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन को मलिन-दूषित करने वाले आठ भाव हैं - १. ज्ञान मद, २. पूजा (प्रभुता) मद, ३. जाति मद, ४. कुलमद, ५. बल, ६. ऋद्धि, ७. तप और ८. रूप मद।

१. ज्ञान मद - ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम विशेष से विशेष ज्ञान होने पर अपने को ज्ञानी और अन्य को अज्ञानी मानना, उनमें विनयादि भाव नहीं रखना ज्ञानमद है। सम्यग्दृष्टि इसे इन्द्रिय जन्य पराधीन व नश्वर समझता है, मद रहित होता है।

२. पूजा – विशेष आदर-सत्कार, पूजा, प्रशंसा प्राप्त होने पर उसका अंहकार करना पूजा मद कहलाता है।

३. जाति मद – उत्तम जाति में जन्म पाकर, उच्च गौत्र प्राप्त कर उसका अभिमान करना। अर्थात् मैं उच्च जातीय हूँ, अन्य नीच हैं ऐसा विचार कर उनका तिरस्कार करना, घृणा की दृष्टि से देखना जाति मद है।

४. कुलमद – निर्दोष वर्ण व कुल के पाने पर उसमें अहंकार भाव होने को कुलमद कहते हैं।

५. बल – वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम विशेष से शारीरिक शक्ति अधिक मिले तो अपने को सर्वोपरि पहलवान मानकर इठलाना बलमद है।

६. ऋद्धिमद – तप विशेष से प्राप्त ऋद्धियों का घमण्ड कर उनका दुरूपयोग करना अपनी प्रभुता प्रदर्शन करना ऋद्धिमद है।

७. तप – तपश्चरण करते हुए मैं विशेष तपस्वी हूँ। मेरा तप सर्वोत्तम है। मेरे जैसा तप अन्य नहीं कर सकता ऐसी मान्यता तपमदकारी है।

८. रूपमद – पूर्वोपार्जित पुण्योदय से शरीर सौन्दर्य, रूप, लावण्य प्राप्ति में अहंकार करना रूप मद है।

इन सभी मदों का मूल मान कषाय है। आचार्य कहते हैं "**मानेन भव वर्द्धनम्**" अर्थात् मान कषाय संसार भव पद्धति बढ़ाने वाली है सम्यक्त्व की घातक है। अतः त्याज्य है ॥ १८ ॥

---

१८. ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ रत्न श्रा. ॥

अर्थ – विद्या का मद, ज्ञानमद, आदर-सत्कार आदि का मद, कुल मद, जाति मद, ऋद्धि मद, तप का मद, शरीर का मद – ये आठ मद या अहंकार हैं। निमित्त की अपेक्षा होने वाले भेदों की यहाँ विवक्षा है ॥ १८ ॥

• **सच्चे देव का स्वरूप**

सत्यदेव सब दोष बिन, सत्य गुरु बे चाह।

सत्य शास्त्र अहिंसोपदेशी, तीन रतन जगमांहि ॥ ११ ॥

अर्थ - उपर्युक्त अठारह दोषों से रहित, छियालीस गुणों से सम्पन्न, चार घातियाँ कर्मों के नाश करने वाला, सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी परम सर्व जीवन कल्याण कर्ता दुःखों का हर्ता, संसार तारक, मोक्षमार्ग आरूढ़ कर्ता परम पूज्य अरहंत परमेष्ठी ही सच्चे देव हैं। इसके विपरीत स्वरूप से युक्त कोई अन्य व्यक्ति सच्चा देव नहीं हो सकता है। सच्चे देव के ४६ गुणों में ८ प्रातिहार्य, ४ अनन्तचतुष्टय, १० जन्म के अतिशय, १० केवलज्ञान के अतिशय और १४ देवकृत अतिशय होते हैं।

८ प्रातिहार्य - १. छत्रत्रय, २. चमर चौसठ, ३. भामण्डल, ४. अशोक वृक्ष, ५. देव दुंदुभि, ६. दिव्य पुष्प वृष्टि, ७. गंधोदक वृष्टि और ८. रत्नमयी सिंहासन होते हैं।

४ चतुष्टय अनन्त - अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ये चार अनन्त चतुष्टय होते हैं।

१० जन्मातिशय - १. अतिशय सुन्दर रूप, २. पसेव रहित शरीर, ३. मल-मूत्र रहित शरीर, ४. सुगन्धित शरीर, ५. दूध के समान सफेद रक्त, ६. वज्र वृषभ नाराच संहनन, ७. प्रिय-हित वचन, ८. अप्रमित वीर्य, ९. १०८ शुभ लक्षण युत शरीर और १० समचतुरस्र संस्थान ये जन्म के १० अतिशय होते हैं।

कैवल्य के १० अतिशय - १. चारों दिशाओं में सौ-सौ योजन पर्यन्त सुभिक्ष होना, २. आकाश में गमन, ३. अदया का अभाव, ४. कवलाहार नहीं होना, ५. उपसर्ग का अभाव, ६. चारों ओर मुख दिखना, ७. सम्पूर्ण

विद्याओं का ईश्वरपना, ८. पलकों का नहीं झपकना, ९. नख-केशों की वृद्धि का अभाव, १०. ताल-ओष्ठ का स्पंदन नहीं होना।

देवकृत १४ अतिशय - १. अर्द्धमागधी भाषा, २. सर्व प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव अर्थात् स्वभाव विरोधी सर्प-नेवलादि में भी प्रेम होना, ३. सर्व ऋतुओं के फल-फूल एक साथ फलना, ४. दर्पण समान भूमि का होना, ५. मंद-सुगंध बयार, ६. सर्वजन आनन्द, ७. सुगंधित वायु बहना, ८. एक-एक योजन की भूमि धूल-कंटक रहित होना, ९. सुगंधित गंधोदक वृष्टि, १०. प्रभु के चरणों के न्यास नीचे २२५ स्वर्ण कमलों की रचना, ११. शस्यस्यामला भूमि होना, १२. शरद कालीन समान सरोवरों का जल व निर्मल आकाश का होना, १३. दिशाओं का निर्मल होना और १४. धर्म चक्र का आगे-आगे चलना।

इस प्रकार ३४ अतिशय, ८ प्रातिहार्य और ४ अनन्त चतुष्टयों से सहित ही सच्चा देव होता है। वे ही आराध्य-पूज्य हैं।

पूर्वकथित निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु ही सच्चा गुरू है और आप्त अरहंत प्रभु प्रणीत, पूर्वापर विरोध रहित, मिथ्यात्व खण्डक आगम ही सच्चा प्रामाणिक शास्त्र है। इसी से इन्हें तीन रत्न (देव, शास्त्र, गुरु) कहा है क्योंकि ये ही तीनों रत्नत्रय धर्म की आधारशिला हैं॥ १९॥

• सप्त तत्त्व नामावली

जीव अजीव के योग से, करे कर्मास्रव अरु बंध।
संवर निर्जर कर्म हनि, पाये शिव सम्बन्ध॥ २०॥

अर्थ - जिनागम में सात तत्त्व कहे हैं - १. जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बंध, ५. संवर, ६. निर्जरा और ७. मोक्ष। चेतना गुण जिसमें है

वह जीव है, २. चेतना रहित अजीव कहलाता है, ३. कर्मों का आत्मा में आना आस्रव है, ४. कर्मों का आत्म प्रदेशों के साथ एक-मेक होना बंध है, परिणाम विशेष से कर्मों का आना, रूक जाना संवर है, पूर्वबद्ध कर्मों का आत्मा से एकदेश क्षय होना निर्जरा है और सर्वकर्म क्षय होना मोक्ष है ॥ २० ॥

◆ आयतनों के विपरीत अनायतन का स्वरूप -

रागी द्वेषी देव पुनि, हिंसा पोषक शास्त्र ।

परिग्रही गुरु तीव्र ये, नहीं इनके सेवी श्रद्धापात्र ॥ २१ ॥

अर्थ - पूर्वोक्त लक्षण वाले रागी-द्वेषी देव, कुपथ-हिंसात्मक धर्म प्रतिपादक खोटे शास्त्र तथा परिग्रही विषयाशक्त गुरु ये तीनों ही मिथ्यारूप हैं इनका सेवन करने वाले तीन प्रकार के अंधभक्त मिलकर ६ अनायतन कहलाते हैं क्योंकि इन के द्वारा सम्यग्दर्शन मलिन होता है, घात होता है । इनका त्याग करना चाहिए । इनका विशेष स्वरूप लिख चुके हैं ॥ २१ ॥

---

२०. जीवाजीवाश्रवाः बन्धः संवरोनिर्जरा तथा
मोक्षश्च सप्त तत्त्वानि श्रद्धीयन्तेऽर्हदाज्ञया ॥

अर्थ *- जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व है - जिनेन्द्राज्ञा के अनुसार इनका श्रद्धान करना चाहिए । ये श्रद्धेय हैं, सम्यग्दर्शन के विषय हैं ॥ २० ॥*

२१. दोससहियंपि देवं जीवहिंसा संजुत्तं धम्मं ।
गंथा सत्थं च गुरूं जो मण्णदि सो हु कुदिट्ठी ॥

अर्थ *- रागी-द्वेषी को देव मानना, जीवहिंसा युक्त कार्य को धर्म मानना, उसी प्रकार सरागी के वचनों से रचित आप्त वचन के प्रतिकूल ग्रन्थ को आगम मानना, जो निर्ग्रन्थ वीतरागी नहीं हैं उन्हें गुरू मानना यह मिथ्यात्व है । कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरू को मानने वाला वह मिथ्यादृष्टि होता है ॥ २१ ॥*

◆ निषेध्य देशादि स्वरूप–

जिससे समकित मलिन हो, व्रत दूषित हों आप।
देश द्रव्य नर कर्म वह, सेवो नहिं कदापि आप ॥ २२ ॥

अर्थ – आचार्य श्री कहते हैं कि आत्म कल्याणेच्छुओं को अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल रखने की भावना उन द्रव्य, क्षेत्र, काल, व्यक्ति, देशादि का त्याग करना चाहिए जिनके सेवन से सम्यक्त्व दूषित हो और व्रतों में भी अतिचार लगने की संभावना हो। यहाँ इस कथन से स्पष्ट होता है कि उपादान सही होने पर भी बलवान बाह्य निमित्त उसकी दृढ़ता को चलायमान करने में समर्थ हो सकते हैं। अतः उनसे दूर रहना चाहिए ॥ २२ ॥

---

२२. (क) सग्रन्थास्ते सरागाश्च ब्रह्मा विष्णु महेश्वराः।
रागद्वेषमदक्रोधादिलोभमोहादि योगतः ॥

अर्थ – जो परिग्रह सहित हैं ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देव सरागी हैं राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ, मोहादि से कलुषित चित्त वाले भी होने से वे सरागी सिद्ध होते हैं।

(ख) रागवन्तो न सर्वज्ञाः यथा प्रकृति मानवाः।
रागवन्तश्च ते सर्वे न सर्वज्ञास्ततः स्फुटं ॥

अर्थ – वस्तु स्वभाव इसी प्रकार है कि मनुष्यादि जो जीव सरागी हैं वे सर्वज्ञ भी नहीं होते। ब्रह्मा, विष्णु महेशादि रागी हैं और द्वेषी भी। मोह के साथ अज्ञान का होना नियामक है अतः यह बात स्पष्ट है कि रागी-द्वेषी ब्रह्मा आदि देव सर्वज्ञ नहीं है।

और भी – *"आयुधप्रमदाभूषाकमंडलादियोगतः" – अस्त्र-शस्त्र, स्त्री, आभूषण, कमंडलु आदि बाह्य सामग्रियों से सहित होने से भी उनकी सरागता स्पष्ट होती है, व्यक्त होती है।*

(ग) मलिनं दर्शनं येन, येन च व्रत दूषणम्।
तं देशान्तं न तिष्ठेत्, तत्कर्माण्यपिनाश्रयेत् ॥

अर्थ – जिससे सम्यग्दर्शन मलिन होता है, व्रत दूषित होता है उस व्यापार को स्वीकार न करें और उस स्थान, देश विशेष में न ठहरें जहाँ निवास करने से सम्यग्दर्शन और व्रत में दूषण लगता है।

◆ **प्रामाणिक धर्म स्वरूप**–

वीतराग सर्वज्ञ का, कथित धर्म प्रमाण है।
क्योंकि पुरुष प्रामाण्य से, होते वचन प्रमाण हैं ॥ २३ ॥

अर्थ – "कर्ता की प्रमाणता से वचन प्रामाणिक होते हैं यह एक अकाट्य सिद्धान्त है। जो कर्ता सर्वज्ञ, सर्व का ज्ञाता है, राग-द्वेष परिणति से रहित वीतरागी है और अशेष प्राणियों का हित चिन्तक है, उसी के द्वारा प्रणीत धर्म ही प्रामाणिक धर्म है। क्योंकि आप्त ही प्रामाणिक सिद्ध हैं। अतएव उनके वचन वाणी ही राग-द्वेष रहित, पक्षपात विहीन होना संभव है। अतः अहिंसा धर्म ही सच्चा धर्म कहा जा सकता है, अन्य नहीं ॥ २३ ॥

◆ **कर्म का लक्षण**–

परिणामों का निमित्तेलहि, पुद्गल के स्कंध।
फलद कर्म शक्ति लिए, करत आत्म सम्बन्ध ॥ २४ ॥

अर्थ – संसार में अनन्तानन्त कार्माण (कर्म रूप होने की योग्यता वाले) परमाणु सर्वत्र भरे हैं। ये परमाणु एक साथ अनन्तों मिलकर वर्गणा रूप परिणति करते हैं। अनादि से कर्म बंध सहित संसारी जीव अपने राग-द्वेष रूप परिणामों से परिणति करता है, उस परिणमन से मन, वचन, काय की परिस्पंदता के साथ आत्म-प्रदेशों में भी परिस्पन्दन होता है, उस समय वे कार्माण वर्गणाएँ स्वभाव से चुम्बक से लौह की भांति आकृष्ट होकर आत्म प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाही

---

२३. सर्वविद्वीतरागोक्तो धर्मः, तमेव सूनृतं व्रजेत्।
प्रामाण्यतो यतः पुंसो वचः प्रामाण्यमिष्यते ॥

अर्थ – सर्वज्ञ वीतराग देव प्रणीत धर्म में पूर्वापर विरोध कपट भाव नहीं होता है अतः प्रामाणिक मानकर उसे ही स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि वक्ता की प्रमाणता से वचन में प्रमाणता आती है ॥ २३ ॥

नीर-क्षीर वत् मिलती है और कर्म संज्ञा प्राप्त कर लेती हैं। तत्समय में जीव के जिस प्रकार के तीव्र मंद रूप परिणाम होते हैं उसी मात्रा में तदनुसार फलदान शक्ति आगत वर्गणाओं में हो जाती है। तब ये कर्म संज्ञा प्राप्त होती है।

अन्य मतावलम्बी क्रिया-काण्ड मात्र को ही कर्म कहते हैं। पुण्य-पाप रूप क्रियाओं को ही वे शुभाशुभ कर्म मान सन्तुष्ट हैं। जैन सिद्धान्त सर्वज्ञ प्रणीत होने से इस रहस्य को अवगत कराता है॥ २४॥

◆ **कर्म के भेद**–

> **ज्ञान दर्शनावरणि पुन, वेदनी मोहनीय पर्म।**
> **आयु नाम अरु गोत्र मिलि, अंतराय वसु कर्म॥ २५॥**

अर्थ – कर्म मूल में आठ हैं। यथा १. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और अन्तराय। इनका स्वरूप निम्न प्रकार हैं॥ २५॥

---

२४. जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥ १२॥ पुरुषार्थः॥

अर्थ – जीव कृत परिणाम का निमित्त पाकर - उसकी उपस्थिति में पुद्गल रूप कार्माण वर्गणायें स्वयं ही अपनी उपादान योग्यता से कर्मभाव को प्राप्त होती हैं अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन कर जाती हैं॥ २४॥

२५. सूत्र - "आद्योज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः।" तत्त्वार्थ सूत्र अ. ८।

अर्थ - आदि का प्रकृति बन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय रूप है।

प्रकृति बन्ध का अर्थ - ज्ञानावरणादि का जो अपना स्वरूप है उस-उस स्वरूप की प्राप्ति ही प्रकृति बन्ध है। यथा-...

◆ **प्रथम कर्म–**

जिमि पट आवृत वस्तु को, जान सकति नहीं कोय।
ज्ञानावरणी के उदय वस, जीव अज्ञानी होय ॥ २६ ॥

अर्थ – ज्ञानावरणीय में दो वर्ण शब्द हैं ज्ञान और आवरण। ज्ञान का अर्थ है जीव की ज्ञातृत्व जानने की शक्ति और आवरण का अर्थ है आच्छादन करना। अर्थात् जिससे जीव का ज्ञान गुण ढका जाय या जो ज्ञान गुण को प्रकट न होने दे वो ज्ञानावरणी कर्म कहते हैं। जिस प्रकार प्रतिमा पर वस्त्र आच्छादित करने पर उनके विषय का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार इस कर्म के उदय से तत्त्वज्ञान प्रकट नहीं होता। अतः वह जीव अज्ञानी बना रहता है ॥ २६ ॥

...१. जो ज्ञान को आवृत करता है या जिसके द्वारा ज्ञान गुण आवृत किया जाता है वह ज्ञानावरण है। २. जो दर्शन को आवृत करता है वह दर्शनावरण कर्म है। ३. जो सुख-दुःख का वेदन कराता है वह वेदनीय है। ४. जो मोहित करता है वह मोहनीय है। ५. जिसके द्वारा जीव नरकादि भव को प्राप्त करता है और जो एक गति में जीव को रोके रखता है वह आयु कर्म है। ६. जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है वह नामकर्म है। यह चित्रकार की तरह शरीरादि की रचना करता है। नानामिनोति इति नाम- अनेक प्रकार के कार्य बनावे वह नाम कर्म है। ७. जिसके द्वारा जीव उच्च नीच संज्ञान को प्राप्त करता है वह गोत्र कर्म है। ८. जो दाता और पात्र के बीच उपस्थित होकर विघ्न डालता है वह अन्तराय कर्म है।

संदर्भ प्राप्त प्रश्न *– केवल विभाव रूप आत्म परिणामों के द्वारा गृहीत पुद्गल-ज्ञानावरणादि अनेक भेदों को कैसे प्राप्त होते हैं?*

उत्तर *– जिस प्रकार एक बार खाये गये अन्न का रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, वीर्य -इन सात धातु रूप परिणमन होता है उसी प्रकार एक बार भी किया गया विभाव परिणमन का निमित्त पाकर पुद्गल वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि सप्त कर्म रूप तथा आयु सहित आठ कर्म रूप परिणमन करती हैं। यही प्रकृति बन्ध है ॥ २५ ॥*

◆ **दर्शनावरणीय का स्वरूप–**

यथा सुगम नहीं होन दे, नृप दर्शन दरबान।
तथा दर्शनावरण भी, देख न देत जीवान ॥ २७ ॥

अर्थ – आत्मा के दर्शन गुण का घातक कर्म दर्शनावरणी कहा जाता है। जिस प्रकार दीवान या द्वारपाल नृपति का दर्शन नहीं होने देता उसी प्रकार इस कर्म का आत्म दर्शन नहीं होने देता ॥ २७ ॥

◆ **तृतीय कर्म स्वरूप–**

शहद लपेटी असि चखे, सुख कम दुख अति होय।
तथा वेदनीय कर्म भी, जीवन सुख दुःख देय ॥ २८ ॥

अर्थ – तृतीय वेदनीय कर्म के दो भेद हैं क्योंकि यह दोगला स्वभावी है सुख और दुःख देना। इनके नाम भी साता वेदनीय और असाता वेदनीय।

---

२६. पडपडिहारसिमज्जा हलिचित्तकुलाल भंडयारीणं।
जह एदेसिं भावा तह विय कम्मा मुणेयव्वा ॥ गा. २१ कर्मकाण्ड ॥

अर्थ - १. पट के समान ज्ञानावरण – जैसे देवता के मुख पर ढका वस्त्र देवता के ज्ञान को नहीं होने देता उसी प्रकार ज्ञानावरण ज्ञान गुण को ढंकता है। २. प्रतिहार – द्वारपाल के समान दर्शनावरण - जैसे द्वारपाल राजा को देखने से रोकता है वैसे ही यह कर्म - अन्तर्मुखचित्प्रकाश नहीं होने देता है। ३. असि – शहद लपेटी तलवार के समान वेदनीय कर्म - जो इन्द्रिय जन्य सुख दुःख का अनुभव करावे - अव्याबाध सुख का घात करे वह वेदनीय कर्म है इसका स्वभाव शहद लपेटी तलवार की धार के समान है जिसको चखने से कुछ सुख का अनुभव तो होता है पर जीभ के कट जाने से दुःख विशेष होता है। ४. मज्जा – मदिरा के समान मोहनीय कर्म। ५. बेड़ी के समान आयुकर्म। ६. चित्रकार के समान नाम कर्म। ७. कुम्भकार के समान गोत्रकर्म और भण्डारी के समान अन्तराय कर्म का स्वभाव जानना चाहिए ॥ २६ ॥

साता वेदनीय के उदय में इन्द्रिय जन्य सुख और असाता के उदय में दुःख होता है। उदाहरणार्थ मधु लिप्त तलवार को यदि कोई लालची चाटने लगे तो मधु का स्वाद क्षणभर सुखद प्रतीत होता है परन्तु तीक्ष्ण धार से जिह्वा कट जाने से कई दिनों पर्यन्त तीव्र दुःख वेदना सहन करना पड़ती है। यही दशा है इस कर्म के उदय फल की। लोभ-लालच त्यागो॥ २८॥

◆ **चौथा मोहनीय का लक्षण–**

जैसे मदिरा पान से, सुधि बुधि नसहि जाय।
तथा मोह के उदय से, निज हित कछु न लखाय॥ २९॥

अर्थ – आत्मा के सम्यग्दर्शन का घातक मोहनीय कर्म है। जिस प्रकार मदिरापान करने पर तीव्र नशा उत्पन्न होने से मनुष्य बेहोश हो जाता है। हिताहित विवेक नहीं रहता उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय में जीव मूढ़ हो जाता है उसे सेव्य-असेव्य का विवेक नहीं रहता। हिताहित विषय में विमूढ़ हो विपरीत क्रिया करता है। अर्थात् तत्त्वातत्त्व विचार शून्य होकर मिथ्यात्व का सेवन कर अनन्त संसारी हो जाता है। इसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दो भेद हैं। प्रथम मिथ्यात्वी बनाता है और दूसरे का उदय जीव रागी-द्वेषी बना क्षुभित करता है॥ २९॥

◆ **पाँचवां आयु कर्म का स्वरूप–**

अपराधी नर को यथा, देत काठ में फांस।
तथा जीव आयु उदय, करत चतुर गति वास॥ ३०॥

अर्थ – भव से भवान्तर में जीव को जिसके उदय से निवास स्थान-काल प्राप्त होता है उसे आयु कर्म कहते हैं। जिस प्रकार लोक में पापाचारादि अपराध करने पर जेल में पैरों में बेड़ी था खोड़ा डालकर यथाकाल के लिए

रोक कर रक्खा जाता है उसी प्रकार आयुकर्म भी चारों गतियों में यथायोग्य किसी एक गति में अपनी स्थिति के अनुसार उतने काल को रोककर रखता है ॥ ३० ॥

◆ छठौं नामकर्म लक्षण–

चित्रकार जैसे लिखे, बहुविध चित्र अनूप।
नामकर्म के उदय से, जीव धरे बहुरूप ॥ ३१ ॥

अर्थ – सुयोग्य चतुर चित्रकार के समान अत्यन्त विशेष कलाकार है। यह शरीर रूपी स्वच्छ सीट (कागज) पर अनेकों अनोखे सुन्दर-असुन्दर, नाना आकार-प्रकार चित्र बनाता है। उदाहरण को हम एक वृक्ष लें। इसमें अनेकों अनगिनत पत्ते हैं, परन्तु सूक्ष्मता से विचार करें तो कोई भी दो पत्ते एक समान प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार अनन्तों मनुष्य तिर्यञ्च हैं क्या किसी के नाक, कान, नेत्र, हाथ, पैर, उंगली, पीठ, पेट आदि अवयव एक दूसरे के हू-बहू समान दिखाई देते हैं ? नहीं।

यह भेद करने वाला कौन ? नाम कर्म ही है। यह बहुत होशियार तो है ही चालाक भी कम नहीं है। तीक्ष्ण-पैनी दृष्टि का है तभी तो शुभ और अशुभ की पहिचान कर तदनुसार ही सुन्दर-असुन्दर, सौम्य, अशुभ अवयवों को गढ़ता रहता है। किसी के दर्शनीय और किसी के अभद्र अवयव होते हैं। अतः सदैव शुभ कार्य करना चाहिए ॥ ३१ ॥

◆ सातवाँ गोत्रकर्म –

ज्यों कुम्हार छोटे-बड़े, बर्तन लेय बनाय।
गोत्र कर्म के उदय वस, जीव भी नीच-ऊंच कुल पाय ॥ ३२ ॥

अर्थ – संसार में देखा जाता है कुम्भकार अपनी इच्छानुसार छोटे-बड़े

घटादि बनाता है। उसी प्रकार गोत्रकर्म भी जीव को नीच और ऊंच कुलों में उसकी भावनानुसार उत्पन्न कराता रहता है। यही नहीं एक ही जीव को कभी उच्च घराने में और कभी नीच-ओछे कुल में जा डालता है॥ ३२॥

◆ आठवाँ अन्तराय कर्म स्वरूप–

नृप इच्छा के होत भी, भण्डारी नहीं देय।
अन्तराय उदय यह जीव, धन आदि नहीं लेय॥ ३३॥

अर्थ - लोकोक्ति प्रसिद्ध है **"दाता देय भण्डारी पेट पिराय"**। अर्थात् उदार चेता सत्पुरुष द्वारा किमिच्छक दान दिये जाने पर कंजूस आश्चर्य और अफसोस करता है परन्तु कोई ऐसे भी होते हैं जो दानी को दान नहीं देने देते। यथा कंजूस भण्डारी। इसी प्रकार अन्तराय कर्म भी दाता की इच्छा होने पर भी वह दान नहीं दे पाता और दान ग्रहण करने वाले को ग्रहण भी नहीं करने देता।

इसी से इसके पाँच भेदों में दानान्तराय और लाभान्तराय भी हैं। प्रथम लेने वाले की इच्छा होने पर दाता को देने नहीं देता और दूसरा लेने वाले को लेने भी नहीं देता। उदाहरण को दिगम्बर साधु दाता के यहाँ आहार को चर्या करते हुए गये। विधिवत् पड़गाहन किया, आहार देना चाह रहा है और साधु भी लेने-पाने पूर्ण आशा कर रहा है परन्तु अन्तराय महाराज मध्य में आ कूदे तो क्या हुआ ? न तो दाता दे सका और न पात्र ले ही पाया। अन्तराय आ गया। यह है इस कर्मराज का चमत्कार। यह विचार कर धर्म ध्यान, पूजा, भक्ति आदि कार्यों में विघ्न उपस्थित नहीं करना चाहिए।

अन्तराय के सम्बन्ध में एक उपाख्यान याद आया है। एक समय किसी राजा से मंत्री ने कहा, महाराज ! आपके राज्य में सभी सुखी हैं, पर आपका एक ज्योतिषी बहुत दुखी है। दारिद्रय से दुखी है उसे दान देना चाहिए। राजा ने विचारा और कुछ चिन्तित हुआ। मन्त्रियों के बार-बार प्रार्थना करने पर उसे

देने का निर्णय लिया और एक ही प्रकार के अनाज की दो ढेरी लगवाकर उसे बुलाकर किसी एक को लेने को कहा। तदनुसार उसने नक्षत्र शुभ मुहूर्त में आकर एक राशि ले ली उसे खोलकर देखा तो उसमें पैसे, चवन्नी आदि कुछ निकले तथा कंकड़-पत्थर भी थे। अब राजा ने मंत्री से कहा - दूसरी ढेरी खोलो, देखा तो उसमें चमकते हीरा, पन्ना, माणिक निकले। तब राजा ने कहा, देखो ! मैं देना चाहता हूँ और वह लेना चाहता है, परन्तु इसका अन्तराय कर्म दोनों ओर अर्गल लगाये आड़ा खड़ा है। यह है अन्तराय की शक्ति ॥ ३३ ॥

• सम्यग्ज्ञान का लक्षण–

न्यूनाधिक विपरीत बिन, वस्तु यथारथ ज्ञान।
सम्यक्त्वी के होत वह, सम्यग्ज्ञान प्रधान ॥ ३४ ॥

अर्थ - वस्तु स्वरूप को ज्ञात करना, जानना ज्ञान का कार्य है। परन्तु सभी ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जाता है क्योंकि कोई पदार्थ के कुछ अंशों को ही विदित कर सन्तुष्ट हो जाता है और कोई जो है उससे अधिक मान बैठता है तो कोई विपरीत समझ लेता है । ये सभी ज्ञान सच्चाई के परे हैं। याथात्म्य से हीन हैं। ऐसे ज्ञान मिथ्या हैं। सम्यग्ज्ञान क्या है ? इस प्रश्न का समाधान देते हुए यहाँ आचार्य समझा रहे हैं -

जो ज्ञान न्यूनता-कमी और अधिकता तथा विपरीतता से रहित जो वस्तु जैसी है उसे ठीक उसी रूप में संशय, विपर्यय, अनध्यवसादि दोषों से रहित अवगत करता है, जानता है उसे ही सम्यग्ज्ञान कहा जाता है ॥ ३४ ॥

---

३४. अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ ४२ ॥ रत्न. श्रा.।

अर्थ - न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित और संदेह रहित वस्तु स्वरूप को यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है ऐसा आगम के ज्ञाता सर्वज्ञ और गणधर देव ने कहा है।

◆ **सम्यक् चारित्र का स्वरूप–**

अहिंसा पोषक शुभ क्रिया, सम्यक् चारित्र जान।
पालें इसे श्रावक मुनि, निज निज शक्ति प्रमाण ॥ ३५ ॥

अर्थ – चारित्र का अर्थ है आचरण-क्रिया कलाप और विषय-कषायों का त्याग। सर्वत्र जहाँ जीव दया का ध्यान रहता है। अहिंसा का लक्ष्य होता है उन क्रिया–कलापों-व्यवहार को सम्यक् चारित्र कहते हैं। इसका पालन मुनिराज और श्रावक दोनों ही अपनी-अपनी योग्यता, शक्ति और पदानुसार आचरण करते हैं। यह व्यवहार से है परन्तु निश्चय से आत्मानुभव में विचरण करना सम्यक् चारित्र है। अर्थात् बाह्याभ्यंतर क्रियाओं का निरोध कर निज स्वरूप में रमण करना सम्यक् चारित्र है ॥ ३५ ॥

---

३५. हिंसानृतचौर्य्येभ्यो, मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पाप प्रणालिकाभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ ४९ ॥ रत्न. श्रा. ॥

अर्थ – *जिनसे पापास्रव होता है ऐसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह संचय रूप कार्यों से विरक्त होना चारित्र है।*

और भी – *तत्वार्थराजवार्तिक के अनुसार-*

संसारकारण निवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः सम्यक् चारित्रं - प्र. अ. वार्तिक-३

अर्थ – *संसार के कारणों के सर्वथा नाश की इच्छा रखने वाले ज्ञानवान् आत्मा की शारीरिक और वाचनिक बाह्य क्रिया तथा मानसिक अंतरङ्ग क्रियाओं का विशेष रूप से रूक जाना है वही सम्यक् चारित्र है।*

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में भी ऐसा ही उल्लेख है-

संसार कारण निवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य (उद्यतस्य) ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्त क्रियोपरमः सम्यक् चारित्रं। अर्थ पूर्ववत् जानना ॥ ३५ ॥

◆ अहिंसा धर्म प्रकाशक विधि...

अहिंसा धर्म प्रसिद्धि हित, श्रावक मुनि व्रत सार।

परकाशे महावीर प्रभु, जग जीवन हितकार ॥ ३६ ॥

अर्थ – अहिंसा धर्म की प्रसिद्धि तो स्वाभाविक है। संसार का प्राणीमात्र जीवन चाहता है, जीना चाहता है, कोई मरण का इच्छुक नहीं है। अतएव स्वयं सिद्ध है कि अपनी-अपनी आत्मा का रक्षण सभी चाहते हैं। आत्म रक्षण ही तो अहिंसा है। रही बात पर जीव रक्षण की। प्रकृति से तो सभी रक्षक हैं, अज्ञान व स्वार्थवश मिथ्या बुद्धि से जीव एक दूसरे का घातकर महा पाप बंध कर स्वयं दुर्गति का पात्र बनता है।

जन्मजात स्वभाव का रक्षण करने वाला ज्ञानी, बुद्धिमान समझता है कि मेरे ही समान अन्य प्राणी को भी जीवन रक्षण का अधिकार है। किसी को अधिकार च्युत करना पाप है, अन्याय है, अत्याचार है। प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव रखना, उन्हें अभयदान देना चाहिए। विचार करें कि हमने किसी को जीवन-चेतना दी है क्या ? नहीं दी और न कोई किसी को दे सकता है, फिर भला हमें उसे लेने का भी क्या अधिकार है ? कोई अधिकार नहीं है।

भगवान महावीर ने अहिंसाधर्म प्रचार-प्रसार के लिए हिंसा की बड़ी सूक्ष्म और स्पष्ट व्याख्या करते हुए उसे द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के भेद से दो भागों में विभाजित किया है। द्रव्यहिंसा तो प्रत्यक्ष है किसी का प्राण घात करना हत्या करना है। किन्तु अपने आत्म स्वभाव के विरुद्ध विचार करना सोचना भाव हिंसा है। किसी भी प्राणी अपाय, कष्ट दान पीड़ा प्रदान का विचार मात्र हिंसा है। यथा किसी व्यक्ति ने अन्य व्यक्ति का घात-कत्ल करने का विचार किया, अवसर खोजता रहा, परन्तु उसे अवसर नहीं, वह मार नहीं सका तथाऽपि हिंसा का भागी हो गया। अतएव श्रावक धर्म का पालन करने

वाले इस प्रकार खोटे परिणाम नहीं करता अपितु दीन, दुःखी, अनाथों, अशरणों को यथायोग्य दान, सम्मान देकर उनका संरक्षण करता है। जिनशासन में इसे दया दत्ति दान कहा है। इसलिए उत्तम श्रावकों को जल, आवास, वस्त्र, अन्न, भोजन की व्यवस्था कर दीन-अनाथों का रक्षण कर अहिंसाधर्म का प्रचार व प्रसार करना चाहिए।

महाव्रतधारी मुनिव्रत धारण कर अहिंसाधर्म का उपदेश देना, बलिप्रथा आदि कुधर्मों, कुप्रथाओं को रोकने का प्रयास कर, उपाय कर, जीव रक्षण, दया, करुणा, ममता भाव जाग्रत कराकर अहिंसाधर्म का प्रचार करना चाहिए। अभक्ष्य त्याग, मांसाहार त्याग और शाकाहार करने का प्रचार करना चाहिए। वर्तमान में सर्वत्र हिंसा का प्रच्छन्न प्रचार हो रहा है, खाद्य पदार्थों का निर्माण अण्डादि जीवों के घात का साधन बन गया है। यहाँ तक कि अन्न उत्पादन के साधन भी हिंसात्मक हैं यही नहीं फल, शाक, सब्जी, दूध आदि में भी हिंसात्मक सामग्रियों का प्रयोग हो रहा है। इसे प्रख्यातकर उसके दोषों को दिखलाकर दया धर्म, अहिंसा धर्म का प्रचार करना चाहिए।

बूचड़खानों ने तो घोर पशुयज्ञों का नारकीय दृश्य उपस्थित कर रक्खा है। जो महान् दर्दनाक, वीभत्स और पाप का खुला दृश्य है। इसे रोकने का प्रयास कर अहिंसा धर्म प्रचार करना आवश्यक है। अतः हम सच्चे श्रावक व साधु बनें और धर्म प्रचार करें यही भगवान महावीर का सिद्धान्त है। इसके लिए हमारे विचारों-व्यवहारों में अहिंसा, सिद्धान्त में अनेकान्त और वाणी में स्याद्वाद होना आवश्यक है॥ ३६ ॥

---

३६. यतीनां श्रावकानां च व्रतानि सकलान्यपि।
एकाऽहिंसा प्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरैः॥

अर्थ *- यतियों के व्रत हों या श्रावकों के सभी व्रतों में अहिंसा ही एक समष्टि रूपता को प्राप्त है, उसकी विशेष प्रसिद्धि है ऐसा जिनेश्वरों की वाणी है।*

- **प्रस्तुत प्रकरण का सारांश–**

यह रत्नत्रय धर्म ही, करे कर्म वसु चूर।
'महावीर' मोह नींद तज, धरो धर्म भरपूर ॥ ३७ ॥

अर्थ - यहाँ आचार्य परमेष्ठी श्री महावीरकीर्ति जी अहिंसा धर्म धारण का उपदेश धर्मज्ञ, भव्यात्माओं को जाग्रति प्रदान कर रहे हैं। हे भव्यात्माओं! अहिंसा धर्म का जीवन में अवतार करना है तो मोह निद्रा का त्याग करो। मोह कर्त्तव्यविमूढ़ मनुष्य शराबी के समान विवेकशून्य, विचारहीन, स्वार्थी हो जाता है। मोही धर्म स्वरूप से विमुख हो जाता है। मोही के अज्ञान अंधकार में धर्म रूपी अहिंसा का प्रवेश उसी प्रकार नहीं होता जैसे सघन अंधकार युक्त वन प्रदेश में गमन नहीं होता। इसलिए धर्मात्माओं को मोह-राग-द्वेष, विषय-कषाय लम्पटता का परिहार करने में सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। तनिक से भ्राताओं के प्रति होने वाले शुभराग के निमित्त से नकुल व सहदेव समान रूप से उपसर्ग सहने पर भी क्षपक श्रेणी आरोहण नहीं कर सके। फलतः पुनः निर्विकल्प हो उपशम श्रेणी पर आरूढ़ हो सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र पद प्राप्त करें। अब पुनः उन्हें गर्भावास का घोर दुःखानुभव करना पड़ेगा, घोर तप करना होगा तथा मुक्ति प्राप्त करेंगे।

मोहधर्म का प्रमुख, प्रबल शत्रु है। मोह तम है और धर्म प्रकाश है। इसीलिए आचार्य कहते हैं भव्यात्माओं! जिस प्रकार अंधकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकते उसी प्रकार मोह और धर्म का सहसंयोग निवास असंभव है। पूर्ण पुरुषार्थ कर मोह त्याग कर धर्माराधन करो ॥ ३७ ॥

इति द्वितीय अध्याय

❈ अथ तृतीय अध्याय ❈

◆ **हिंसा अहिंसा का स्वरूप–**

आतम शुध परिणाम की, विकृति हिंसा जान।
शुद्ध परिणति ही आत्म की, अहिंसा तत्त्व पिछान ॥ १ ॥

अर्थ – दोहा गत मूल पंक्ति में निश्चय नय की मुख्यता से हिंसा और अहिंसा का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि रत्नत्रय स्वरूप निज शुद्ध परिणामों से च्युति ही हिंसा है। राग, द्वेष तथा कषायों का उद्रेक रत्नत्रय गुण को मलिन करता है विकृत करता है और जीव दर्शनमोहनीय के उदय से मिथ्यात्व रूप परिणमन कर सम्यक्त्व गुण का घातक-हिंसक कहलाता है इसी प्रकार मिथ्यात्व सहित उसका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान और चारित्र भी मिथ्याचारित्र हो जाता है इस प्रकार के विपरिणमन का नाम ही हिंसा है। सत्संगति से जब जीव को निज स्वरूप की पहिचान हो जाती है और मिथ्यात्व अविरति प्रमाद से दूर हटता हुआ स्व स्वभाव रूप परिणमन करता है, तब उसकी उस वीतराग परिणति को ही अहिंसा कहते हैं।

यह अहिंसा सब धर्मों से सब व्रतों से श्रेष्ठ है क्योंकि सभी धर्म और सभी व्रत उसमें गर्भित हैं। जगत में जितने भी उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब अहिंसा के ही पर्यायवाची हैं ॥ १ ॥

---

१. आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ ४२ । पु. सि. ॥

अर्थ – आत्म परिणाम – रत्नत्रय स्वभाव का घात करने में कारण होने से यह पाँचों पाप समुदाय हिंसा ही है। झूठ वचन आदिक भेद कथन केवल शिष्यों को समझाने के लिये उदाहरण रूप से कहे गये हैं।

◆ कषाय का लक्षण एवं भेद –

अहिंसा गुण की सुरक्षा एवं वृद्धि के लिये बाधक कारणों को सर्वप्रथम हटाना चाहिए उन बाधक कारणों में मुख्य कारण कषाय है अतः सन्दर्भ प्राप्त कषाय का स्वरूप बताते हुए आचार्य लिखते हैं –

आतम शुद्ध परिणाम के हिंसन हेतु कषाय।
क्रोधादि पच्चीसवें, जग जीवन दुःखदाय ।। २ ।।

जिस प्रकार स्वभाव से शीतलता स्वच्छता मधुरता आदि गुणों से युक्त जल कीचड़ आदि के संयोग से मलिन एवं विकारयुक्त हो जाता है उसी प्रकार कषाय रूपी पंक के संयोग से ज्ञान, दर्शन, सुख स्वभावी आत्मा भी हिंसात्मक प्रवृत्ति करने लग जाता है। क्रोधादि कषाय से संपृक्त आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों ही गुण विकृत हो जाते हैं। ऐसी दुःखदायी कषायों से बचने के लिये भेद प्रभेद सहित कषायों को समझना भी आवश्यक है। क्रोधादि कषायों के २५ भेद हैं और प्रत्येक कषाय उस जीव को पतन और दुःख की ओर ले जाती है। २५ भेद आगमानुसार इस प्रकार हैं –

(क) अनन्तानुबन्धी गत – १. क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ **(ख) अप्रत्याख्यानगत**– ५. क्रोध, ६. मान, ७. माया, ८. लोभ (ग)

"प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" जहाँ प्रमाद है वह अवश्य हिंसा है। झूठ, चोरी, कुशील आदि सब प्रमत्त योग के उदाहरण हैं – यह बात शिष्य को पता चले इसलिये भेद रूप कथन कर पाँच पाप बताये हैं।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।। ४४ । पु. सि. ।।

अर्थ *– वास्तव में रागादि भावों का प्रगट न होना यह अहिंसा है और उन्हीं राग आदि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है। यही जैन सिद्धान्त का संक्षिप्त रहस्य है।*

प्रत्याख्यानावरण संबंधी - ९. क्रोध, १०. मान, ११. माया, १२. लोभ। संज्वलन कषाय गत १३. क्रोध, १४. मान, १५. माया, १६. लोभ। इनमें हास्यादि नोकषाय मिलाने से २५ भेद होते हैं।

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरूषवेद, नपुंसक वेद - ये हास्यादि नौ भेद इषत् कषाय होने से कषाय के भेद में ही वर्णित हैं।

इन सबका अलग-२ स्वरूप निर्देश आगे करेगें। यहाँ पर मात्र कषाय किसे कहते हैं यह विवक्षा ही मुख्य है। कषाय का लक्षण जिनशासन में इस प्रकार मिलता है - **कषति हिनस्त्यात्मानं दुर्गतिं प्रापयति इति कषायः।** जो आत्मा को - जीव को दुःखी करता है, आत्म स्वभाव का घात करता है उसे दुर्गति में ले जाने में कारण बनता है उसे कषाय कहते हैं।

दृष्टान्त द्वारा इसी लक्षण को पुष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में कहा है -

कषायो न्यग्रोधत्वक् विभीतकहरीतकादिकं, वस्त्रे मंजिष्ठादिराग-श्लेष हेतुर्यथा।

तथा क्रोधमानमाया लोभ लक्षणः कषायः, कषाय इव आत्मनः कर्मश्लेषहेतुः॥

बड़ पीपल आदि की छाल को उबालकर तैयार की गई काषाय, हरीतक और विभीतक अर्थात् हरड़, बहेड़ा को उबालकर तैयार की गई काषाय और मंजिष्ठादिक के चूर्ण से तैयार काषाय को वस्त्र में डालने पर रंगे हुए वस्त्र का रंग जैसे पक्का हो जाता है, छूटता नहीं उसी प्रकार क्रोधादि कषाय भी कषाय के समान ही कर्म कालिमा की शक्ति को सुदृढ़ करते हैं अतः कषाय को कषाय कहना सार्थक है यह नाम अन्वर्थ संज्ञक है॥ २॥

---

२. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा - तत्वार्थ सूत्र, स. अ. सू. १३।

अर्थ - प्रमाद पूर्वक किया गया प्राण घात हिंसा है।..

• प्रमाद योग से हिंसा की अनिवार्यता–

कषाय का काम कर्षण करना है, घात करना है अतः हिंसा में ही इसका समावेश जानना चाहिए। जैसा कि आगे बताया भी है–

प्रमत्त कषाय के योग से, स्व पर प्राण दुःख पाय।
पीड़ा कारक हनन से, हिंसा सभी कहाय ।। २ ।।

प्रमाद का लक्षण– प्रमत्त का अर्थ है प्रमाद सहित होना।

प्रमाद किसे कहते हैं?

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ के अनुसार – "कुशलेषु अनादरः प्रमादः" अच्छे कार्यों के करने में आदर भाव नहीं होना प्रमाद है। इसी प्रकार अन्यत्र भी बताया है –

...प्रमाद का अर्थ – सर्वार्थ सिद्धि ग्रन्थ के अनुसार – "कषाय के भार की गुरुता से आलस्य होना प्रमाद है।" दूसरे शब्दों में – धार्मिक कार्यों में उत्साह का न होना भी प्रमाद है। प्रमाद पूर्वक किया गया प्राणघात राग-द्वेष की वृद्धि करता है। रत्नत्रय स्वभाव का विघातक है अतः हिंसा है।

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः।" *जहाँ अहिंसाभाव है वहाँ नियम से वैरभाव भी नहीं होता। वैर त्यागः शब्द उपलक्षण स्वरूप है। अतः समस्त विकारभावों का त्याग अहिंसा है यह अर्थ निकलता है।*

यत्खलुकषाय योगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ।। पु. श्लोक-४३ ।।

अर्थ *– वास्तव में कषाय के सम्बन्ध से द्रव्य और भाव रूप प्राणों के घात का करना है वह अच्छी तरह निर्णय की गई हिंसा है।*

"तत्रऽहिंसा सर्वदा सर्वथा सर्वभूतानामद्रोहः"

अर्थ – सदा, सर्व प्रकार से मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक प्राणी मात्र के प्रति अद्रोह-वात्सल्य भाव का होना अहिंसा है ।। २ ।।

"**कषायभारगौरवात् अलसता प्रमादो**" कषाय के भार से सहित जो आलस्य है उसे प्रमाद कहते हैं। यह प्रमाद शुद्धात्मानुभूति से जीव को विमुख करता है तथा मूलगुण और उत्तरगुणों में मैल पैदा करता है।

प्रमाद से सहित परिणति विशेष को कषाय कहते हैं जो स्व और पर दोनों के प्राणों का घात करता है। प्राण के २ प्रकार हैं - १. द्रव्यप्राण, २. भावप्राण। द्रव्य प्राण के १० भेद हैं जिसका उल्लेख श्री नेमिचन्द्राचार्य ने जीवकाण्ड में इस प्रकार किया है -

पंच वि इंदियपाणा, मण वच कायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणापाणप्पाणा, आउगपाणेण होंति दस पाणा॥

अर्थ - पाँच इन्द्रिय प्राण - स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। तीन बल प्राण - मनोबल, वचन बल और काय बल पुनः श्वासोच्छ्वास और आयु के योग से १० प्रकार के द्रव्यप्राण जिनागम में वर्णित हैं।

जो कषाय के आवेश में छेदन, बन्धन, ताडन-मारन क्रिया द्वारा किसी जीव के द्रव्य प्राणों का घात करता है वह भी हिंसा है।

व्यवहार नय से जीव और एकक्षेत्रावगाही शरीरादि १० प्राणों का एकत्व है कायादि प्राणों के साथ जीव का कथंचित् भेद व अभेद है। तपे हुए लोहे के गोले के समान पृथक् नहीं किये जाने के कारण जीव और शरीरादि १० प्राण - दोनों व्यवहार नय से अभिन्न हैं। द्रव्य प्राणों के घात होने पर दुःख की उत्पत्ति होती है अतः व्यवहार नय से प्राण और जीव में अभेद है। यहाँ पर व्यवहार नय की मुख्यता से द्रव्य प्राण के घात स्वरूप - पर पीड़ा को भी हिंसा कहा है।

भावप्राण का संबंध निज रत्नत्रय रूप आत्म धर्म से है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चारित्र का घात ही भाव प्राण घात समझना चाहिए। चित् सामान्य रूप अन्वय वाला भाव प्राण है।

प्रमाद और कषाय रूप परिणाम से स्व और पर दोनों के प्राणों का घात होता है। स्व पर पीड़ा लक्षण वाली हिंसा में कषाय और प्रमाद ही मुख्य कारण है। अतः कारण में कार्य का उपचार कर यह कहा है कि जहाँ-जहाँ प्रमाद और कषाय है वहाँ-वहाँ हिंसा का सद्भाव भी होता ही है। प्रमाद और कषाय से संपृक्त जीव की जो भी परिणति है वह सब हिंसा ही है ॥ ३ ॥

कषायों का भेद-प्रभेद पूर्वक कथन करते हुए सबसे पहले उनका नाम बताते हैं -

◆ कषायों के नाम-

चउ चउविध क्रोधादि चउ, हास्य ग्लानि भयशोक।
रति अरति त्रय वेद मिलि, ये कषाय अघ ओक ॥ ४ ॥

दोहा नं. ६८ में कषाय के २५ भेदों का निर्देश किया है तदनुसार ही यह कथन है। अनन्तानुबन्धी संबंधी ४ कषाय, अप्रत्याख्यानावरण कषाय संबंधी ४ भेद प्रत्याख्यानावरण संबंधी ४ भेद और संज्वलन संबंधी ४ भेद तथा ९ नोकषाय के योग से यह पापोत्पादक कषाय २५ भेद वाला है। ओक का अर्थ होता है ओघ या सामान्य रूप कथन ॥ ४ ॥

---

३. कषत्यामानमिति कषायः *-सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों में कषाय का अर्थ इस प्रकार मिलता है - जो आत्मा को कषता है दुःखी करता है उसे कषाय कहते हैं। और भी -* "कषति हिनस्ति आत्मानं कुगति प्रापणादिति कषायः"

जो कुगति की प्राप्ति करावे ऐसे क्रोधादि विकार भाव कषाय हैं। आत्म गुणों का घात करते हैं इसलिए इन्हें कषाय कहा गया है ॥ ३ ॥

४. "दर्शनचारित्रमोहनीयाकषाय कषायवेदनीयाख्यास्त्रि द्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरति शोकभयजुगुप्सास्त्री-पुंन्नपुंसक वेदाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमाया लोभाः।" त. सू. अ. ८, सूत्र -९।...

इसका स्पष्टीकरण आगे के दोहे में हैं -

◆ **स्पष्टीकरण-**

अनन्तानुबन्धी को आदि कर, अप्रत्य प्रत्याख्यान।
तुर्य संज्वलन वेद त्रय, भार्या क्लीव पुमान ॥ ५ ॥

पूर्व कथित भेदों में सबसे अधिक शक्तिशाली अनन्तानुबंधी कषाय है। इसलिये उसका सबसे प्रथम उल्लेख किया है। उत्तरोत्तर हीन हीन शक्ति अनुभाग शक्ति को लिये हुए अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन गत कषायों को यथाक्रम जानना चाहिए। वेद के तीन भेद हैं - नपुंसक वेद, स्त्री वेद, पुरूष वेद। प्रकरण गत इनका स्वरूप भी जानना अनिवार्य है अतः उनका स्वरूप उल्लेख करती हूँ -

१. **अनन्तानुबन्धी कषाय** - जो जीव के सम्यग्दर्शन गुण का घात करती है उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। इनके द्वारा संस्कार अनन्त भवों तक बने रहते हैं अतः अनन्त भवों को बांधना ही जिनका स्वभाव है वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में ऐसा भी उल्लेख है -

अनन्तसंसार कारणत्वात् मिथ्यादर्शन अनन्तम्, तदनुबंधिनोऽनन्तानु-

---

...उपर्युक्त सूत्र में मोहनीय कर्म का उत्तर भेदों का नामोल्लेख है -

__सूत्रार्थ__ - दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय। इनके क्रम से तीन, दो, नौ और सोलह भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व ये दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय ये चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ अकषाय वेदनीय हैं। तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये ४ भेद प्रत्येक कषाय के होने से कषाय वेदनीय क्रोध, मान, माया और लोभ संबंधी १६ भेद होते हैं॥ ४॥

बन्धिनः क्रोध मान माया लोभाः - अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है। उस मिथ्यात्व की अनुबन्धी ही अनन्तानुबंधी है ऐसा जानना। यद्यपि दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी का उदय है और बंध भी है पर वहाँ मिथ्यात्व का बन्ध भी नहीं उदय भी नहीं। सो भावी नैगमनय की अपेक्षा वहाँ पर भी यह परिभाषा घटित हो जाती है क्योंकि दूसरे गुणस्थान को प्राप्त जीव नियम से प्रथम गुणस्थान को प्राप्त होता है।

अनन्तानुबंधी चारित्र मोहनीय का भेद है पर यह सम्यक्त्व और चारित्र दोनो गुणों का घात करती है। धवला पुस्तक एक में बताया है -

"अनन्तानुबंधिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्...." इत्यादि।

इस अनन्तानुबन्धी कषाय की वासना संख्यात भव, असंख्यात भव, अनन्त भव तक बनी रहती है। चारित्रसार ग्रन्थ में इस विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार मिलता है - **"काहू पुरुष ने क्रोध किया, पीछै क्रोध मिटि और कार्य विषै लग्या तहाँ क्रोध का उदय तो नाँही परन्तु वासना काल रहै। तेतै जीहस्यों क्रोध किया था तीहस्यों क्षमा रूप भी न प्रवर्तै सो ऐसैं वासना काल पूर्वोक्त प्रकार सब कषायनिका नियम करके जानना। (चा. सा. ९०/१)**

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ की उपमा देते हुए आचार्य लिखते हैं कि - अनन्तानुबंधी क्रोध पत्थर पर खींची गई-उकेरी गई लकीर के समान चिरकाल तक बनी रहती है।

मान - जिस प्रकार पत्थर किसी तरह नहीं नमता उसी प्रकार जिसके उदय से जीव किसी भी तरह नम्र न हो उसको शैल समान मान कहते हैं यही है अनन्तानुबन्धी मान।

माया - बाँस के पेड़ की जड़ में सबसे अधिक वक्रता होती है उस प्रकार की वक्रता कुटिलता जिसमें मौजूद हो वह अनन्तानुबन्धी माया कहलाती है।

लोभ - किरिमिजी का रंग अत्यन्त गाढ़ होता है, बड़ी कठिनाई से छूटता है, उसी प्रकार जो लोभ सबसे ज्यादा गाढ़ हो उसको ही किरिमिजी समान होने से अनन्तानुबन्धी लोभ कहते हैं।

२. **अप्रत्याख्यानावरण कषाय**- जो देश संयम का घात करे उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। इसकी वासना का उत्कृष्ट काल ६ मास है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ की शक्तियाँ अनन्तानुबंधी की अपेक्षा कम हैं। क्रोध की तुलना भूमि पर खींची गई रेखा से, मान की तुलना हड्डी से, माया की तुलना मेढ़े के सींग से, लोभ की तुलना चक्रमल से की गई है। (अस्थि में शैल की अपेक्षा कठोरता कम है इत्यादि प्रकार से अर्थ लगाना चाहिए।)

प्रत्याख्यानावरण - जो कषाय सकल संयम का घात करती है उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। धूलिमय भूमि पर खींची गई रेखा के समान क्रोध, गीली लकड़ी के समान अल्प नम्रता वाली मान कषाय, गोमूत्र के समान वक्रता वाली माया कषाय, शरीर के मल के समान लोभ कषाय होती है इन्हें प्रत्याख्यानावरण जानना चाहिए। इसकी वासना का काल १५ दिन जिनागम में वर्णित है।

संज्वलन कषाय - जो यथाख्यात चारित्र को रोके उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। जल में खींची गई रेखा के समान क्रोध, बेंत के समान मान, खुरपा के समान माया और हल्दी के रंग के समान लोभ को संज्वलन जानना चाहिए। इसकी वासना का काल अन्तर्मुहूर्त है।

अब संदर्भ प्राप्त वेद का स्वरूप भी जानना चाहिए अतः उसका संक्षेप में उल्लेख करते हैं -

वेद का स्वरूप और भेद- वेद्यते इति वेदः लिङ्गमित्यर्थः- (सर्वार्थसिद्धि)

जो वेदा जाय उसे वेद कहते हैं उसका दूसरा नाम लिंग है।

अथवा आत्म प्रवृत्तेः संमोहोत्पादो वेदः और भी "आत्म प्रवृत्ते-मैथुनसंमोहोत्पादो वेदः।

ऐसा वेद का लक्षण धवला पुस्तक-१ में मिलता है।

आत्मा की चैतन्य रूप पर्याय में मैथुन रूप चित्र विक्षेप के उत्पन्न होने को वेद कहते हैं। यह लक्षण भाव वेद की अपेक्षा से है। वेद के २ भेद हैं - १. भाव वेद, २. द्रव्य वेद। मोहनीय कर्म के भेद नोकषाय के उदय से जो स्थिति प्राप्त होती है वह भाव वेद है तथा जो योनि मोहनादि नामकर्म के उदय से रचा जाता है वह द्रव्यलिंग है। भावलिंग आत्म परिणाम रूप है। वह स्त्री पुरूष व नपुंसक इन तीनों में परस्पर एक दूसरे की अभिलाषा लक्षण वाला होता है।

वेदों का निरूक्ति अर्थ, व्युत्पत्ति अर्थ इस प्रकार भी मिलता है -

पुरूषवेद - पुरूष शब्द की रचना में जो वर्ण अक्षर हैं वे उत्तम अर्थ को धारण करने वाले हैं जैसा कि गोम्मटसार जीवकाण्ड में बताया है -

"पुरूगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्मि पुरूगुणं कम्मं।
पुरूउत्तमो य जम्हा, तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो ॥ गा. २७३ ॥

अर्थ - जो सम्यग्दर्शनादि उत्कृष्ट गुणों का स्वामी हो जो लोक में उत्कृष्ट गुणयुक्त कर्म को करे यद्वा जो स्वयं उत्तम हो उसको पुरूष कहते हैं इसी प्रकार स्त्रीवेद में स्त्री शब्द का निरुक्ति अर्थ इस प्रकार है -

"छादयदि सयं दोसे णयदो छाददि परं वि दोसेण।
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी ॥ २७४ ॥ गो. जी. ॥

अर्थ - जो मिथ्यादर्शन अज्ञान, असंयम आदि दोषों से अपने को आच्छादित करे और मृदुभाषण, तिरछी चितवन आदि व्यापार से जो दूसरे पुरुषों को भी हिंसा अब्रह्म आदि दोषों से आच्छादित करे उसको आच्छादन

स्वभाव युक्त होने से स्त्री कहते हैं। यह लक्षण सम्यक्त्वादि गुणों से भूषित नारियों के लिये नहीं है। यहाँ तो निरुक्ति द्वारा प्रकृति प्रत्यय से निष्पन्न अर्थ मात्र का बोध कराया है।

नपुंसक वेद का निरुक्ति इस प्रकार है –

णेवत्थी णेव पुमं णउंसओ उदयलिंगवदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥

अर्थ – जो न स्त्री हो और न पुरुष हो ऐसे दोनों ही लिंगों से रहित जीव को नपुंसक कहते हैं। इसके भट्ठा में पकती हुई ईंट के समान तीव्र कषाय होती है। अतएव इसका चित्त प्रतिसमय कलुषित रहता है ॥ ५ ॥

♦ कषायों के साथ हिंसा की व्याप्ति है यह बताते हैं –

क्योंकि कषाय के हेतु ही शुद्ध स्व आतम घात ।
पीछे पर के प्राण का, होवे न होवे घात ॥ ६ ॥

कषाय के उदय से रत्नत्रय रूप शुद्ध स्वभाव में स्थिति नहीं रह पाती है अस्तु निज स्वभाव का विघातक होने से कषाय भाव हिंसा ही है यह बात सिद्ध होती है। उदयागत वह कषाय पर के द्रव्यप्राण या भावप्राण के विघात में हेतु बने या न बनें पर स्व स्वभाव का घात नियम से होता है। कोई बार २ शत्रु को मारने का कठोर उद्यम करता है पर वह हर बार किसी न किसी निमित्त से बच जाता है उस समय शत्रु का घात रूप कार्य न होने पर भी हिंसा रूप परिणाम का सद्भाव होने से कषाय की अविनाभावी हिंसा भी अवश्य होती है ॥ ६ ॥

---

६. यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ ४७ पुरुषा.॥

अर्थ – *क्योंकि जीव कषाय भावों सहित होता हुआ पहले अपने ही द्वारा अपने को घातता है फिर पीछे से चाहे अन्य जीवों की हिंसा होवे अथवा न होवे वह तो उनके साता-असाता कर्म तथा आयु के आधीन है।*

◆ **अन्वय व्यतिरेक कथन–**

कषाय के सद्भाव से, बध न होत भी पाप।
वध होत भी अघ नहीं, रहे निष्कषाय यदि आप॥ ७॥

अर्थ - द्रव्य हिंसा के न होने पर भी कषाय के सद्भाव से भाव हिंसा मौजूद है अतः पाप बन्ध होता रहता है। दूसरी ओर द्रव्यहिंसा के होते हुए भी कषाय भाव के न होने से हिंसा भी नहीं तथा उसके पाप बन्ध भी नहीं होता है। उदाहरण - डाकू ने बन्दूक चलाई मकान मालिक को मारने के लिए पर पुण्योदय से सातावेदनीय का उदय होने से वह उसका लक्ष्य चूक जाने से बच गया तथा रंच मात्र भी कष्ट को प्राप्त नहीं हुआ। यहाँ द्रव्य हिंसा को न करके भी डाकू हिंसा का भागी बनता ही है। दूसरी ओर कोई डॉक्टर रोगी को बचाने के लिये चीरफाड़ कर रहा है। वह रोगी आयुपूर्ति वश मर गया तो यहाँ द्रव्यहिंसा हुई पर भावहिंसा के अभाव के कारण हिंसा का फल जो पाप बन्ध था वह उसके रञ्च मात्र भी नहीं हुआ।

यहाँ सिद्धान्त यह है कि एक (द्रव्य) हिंसा करके भी हिंसा का फल नहीं पाता है और दूसरा द्रव्य हिंसा न करके भी हिंसा का फल पाता है। यही तो अनेकान्त सिद्धान्त है, यही जैन धर्म का मर्म है। गुरूदेव ने वस्तुतः यहाँ रहस्यमयी बात कही है॥ ७॥

---

७. व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
मियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा॥ ४६॥ पुरुषा.॥

अर्थ - रागादि भावों के वश से प्रवृत्त - अयत्नाचार पूर्वक प्रमाद अवस्था मे जीव मरो अथवा न मरो हिंसा तो निश्चित आगे ही दौड़ती है और बन्ध निरन्तर होता ही है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राण व्यपरोपणादेव॥ ४५. पुरुषा.॥...

◆ इसका दृष्टान्त–

जैसे डॉक्टर हाथ से रोगी मरे नहि दोष।
कसाई से कोई न मरे, तब भी लगे अघ कोष ॥ ८ ॥

अर्थ – जैसा पूर्व दोहे मे बताया उसकी पुष्टि हेतु यहां दृष्टान्त दिया है कि रोगी की मृत्यु डॉक्टर के हाथ से हुई तो भी वह दोषी नहीं और कसाई प्रयास करने पर भी अभीष्ट व्यक्ति को नहीं मार सका तो भी हिंसा जन्य पाप बन्ध वह करता ही है ॥ ८ ॥

◆ कार्य का दिग्दर्शन –

कुछ भी हिंसा नहि किये तो भी पाप बंधेय।
हिंसा करि भी द्वितीय पुनि, हिंसा फल न लहेय ॥ ९ ॥

कम हिंसा भी एक को, फले काल अधिकाय।
दूजे को अधिकाय भी, हिंसा कम फल दाय ॥ १० ॥

मिलकर हिंसा की गई, फल विचित्र दे सोय।
किसी को तो अधिकी फलैं, किसी को कम फल होय ॥ ११ ॥

...अर्थ – समिति पूर्वक आचरण करने वाले सत् पुरुष (मुनि के) रागादि भावों की उत्पत्ति बिना केवल द्रव्य प्राणों के वियोग से ही हिंसा रंचमात्र भी नहीं होती है ॥ ७ ॥

८. अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥ ५१ पुरुषा. ॥

अर्थ – वास्तव में कोई एक द्रव्य हिंसा को न करके भी (भाव हिंसा की मौजूदगी से) हिंसाफल को भोगने का पात्र होता है और दूसरा कोई (भाव हिंसा के असद्भाव से) द्रव्य हिंसा को करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता है। इस संदर्भ में पहले विवेचन कर चुके हैं ॥ ८ ॥

कोई हिंसा पहले फले, करते कोई फलाय।
कोई तो पीछे फले, लखूँ विचित्र फल भाय ॥ १२ ॥
हिंसा तो एक ही करे, फल भोगत हैं अनेक।
मिलि के बहु हिंसा करे, फल भोगत कोई एक ॥ १३ ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में हिंसा अहिंसा के प्रति अनेकान्त दृष्टि से यह बताया गया है कि हिंसा अहिंसा का संबंध जीव के परिणामों से मात्र, बाह्य द्रव्य हिंसा न पाप बंध की कारण है न पुण्य बंध की। द्रव्य हिंसा भाव हिंसा के सद्भाव में ही पाप बन्ध का कारण बनती है अन्यथा नहीं।

अर्थ - प्रथम दोहे में यह बताया है - कि कोई एक व्यक्ति (भाव हिंसा के सद्भाव के कारण) द्रव्य हिंसा को नहीं करके भी हिंसा का फल भोगता है दूसरा कोई (भाव हिंसा के असद्भाव के कारण) द्रव्य हिंसा को करके भी हिंसा के फल को नहीं भोगता अर्थात् एक हिंसा न करके भी फल पाता है दूसरा हिंसा करके भी फल नहीं पाता है ॥ ९ ॥

द्वितीय दोहे में बताया है कि किसी एक जीव को थोड़ी भी द्रव्य हिंसा फल काल में बहुत फल देती है और किसी दूसरे जीव को बहुत बड़ी द्रव्य हिंसा भी फलकाल में बिल्कुल थोड़ा फल देने वाली होती है ॥ १० ॥

इसे उदाहरण से इस प्रकार समझें - किसी दुर्जन ने किसी को जान से मारने के लिये शस्त्र फेंका किन्तु दैव वश वह शस्त्र उसके पूर्ण रूप से न लगकर जरा सा लगा और उसकी मानों एक उंगली कट गई तो यहाँ पर द्रव्यहिंसा तो थोड़ी ही है पर तीव्र कषाय का सद्भाव होने से कर्म बन्ध और उसका फल महान् होगा।

विपक्ष में भी इसी प्रकार जानना - उदाहरण - किसी गाड़ी चलाने वाले ने घोड़ा, बैल आदि अपने किसी पशु को तेज चले इस अभिप्राय को

लेकर कोड़ा मारा पर दैव वश वह चोट उसके किसी मर्म छेदक स्थान पर लगने से वह मर गया - यहाँ पर द्रव्य हिंसा को महान् हुई किन्तु भाव हिंसा अल्प होने के कारण पाप बन्ध अल्प ही होगा - महान् नहीं। यहाँ ऊपर दृष्टान्त में थोड़ी द्रव्य हिंसा किन्तु बंध महान् और नीचे के दृष्टान्त में महान् द्रव्य हिंसा किन्तु बन्ध अल्प बताया है। फलितार्थ यही हुआ कि हिंसा पर वस्तु की हिंसा अनुसार नहीं किन्तु अपने भावानुसार होती है। इसी सिद्धान्त को पुनः पुनः अनेक दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट करेंगे।

दोहा ११ में यह बताया है कि द्रव्यहिंसा एक जैसी होते हुए भी फल में अन्तर देखा जाता है - एक साथ मिलकर की गई भी द्रव्यहिंसा फल काल में भिन्न-भिन्न प्रकार के फल को देती है। एक को वही द्रव्य हिंसा बहुत फल को देती है और दूसरे को वही द्रव्य हिंसा अल्प फल देता है। यहाँ भावों की विचित्रता से फल में विचित्रता जानना।

उदाहरण - किसी व्यक्ति को दो आदमी मिलकर पीटने लगे। एक में उसके प्रति तीव्र कषाय है दूसरे में मन्द तो परिणामों के अनुसार अधिक भाव हिंसाधारी को अधिक पाप बंध और मन्द भाव हिंसा धारी को पाप बन्ध भी मन्द अर्थात् अल्प होता है। अर्थात् फल भाव हिंसा के अनुसार ही होता है द्रव्य हिंसा अनुसार नहीं ॥ ११ ॥

दोहा नं. १२ में ऐसा बताया है कि - कोई हिंसा, होने से पहले ही फल दे देती है और कोई हिंसा, द्रव्य हिंसा करते हुए ही फल देती है और कोई हिंसा द्रव्य हिंसा हो चुकने पर फल देती है। सारांश यहाँ भी यही है कि हिंसा, कषाय भावों के अनुसार फल देती है द्रव्य हिंसा के अनुसार नहीं ॥ १२ ॥

दोहा नं. १३ में बताया है कि द्रव्य हिंसा तो एक करता है किन्तु फल भोगने के भागी बहुत होते हैं। दूसरी तरफ द्रव्य हिंसा करने वाले बहुत हों और फल भोगने वाला कोई एक हो ऐसा भी होता है ॥ १३ ॥

उदाहरण – कहीं बाजार में एक व्यक्ति किसी दूसरे को मार रहा है और दस खड़े-२ तमाशा देख रहे हैं तथा देख-देख कर खुश भी हो रहे हैं तो मारने वाला एक है पर सभी देखने वाले भी भावों की क्रूरता के कारण पाप बन्ध के भागी होते हैं ॥ ९-१३ ॥

---

९. जियदु व मरदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥ मूलाचार ॥

अर्थ – जहाँ अयत्नाचार रूप प्रवृत्ति है वहाँ जीव मरे या न मरे, हिंसा निश्चय से होती ही है पर जहाँ प्रयत्नपूर्वक-समिति पूर्वक प्रवृत्ति मौजूद है वहाँ द्रव्यहिंसा यदि हो भी जाय तो द्रव्यहिंसा मात्र बन्ध का कारण नहीं होता है ।

१०. एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥ ५२ ॥ पुरुषा. ॥

अर्थ – एक ही अल्प हिंसा भी फल काल में बहुत फल देती है –

यथा (क)- एक व्यक्ति ने किसी को जान से मारने के लिए शस्त्र फेंका किन्तु दैववश वह शस्त्र उसके पूर्ण रूप से न लगकर जरा सा लगा - माना उसकी उँगली कट गई तो द्रव्य हिंसा यहाँ अल्प हुई किन्तु मारने वाले के परिणाम में तीव्र कषायभाव होने से बन्ध तीव्र ही होता है और फल भी विपुल पापमय होता है ।

(ख) अन्य की महाहिंसा - बहुत बड़ी द्रव्य हिंसा फलकाल में बहुत थोड़ा फल देती है । किसी गाड़ीवान् ने बैल को न चलने पर कोड़ा मारा पर दैववश वह कोड़ा उसके किसी ऐसे मर्म स्थान पर लगा जो बैल मर ही गया । यहाँ द्रव्यहिंसा तो महान् हुई पर भाव हिंसा में वैसी तीव्र क्रूरता न होने से बंध अल्प ही होगा – महान् नहीं ।

११. एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥ ५३ ॥ पुरुषा. ॥

अर्थ – एक साथ मिलकर की गई भी द्रव्य हिंसा फलकाल में विचित्रता को प्राप्त होती है । एक को तीव्र फल दूसरे को वही कार्य मन्द फल देता है ।

उदाहरण – *किसी व्यक्ति को दो आदमी मिलकर पीटने लगे । एक के ...*

• विपरीत फलदायी हिंसा –

एक अहिंसा कर्म भी, हिंसा फल को देय।
हिंसा भी किसी एक को, अहिंसा रूप फलेय ॥ १४ ॥

अर्थ – किसी की अहिंसा भी हिंसा फल को देती है और किसी की हिंसा

...परिणामों में उसके प्रति तीव्र कषाय है, दूसरे में बहुत अल्प रोष है। यहां पर एक जैसी भी द्रव्य हिंसा फलकाल में भिन्न-भिन्न फल देती है अर्थात् फल भावहिंसा के अनुसार होता है।

१२. प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरम्भ कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥ ५४ पुरुषा. ॥

अर्थ *– कोई हिंसा होने के पहले ही फल दे देती है और कोई हिंसा द्रव्य हिंसा हो चुकने पर फल देती है। कोई हिंसा, हिंसा करना प्रारम्भ होने पर फलती है कोई हिंसा द्रव्य हिसा करते हुए ही फल दे देती है। इत्यादि प्रकार जो भी कथन है उसमें सारांश यह है कि हिंसा कषाय भावों के अनुसार फलती है।*

१३. एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥ ५५ ॥ पुरुषा. ॥

श्लोकार्थ – *(क) द्रव्य हिंसा को तो एक करता है किन्तु फल भोगने के भागी बहुत होते हैं। यथा - कहीं बाजार में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को मार रहा है और दस खड़े तमाशा देख रहे हैं और देख-देखकर खुश होते हैं - यहाँ द्रव्यहिंसा एक कर रहा है किन्तु कर्म बन्ध पूर्वक फल सबके होगा - इस प्रकार हिंसा की एक ने और फल भोगा अनेक ने।*

(ख) कहीं द्रव्य हिंसा तो बहुत मिलकर करते हैं पर हिंसा के फल का भोक्ता एक ही होता है। उदाहरण - एक राजा ने अपने चार-पाँच सिपाहियों को किसी को मारने का हुक्म दिया, सिपाहियों का भाव उसे मारने का नहीं था किन्तु मालिक की आज्ञावश मारना पड़ा तो वहाँ द्रव्यहिंसा तो अनेकों ने की किन्तु उसका फल एक मालिक को भोगना पड़ेगा। इत्यादि।

भी अहिंसा रूप फल को देती है किन्तु अहिंसा का फल हिंसा स्वरूप और हिंसा का फल अहिंसा स्वरूप कैसे संभवित है ? समाधान – यहाँ भी परिणामों की मुख्यतानुसार कथन जानना।

जो मायावी है उसका ऐसा स्वभाव होता है कि अन्तरङ्ग में हिंसा के भाव पनपते रहते हैं पर ऊपर से ऐसी क्रिया करता है जो अहिंसा का प्रतीक हो ऐसा व्यक्ति बाहर से सद् व्यवहार करते हुए भी अन्दर में दुष्ट परिणाम होने से हिंसा का ही फल पाता है। पर कोई साधु संत अन्तरङ्ग में जीव रक्षा का भाव रखकर गमन कर रहे हैं पर अचानक कोई छोटा जीव पैरों के नीचे आ गया और दबकर मर भी गया तो बाहर में द्रव्य हिंसा होते हुए भी अन्दर में कोमल परिणाम होने से उन्हें अहिंसा का ही फल मिलता है, हिंसा का बिल्कुल नहीं। यही अनेकान्त है विचारों का समीचीन सामञ्जस्य है॥ १४॥

• आगे इसी विषय को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं –

अहिंसाभाव प्रमादि को, हिंसा का फल देय।

---

१४. हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्॥ ५७॥ पुरुषा.॥

अर्थ - किसी की अहिंसा *– फल काल में हिंसा रूप फल देकर जाती है। दूसरे किसी की हिंसा – अहिंसामय फल प्रदान करती है।*

भावार्थ – *१. मायाचारी व्यक्ति का एक ऐसा स्वभाव है कि अन्दर में तो दुष्टता रहती है, दूसरे के मारने का भाव रहता है - बाहर में वह शरीर से चेष्टा यदि उसके बचाने की करता है तो ऐसे जीव की वह शरीर चेष्टा समस्त बाह्य क्रियायें दिखावा मात्र है उसको हिंसा का ही फल मिलता है।*

२. कोई डॉक्टर रोगी को बचाने की भावना से ऑपरेशन कर रहा है पर रोगी मर जाता है तो डॉक्टर से द्रव्य हिंसा हुई पर भाव सही थे अतः हिंसा रूप फल का भागी वह नहीं बनता है।

अप्रमादि मुनि को वही, अहिंसा रूप फलेय ॥ १५ ॥

अर्थ – प्रमादी की अहिंसा भी हिंसा फल को देती है पर अप्रमादी मुनि द्वारा हुई द्रव्य हिंसा भी अहिंसा स्वरूप शुभ फल को देती है।

प्रमाद का सद्भाव भाव हिंसा का प्रतीक है और प्रमाद का अभाव अहिंसा का सूचक है। प्रमाद का हिंसा के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है क्योंकि ये दोनों सदा साथ-२ रहते हैं जैसे सूर्य के साथ-२ उसका प्रकाश भी मौजूद रहता ही है। प्रमाद के मिटते ही हिंसा का अस्तित्व भी मिट जाता है जो अप्रमत्त मुनिराज है, स्वानुभूति में निमग्न उनके श्वाँसोच्छ्वास आदि से जीव हिंसा यदि कदाचित् होती भी हो तो उनको लेशमात्र भी हिंसा का फल प्राप्त नहीं होता क्योंकि प्रमाद का अभाव है ॥ १५ ॥

◆ हिंसा अहिंसा नहीं–

अब यह बताते हैं कि अहिंसा लक्षण धर्म हेतु की गई हिंसा भी हिंसा ही है उसे भी अहिंसा नहीं कहेंगे –

देव अतिथि यज्ञादि हित, जे नर मारत जीव।
वे नहि अहिंसा धर्म के, धारी होय कदीव ॥ १६ ॥

अर्थ – जो पूज्य पुरूष हैं ऐसे देव या अतिथि के लिए किं वा याज्ञिक धर्म आदि कार्य की सिद्धि के लिये कोई क्रूर हिंसा करके अपने को अहिंसक माने तो वह भी गलत है।

भावार्थ – जीव दया ही परम धर्म है। क्रिया काण्ड विशेष भी धर्म तब कहलाता है जब उसमें जीव दया का भाव सम्मिलित है। जीवदया ही परम विवेक है। विवेक के बिना होने वाले धार्मिक कार्य भी हिंसा रूप फल को ही देते हैं। उन्हें अहिंसामय धर्म का फल थोड़ा भी प्राप्त नहीं होता है ॥ १६ ॥

◆ ''बली'' दान निषेध–

देवतार्थ बलिदान में, हिंसा कभी न होय।
क्या ऐसा कभी कह सके, अहिंसा धर्मी लोग ॥ १७ ॥

अर्थ – जो ऐसा मानते हैं कि देव पूजा के लिए पशुओं की बलि आदि चढ़ाने में हिंसा नहीं है उस मत का खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि धर्मात्मा व्यक्ति धर्म के मर्म को जानने वाला होता है। वह समझता है कि न तो हिंसा में धर्म है और न हिंसा से कोई देव प्रसन्न होता है। जिससे किसी प्राणी को कष्ट पहुँचे, उन कार्यों से देव कभी प्रसन्न होता नहीं।

भावार्थ – यहाँ पर परमत का खण्डन किया है। कुछ चार्वाक आदि मत वाले ऐसा मानते हैं कि धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है इसलिए लोक में उनके लिये बलि आदि देने में बकरे आदि की हत्या करने में दोष नहीं है ऐसी अविवेक युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि धर्म के निमित्त की गई हिंसा भी हिंसा रूप फल को ही देती है। जीव दया का अभाव होने से वहाँ उसके भाव हिंसा भी है और द्रव्य हिंसा भी अतः धर्म के नाम पर की गई हिंसा भी दुःख की वृद्धि ही करेगी, पतन का ही कारण बनेगी ॥ १७ ॥

---

१६. देवातिथि मंत्रौषधि पित्रादि निमित्ततोपि सम्पन्ना।
हिंसाधत्ते नरके किं पुनरिहनान्यथा विहिता ॥

अर्थ – *देव, अतिथि, मंत्र, औषधि, पिता आदि के निमित्त से जो हिंसा की जाती है वह भी हिंसा ही है फिर अन्य की क्या कथा? ॥ १६ ॥*

१७. ''आगमप्रामाण्यात् प्राणिवधो धर्महेतुरिति चेत् न, तस्यागमत्वासिद्धेः ॥ १३ ॥

प्रश्न – *आगम प्रमाण से प्राणी वध भी धर्म समझा जाता है ? उत्तर – नहीं, क्योंकि ऐसे आगम को आगमपना ही सिद्ध नहीं है। और भी–...*

...यदि हिंसा धर्मसाधनं मत्स्यबन्ध (बधक) शाकुनिक शौकरिकादीनां सर्वेषां अविशिष्टा धर्मावाप्तिः स्यात् ।

यदि हिंसा को धर्म का साधन माना जायेगा तो मछियारे भील आदि सर्व हिंसक मनुष्य जातियों में अविरोध रूप से धर्म की व्याप्ति चली आयेगी ।

प्रश्न - यज्ञात्कर्मणोऽन्यत्र बधः पापायेति चेत् -

ऐसा नहीं होता क्योंकि यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कार्यों में किया जाने वाला बध पाप माना गया है ।

उत्तर - न, उभयत्र तुल्यत्वात् । नहीं, यह कथन ठीक नहीं क्योंकि हिंसा की दृष्टि से दोनों तुल्य हैं ।

तादर्थ्यात् सर्गस्येति चेत् ।। २२ ।। यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा (मनुस्मृति/५/१९/इति । अतः सर्गस्य यज्ञार्थत्वात् न तस्य विनियोक्तुः पापमिति, तन्न किं कारणं । साध्यत्वात् ।

अर्थ - प्रश्न - शंकाकार (विपक्षी) का कहना है कि यज्ञ के अर्थ ही स्वयंभू ने पशुओं की सृष्टि की है अतः यज्ञ के अर्थ बध पाप का हेतु नहीं हो सकता है ।

उत्तर - यह पक्ष प्रसिद्ध है क्योंकि पशुओं की सृष्टि ब्रह्मा ने की है यह बात तो अभी सिद्ध करने योग्य है अर्थात् अभी तक असिद्ध है ।

मन्त्रप्राधान्यात् अदोष इति चेत् ।। २४ ।। प्रश्न - यथा विषं मन्त्र प्राधान्यात् उपयुज्यमानं न मरणकारणं तथा पशुबधोऽपि मंत्रसंस्कार पूर्वकः क्रियमाणो न पाप हेतुरिति-

शंकाकार (विपक्षी) पुनः कहता है -मंत्र की प्रधानता के कारण यह हिंसा निर्दोष है । जिस प्रकार मंत्र की प्रधानता के कारण प्रयोग किया विष मृत्यु का कारण नहीं होता है उसी प्रकार मंत्र संस्कार पूर्वक किया गया पशुवध भी पाप का हेतु नहीं हो सकता है । तन्न किं कारणं । प्रत्यक्ष विरोधात् (राजवार्तिक अध्याय - ८)

यदि मन्त्रेभ्यो याज्ञे कर्मणि पशून् निपातयन्तः दृश्येरन्, मन्त्रबलं श्रद्धीयेत, दृश्यते तु रज्ज्वादिभिर्मारणम् । तस्मात् प्रत्यक्ष विरोधात् मन्यामहे न मन्त्रसामर्थ्य-मिति । हिंसादोषाविनिवृत्तेः ।। २५ ।।

पूर्वोक्त विपक्षी की शंका का निराकरण करते हुए श्री अकलंक देव स्वामी...

• नैमित्तिक हिंसा का निषेध–

अतिथि जनों के हेतु नहीं, जीवघात में दोष।

क्या यह अहिंसा धर्म है, लखोदया के कोष ॥ १८ ॥

अर्थ – अतिथि आदि पूज्य पुरूषों के सत्कार के लिए जीव घात में दोष नहीं उनका खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि अहिंसा लक्षण धर्म में दया धर्म मय शब्द कोष में उक्त प्रकार की विपरीत मान्यता का प्रवेश ही असंभव है।

भावार्थ – यहाँ मुस्लिम था सिक्ख आदि धर्म की विपरीत मान्यता की ओर संकेत किया है। कोई कहे कि जब मुहम्मद आदि बड़े पुरूष अपने घर आते हैं तब उनके सत्कार के लिए बकरे के मांस का भोजन देना हिंसा नहीं धर्म है, उसके प्रति करूणाधारी आचार्य देव कहते हैं कि वह अतिथि सत्कार नहीं, हिंसा है, पाप है। ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए ॥ १८ ॥

...कहते हैं – तुम्हारा कथन सही नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष से विरोध आता है। यदि केवल मन्त्र बल से ही यज्ञ वेदी पर पशुओं का घात देखा जाता तो यहाँ मन्त्र बल पर विश्वास संभवित था पर वह बंध तो रस्सी आदि बाँधकर करते हुए देखा जाता है इसलिये प्रत्यक्ष में विरोध होने के कारण मन्त्र सामर्थ्य की कल्पना उचित नहीं है। अतः मन्त्रों से पशु वध करने वाले भी हिंसा दोष से निवृत्त नहीं हो सकते हैं।

नियतपरिणामः निमित्तस्यान्यथाविधिनिषेधासंभवात् –

अर्थ – शुभ परिणामों से पुण्य और अशुभ परिणामों से पाप बन्ध नियत है। उसमें हेरफेर नहीं हो सकता है।

१८. पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।

इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥ ८१ ॥ पुरुषार्थ. ॥

अर्थ – पूज्य पुरूष के लिए बकरादि जीवों का घात करने में दोष नहीं है ऐसा विचारकर अतिथि के लिये जीव का घात नहीं करना चाहिए। यहाँ मुस्लिम आदि धर्म के प्रति संकेत है ॥ १८ ॥

◆ यज्ञार्थ हिंसा निषेध–

यज्ञ हेतु अश्वादि बलि, हिंसा नहि कहलात।
यह भी वाक्य न युक्ति युत, सोचो तजि पक्षपात ॥ १९ ॥

अर्थ – धार्मिक यज्ञ में घोड़ा, बकरा आदि की बलि चढ़ाना हिंसा नहीं ऐसा धर्म विरूद्ध कथन युक्ति युक्त न होने से सत्पुरुषों द्वारा मान्य नहीं। मोह रूपी पिशाच से ग्रस्त होने से उक्त कथन पक्षपात रूप है एक प्रकार ही हठ ग्राहिता है। हठाग्रह को छोड़कर उन्हें धर्म के रहस्य को समझना चाहिये।

भावार्थ – कुछ मत मतान्तर वाले यज्ञ में हुई हिंसा में धर्म मानते हैं। उनका कहना है कि यज्ञ में होमा गया जीव सीधे स्वर्ग जाता है। यज्ञ करना देवताओं की आज्ञा है अतः यज्ञ में की गई हिंसा, हिंसा नहीं है, ऐसे मूर्ख दुर्बुद्धिजनों के चक्कर में पड़कर कभी भी जीवों का वध नहीं करना चाहिए। सही धर्म पर दृष्टि रखने का हम प्रयास करें ऐसा संकेत आचार्य श्री ने उक्त दोहे में किया है ॥ १९ ॥

---

१९. **यूपं छित्वा-पशून् हत्वा कृत्वा रूधिरकर्दमं।**
यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरके केन गम्यते ॥

अर्थ – यदि पशु वध करने से पशुओं के रक्त का कीचड़ बनाने से स्वर्ग मिलता है तो फिर नरक गमन के प्रति कारणभूत अन्य कौन सा पुरूषार्थ विशेष शेष रहा ?

राज्ञे ब्राह्मणाय अतिथये वा महोक्षे वा महायज्ञ वा पचेत्-

परपक्ष वालों का कथन ऐसा है – राजा, ब्राह्मण और अतिथि के लिए हृष्ट पुष्ट महान् काय बैल का महायज्ञ में होम करना चाहिए।

महाजवं वा पचेदेवमातिथ्यं कुर्वंतीति ॥ ४ ॥ महाजवं का अर्थ है बारह सिंगा हरिण *– उसको पकाकर भोजन बनाकर अतिथि सत्कार करें इत्यादि क्रूर हिंसा का पोषण करने वाले ऐसे वेद वाक्यों (स्मृत ग्रन्थ) का खण्डन करते हुए आचार्य आगे लिखते हैं ॥ १९ ॥*

* **स्थूल हिंसा निषेध–**

बहुत हने अघ बहु लदे, एक थूल हन लेय।
यह भी हेतु न उचित बुध, निज सम पर गिन लेय॥ २०॥

अर्थ – प्रस्तुत दोहे में यह बताया है कि बहुत प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है ऐसा विचार कर कदाचित् भी बड़े जीव का घात नहीं करना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार अपने को मृत्यु के समय पीड़ा होती है उसी प्रकार अन्य सभी प्राणियों को चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म बराबर रूप से दुःखानुभूति होती है।

भावार्थ – कुछ अज्ञानी जनों का ऐसा विचार है कि जिसमें असंख्य निगोद जीव हैं ऐसे आलू, मूली, गाजर आदि की अपेक्षा एक बड़े भैंसा को मारकर खाना अच्छा है क्योंकि एक जीव का ही घात होता है। मूली आदि को खाने वाले असंख्य जीवों का घात करते हैं, इत्यादि। सो यह कथन उचित नहीं। दोनों ही असेवनीय अभक्ष्य हैं। शास्त्र के अनुसार एकेन्द्रिय जीवों के मांस का सद्भाव नहीं है, त्रस जीवों के काय को मांस कहा है। कषाय तीव्र होने से त्रस के घात में और उनके भक्षण में भी अधिक दोष है। जितनी क्रूरता त्रस जीवों को मारने में देखी जाती है उतनी क्रूरता कषाय की उग्रता एकेन्द्रिय जीव घात में नहीं होने से अनेक एकेन्द्रिय की अपेक्षा एक पंचेन्द्रिय घात करना अच्छा है यह कथन न तो युक्ति संगत है और न आगम संगत॥ २०॥

---

२०. बहुसत्त्वघातजनितादशनाद् वरमेक सत्त्व घातोत्थं।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु॥ ८२॥ पुरूषार्थ.।

अर्थ - बहुत प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न भोजन अच्छा है ऐसा विचार कर बैल आदि महा दीर्घकाय जीव को मारकर भोजन तैयार कर अतिथि सत्कार आदि को कुतर्क जानकर छोड़ना चाहिए।...

लेकर कोड़ा मारा पर दैव वश वह चोट उसके किसी मर्म छेदक स्थान पर लगने से वह मर गया – यहाँ पर द्रव्य हिंसा को महान् हुई किन्तु भाव हिंसा अल्प होने के कारण पाप बन्ध अल्प ही होगा – महान् नहीं। यहाँ ऊपर दृष्टान्त में थोड़ी द्रव्य हिंसा किन्तु बंध महान् और नीचे के दृष्टान्त में महान् द्रव्य हिंसा किन्तु बन्ध अल्प बताया है। फलितार्थ यही हुआ कि हिंसा पर वस्तु की हिंसा अनुसार नहीं किन्तु अपने भावानुसार होती है। इसी सिद्धान्त को पुनः पुनः अनेक दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट करेंगे।

दोहा ११ में यह बताया है कि द्रव्यहिंसा एक जैसी होते हुए भी फल में अन्तर देखा जाता है – एक साथ मिलकर की गई भी द्रव्यहिंसा फल काल में भिन्न-भिन्न प्रकार के फल को देती है। एक को वही द्रव्य हिंसा बहुत फल को देती है और दूसरे को वही द्रव्य हिंसा अल्प फल देती है। यहाँ भावों की विचित्रता से फल में विचित्रता जानना।

उदाहरण – किसी व्यक्ति को दो आदमी मिलकर पीटने लगे। एक में उसके प्रति तीव्र कषाय है दूसरे में मन्द तो परिणामों के अनुसार अधिक भाव हिंसाधारी को अधिक पाप बंध और मन्द भाव हिंसा धारी को पाप बन्ध भी मन्द अर्थात् अल्प होता है। अर्थात् फल भाव हिंसा के अनुसार ही होता है द्रव्य हिंसा अनुसार नहीं ॥ ११ ॥

दोहा नं. १२ में ऐसा बताया है कि – कोई हिंसा, होने से पहले ही फल दे देती है और कोई हिंसा, द्रव्य हिंसा करते हुए ही फल देती है और कोई हिंसा द्रव्य हिंसा हो चुकने पर फल देती है। सारांश यहाँ भी यही है कि हिंसा, कषाय भावों के अनुसार फल देती है द्रव्य हिंसा के अनुसार नहीं ॥ १२ ॥

दोहा नं. १३ में बताया है कि द्रव्य हिंसा तो एक करता है किन्तु फल भोगने के भागी बहुत होते हैं। दूसरी तरफ द्रव्य हिंसा करने वाले बहुत हों और फल भोगने वाला कोई एक हो ऐसा भी होता है ॥ १३ ॥

उदाहरण - कहीं बाजार में एक व्यक्ति किसी दूसरे को मार रहा है और दस खड़े-२ तमाशा देख रहे हैं तथा देख-देख कर खुश भी हो रहे हैं तो मारने वाला एक है पर सभी देखने वाले भी भावों की क्रूरता के कारण पाप बन्ध के भागी होते हैं ॥ ९-१३ ॥

---

९. जियदु व मरदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥ मूलाचार ॥

अर्थ - जहाँ अयत्नाचार रूप प्रवृत्ति है वहाँ जीव मरे या न मरे, हिंसा निश्चय से होती ही है पर जहाँ प्रयत्नपूर्वक-समिति पूर्वक प्रवृत्ति मौजूद है वहाँ द्रव्यहिंसा यदि हो भी जाय तो द्रव्यहिंसा मात्र बन्ध का कारण नहीं होता है।

१०. एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥ ५२ ॥ पुरुषा. ॥

अर्थ - एक ही अल्प हिंसा भी फल काल में बहुत फल देती है -

यथा (क)- एक व्यक्ति ने किसी को जान से मारने के लिए शस्त्र फेंका किन्तु दैववश वह शस्त्र उसके पूर्ण रूप से न लगकर जरा सा लगा - माना उसकी उँगली कट गई तो द्रव्य हिंसा यहाँ अल्प हुई किन्तु मारने वाले के परिणाम में तीव्र कषायभाव होने से बन्ध तीव्र ही होता है और फल भी विपुल पापमय होता है।

(ख) अन्य की महाहिंसा - बहुत बड़ी द्रव्य हिंसा फलकाल में बहुत थोड़ा फल देती है। किसी गाड़ीवान् ने बैल को न चलने पर कोड़ा मारा पर दैववश वह कोड़ा उसके किसी ऐसे मर्म स्थान पर लगा जो बैल मर ही गया। यहाँ द्रव्यहिंसा तो महान् हुई पर भाव हिंसा में वैसी तीव्र क्रूरता न होने से बंध अल्प ही होगा - महान् नहीं।

११. एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥ ५३ ॥ पुरुषा. ॥

अर्थ - एक साथ मिलकर की गई भी द्रव्य हिंसा फलकाल में विचित्रता को प्राप्त होती है। एक को तीव्र फल दूसरे को वही कार्य मन्द फल देता है।

उदाहरण - *किसी व्यक्ति को दो आदमी मिलकर पीटने लगे। एक के ...*

• विपरीत फलदायी हिंसा –

एक अहिंसा कर्म भी, हिंसा फल को देय।
हिंसा भी किसी एक को, अहिंसा रूप फलेय ।। १४ ।।

अर्थ – किसी की अहिंसा भी हिंसा फल को देती है और किसी की हिंसा

...परिणामों में उसके प्रति तीव्र कषाय है, दूसरे में बहुत अल्प रोष है। यहां पर एक जैसी भी द्रव्य हिंसा फलकाल में भिन्न-भिन्न फल देती है अर्थात् फल भावहिंसा के अनुसार होता है।

१२. प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरम्भ कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ।। ५४ पुरुषा. ।।

***अर्थ** – कोई हिंसा होने के पहले ही फल दे देती है और कोई हिंसा द्रव्य हिंसा हो चुकने पर फल देती है। कोई हिंसा, हिंसा करना प्रारम्भ होने पर फलती है कोई हिंसा द्रव्य हिसा करते हुए ही फल दे देती है। इत्यादि प्रकार जो भी कथन है उसमें सारांश यह है कि हिंसा कषाय भावों के अनुसार फलती है।*

१३. एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ।। ५५ ।। पुरुषा. ।।

***श्लोकार्थ** – (क) द्रव्य हिंसा को तो एक करता है किन्तु फल भोगने के भागी बहुत होते हैं। यथा – कहीं बाजार में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को मार रहा है और दस खड़े तमाशा देख रहे हैं और देख-देखकर खुश होते हैं – यहाँ द्रव्यहिंसा एक कर रहा है किन्तु कर्म बन्ध पूर्वक फल सबके होगा – इस प्रकार हिंसा की एक ने और फल भोगा अनेक ने।*

(ख) कहीं द्रव्य हिंसा तो बहुत मिलकर करते हैं पर हिंसा के फल का भोक्ता एक ही होता है। उदाहरण – एक राजा ने अपने चार-पाँच सिपाहियों को किसी को मारने का हुक्म दिया, सिपाहियों का भाव उसे मारने का नहीं था किन्तु मालिक की आज्ञावश मारना पड़ा तो वहाँ द्रव्यहिंसा तो अनेकों ने की किन्तु उसका फल एक मालिक को भोगना पड़ेगा। इत्यादि।

भी अहिंसा रूप फल को देती है किन्तु अहिंसा का फल हिंसा स्वरूप और हिंसा का फल अहिंसा स्वरूप कैसे संभवित है ? समाधान - यहाँ भी परिणामों की मुख्यतानुसार कथन जानना।

जो मायावी है उसका ऐसा स्वभाव होता है कि अन्तरङ्ग में हिंसा के भाव पनपते रहते हैं पर ऊपर से ऐसी क्रिया करता है जो अहिंसा का प्रतीक हो ऐसा व्यक्ति बाहर से सद् व्यवहार करते हुए भी अन्दर में दुष्ट परिणाम होने से हिंसा का ही फल पाता है। पर कोई साधु संत अन्तरङ्ग में जीव रक्षा का भाव रखकर गमन कर रहे हैं पर अचानक कोई छोटा जीव पैरों के नीचे आ गया और दबकर मर भी गया तो बाहर में द्रव्य हिंसा होते हुए भी अन्दर में कोमल परिणाम होने से उन्हें अहिंसा का ही फल मिलता है, हिंसा का बिल्कुल नहीं। यही अनेकान्त है विचारों का समीचीन सामञ्जस्य है ॥ १४ ॥

- **आगे इसी विषय को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं –**

अहिंसाभाव प्रमादि को, हिंसा का फल देय।

---

१४. हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥ ५७ ॥ पुरुषा. ॥

अर्थ – किसी की अहिंसा - फल काल में हिंसा रूप फल देकर जाती है। दूसरे किसी की हिंसा - अहिंसामय फल प्रदान करती है।

भावार्थ – १. मायाचारी व्यक्ति का एक ऐसा स्वभाव है कि अन्दर में तो दुष्टता रहती है, दूसरे के मारने का भाव रहता है - बाहर में वह शरीर से चेष्टा यदि उसके बचाने की करता है तो ऐसे जीव की वह शरीर चेष्टा समस्त बाह्य क्रियायें दिखावा मात्र है उसको हिंसा का ही फल मिलता है।

२. कोई डॉक्टर रोगी को बचाने की भावना से ऑपरेशन कर रहा है पर रोगी मर जाता है तो डॉक्टर से द्रव्य हिंसा हुई पर भाव सही थे अतः हिंसा रूप फल का भागी वह नहीं बनता है।

अप्रमादि मुनि को वही, अहिंसा रूप फलेय ॥ १५ ॥

अर्थ - प्रमादी की अहिंसा भी हिंसा फल को देती है पर अप्रमादी मुनि द्वारा हुई द्रव्य हिंसा भी अहिंसा स्वरूप शुभ फल को देती है।

प्रमाद का सद्भाव भाव हिंसा का प्रतीक है और प्रमाद का अभाव अहिंसा का सूचक है। प्रमाद का हिंसा के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है क्योंकि ये दोनों सदा साथ-२ रहते हैं जैसे सूर्य के साथ-२ उसका प्रकाश भी मौजूद रहता ही है। प्रमाद के मिटते ही हिंसा का अस्तित्व भी मिट जाता है जो अप्रमत्त मुनिराज है, स्वानुभूति में निमग्न उनके श्वाँसोच्छ्वास आदि से जीव हिंसा यदि कदाचित् होती भी हो तो उनको लेशमात्र भी हिंसा का फल प्राप्त नहीं होता क्योंकि प्रमाद का अभाव है ॥ १५ ॥

• हिंसा अहिंसा नहीं–

अब यह बताते हैं कि अहिंसा लक्षण धर्म हेतु की गई हिंसा भी हिंसा ही है उसे भी अहिंसा नहीं कहेंगे -

देव अतिथि यज्ञादि हित, जे नर मारत जीव।
वे नहि अहिंसा धर्म के, धारी होय कदीव ॥ १६ ॥

अर्थ - जो पूज्य पुरूष हैं ऐसे देव या अतिथि के लिए किं वा याज्ञिक धर्म आदि कार्य की सिद्धि के लिये कोई क्रूर हिंसा करके अपने को अहिंसक माने तो वह भी गलत है।

भावार्थ - जीव दया ही परम धर्म है। क्रिया काण्ड विशेष भी धर्म तब कहलाता है जब उसमें जीव दया का भाव सम्मिलित है। जीवदया ही परम विवेक है। विवेक के बिना होने वाले धार्मिक कार्य भी हिंसा रूप फल को ही देते हैं। उन्हें अहिंसामय धर्म का फल थोड़ा भी प्राप्त नहीं होता है ॥ १६ ॥

◆ ''बली'' दान निषेध–

देवतार्थ बलिदान में, हिंसा कभी न होय।

क्या ऐसा कभी कह सके, अहिंसा धर्मी लोग ॥ १७ ॥

अर्थ – जो ऐसा मानते हैं कि देव पूजा के लिए पशुओं की बलि आदि चढ़ाने में हिंसा नहीं है उस मत का खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि धर्मात्मा व्यक्ति धर्म के मर्म को जानने वाला होता है। वह समझता है कि न तो हिंसा में धर्म है और न हिंसा से कोई देव प्रसन्न होता है। जिससे किसी प्राणी को कष्ट पहुँचे, उन कार्यों से देव कभी प्रसन्न होता नहीं।

भावार्थ – यहाँ पर परमत का खण्डन किया है। कुछ चार्वाक आदि मत वाले ऐसा मानते हैं कि धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है इसलिए लोक में उनके लिये बलि आदि देने में बकरे आदि की हत्या करने में दोष नहीं है ऐसी अविवेक युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि धर्म के निमित्त की गई हिंसा भी हिंसा रूप फल को ही देती है। जीव दया का अभाव होने से वहाँ उसके भाव हिंसा भी है और द्रव्य हिंसा भी अतः धर्म के नाम पर की गई हिंसा भी दुःख की वृद्धि ही करेगी, पतन का ही कारण बनेगी ॥ १७ ॥

---

१६. देवातिथि मंत्रौषधि पित्रादि निमित्ततोपि सम्पन्ना।

हिंसाधत्ते तरके किं पुनरिहनान्यथा विहिता॥

अर्थ – देव, अतिथि, मंत्र, औषधि, पिता आदि के निमित्त से जो हिंसा की जाती है वह भी हिंसा ही है फिर अन्य की क्या कथा? ॥ १६ ॥

१७. ''आगमप्रामाण्यात् प्राणिवधो धर्महेतुरिति चेत् न, तस्यागमत्वासिद्धेः ॥ १३ ॥

प्रश्न – आगम प्रमाण से प्राणी वध भी धर्म समझा जाता है ? उत्तर – नहीं, क्योंकि ऐसे आगम को आगमपना ही सिद्ध नहीं है। और भी–...

...यदि हिंसा धर्मसाधनं मत्स्यबन्ध (बधक) शाकुनिक शौकरिकादीनां सर्वेषां अविशिष्टा धर्मावाप्तिः स्यात् ।

यदि हिंसा को धर्म का साधन माना जायेगा तो मछियारे भील आदि सर्व हिंसक मनुष्य जातियों में अविरोध रूप से धर्म की व्याप्ति चली आयेगी ।

प्रश्न – यज्ञात्कर्मणोऽन्यत्र बधः पापायेति चेत् –

ऐसा नहीं होता क्योंकि यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कार्यों में किया जाने वाला बध पाप माना गया है ।

उत्तर – न, उभयत्र तुल्यत्वात् । नहीं, यह कथन ठीक नहीं क्योंकि हिंसा की दृष्टि से दोनों तुल्य हैं ।

तादर्थ्यात् सर्गस्येति चेत् ।। २२ ।। यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा (मनुस्मृति/५/१९/इति । अतः सर्गस्य यज्ञार्थत्वात् न तस्य विनियोक्तुः पापमिति, तन्न किं कारणं । साध्यत्वात् ।

अर्थ – प्रश्न – शंकाकार (विपक्षी) का कहना है कि यज्ञ के अर्थ ही स्वयंभू ने पशुओं की सृष्टि की है अतः यज्ञ के अर्थ बध पाप का हेतु नहीं हो सकता है ।

उत्तर – यह पक्ष प्रसिद्ध है क्योंकि पशुओं की सृष्टि ब्रह्मा ने की है यह बात तो अभी सिद्ध करने योग्य है अर्थात् अभी तक असिद्ध है ।

मन्त्रप्राधान्यात् अदोष इति चेत् ।। २४ ।। प्रश्न – यथा विषं मन्त्र प्राधान्यात् उपयुज्यमानं न मरणकारणं तथा पशुबधोऽपि मंत्रसंस्कार पूर्वकः क्रियमाणो न पाप हेतुरिति-

शंकाकार (विपक्षी) पुनः कहता है – मंत्र की प्रधानता के कारण यह हिंसा निर्दोष है । जिस प्रकार मंत्र की प्रधानता के कारण प्रयोग किया विष मृत्यु का कारण नहीं होता है उसी प्रकार मंत्र संस्कार पूर्वक किया गया पशुवध भी पाप का हेतु नहीं हो सकता है । तन्न किं कारणं । प्रत्यक्ष विरोधात् (राजवार्तिक अध्याय – ८)

यदि मन्त्रेभ्यो याज्ञे कर्मणि पशून् निपातयन्तः दृश्येरन्, मन्त्रबलं श्रद्धीयेत्, दृश्यते तु रज्ज्वादिभिर्मारणम् । तस्मात् प्रत्यक्ष विरोधात् मन्यामहे न मन्त्रसामर्थ्य-मिति । हिंसादोषाविनिवृत्तेः ।। २५ ।।

पूर्वोक्त विपक्षी की शंका का निराकरण करते हुए श्री अकलंक देव स्वामी...

◆ नैमित्तिक हिंसा का निषेध–

अतिथि जनों के हेतु नहीं, जीवघात में दोष।
क्या यह अहिंसा धर्म है, लखोदया के कोष॥ १८॥

अर्थ – अतिथि आदि पूज्य पुरूषों के सत्कार के लिए जीव घात में दोष नहीं उनका खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि अहिंसा लक्षण धर्म में दया धर्म मय शब्द कोष में उक्त प्रकार की विपरीत मान्यता का प्रवेश ही असंभव है।

भावार्थ – यहाँ मुस्लिम या सिक्ख आदि धर्म की विपरीत मान्यता की ओर संकेत किया है। कोई कहे कि जब मुहम्मद आदि बड़े पुरूष अपने घर आते हैं तब उनके सत्कार के लिए बकरे के मांस का भोजन देना हिंसा नहीं धर्म है, उसके प्रति करूणाधारी आचार्य देव कहते हैं कि वह अतिथि सत्कार नहीं, हिंसा है, पाप है। ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए॥ १८॥

...कहते हैं – तुम्हारा कथन सही नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष से विरोध आता है। यदि केवल मन्त्र बल से ही यज्ञ वेदी पर पशुओं का घात देखा जाता तो यहाँ मन्त्र बल पर विश्वास संभवित था पर वह बंध तो रस्सी आदि बाँधकर करते हुए देखा जाता है इसलिये प्रत्यक्ष में विरोध होने के कारण मन्त्र सामर्थ्य की कल्पना उचित नहीं है। अतः मन्त्रों से पशु वध करने वाले भी हिंसा दोष से निवृत्त नहीं हो सकते हैं।

नियतपरिणामः निमित्तस्यान्यथाविधिनिषेधासंभवात् –

अर्थ *– शुभ परिणामों से पुण्य और अशुभ परिणामों से पाप बन्ध नियत है। उसमें हेरफेर नहीं हो सकता है।*

१८. पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्॥ ८१॥ पुरुषार्थ.॥

अर्थ *– पूज्य पुरूष के लिए बकरादि जीवों का घात करने में दोष नहीं है ऐसा विचारकर अतिथि के लिये जीव का घात नहीं करना चाहिए। यहाँ मुस्लिम आदि धर्म के प्रति संकेत है॥ १८॥*

◆ यज्ञार्थ हिंसा निषेध–

यज्ञ हेतु अश्वादि बलि, हिंसा नहि कहलात।
यह भी वाक्य न युक्ति युत, सोचो तजि पक्षपात ॥ १९ ॥

अर्थ – धार्मिक यज्ञ में घोड़ा, बकरा आदि की बलि चढ़ाना हिंसा नहीं ऐसा धर्म विरूद्ध कथन युक्ति युक्त न होने से सत्पुरुषों द्वारा मान्य नहीं। मोह रूपी पिशाच से ग्रस्त होने से उक्त कथन पक्षपात रूप है एक प्रकार ही हठ ग्राहिता है। हठाग्रह को छोड़कर उन्हें धर्म के रहस्य को समझना चाहिये।

भावार्थ – कुछ मत मतान्तर वाले यज्ञ में हुई हिंसा में धर्म मानते हैं। उनका कहना है कि यज्ञ में होमा गया जीव सीधे स्वर्ग जाता है। यज्ञ करना देवताओं की आज्ञा है अतः यज्ञ में की गई हिंसा, हिंसा नहीं है, ऐसे मूर्ख दुर्बुद्धिजनों के चक्कर में पड़कर कभी भी जीवों का वध नहीं करना चाहिए। सही धर्म पर दृष्टि रखने का हम प्रयास करें ऐसा संकेत आचार्य श्री ने उक्त दोहे में किया है ॥ १९ ॥

---

१९. यूपं छित्वा-पशून् हत्वा कृत्वा रूधिरकर्दमं।
यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरके केन गम्यते ॥

अर्थ – यदि पशु वध करने से पशुओं के रक्त का कीचड़ बनाने से स्वर्ग मिलता है तो फिर नरक गमन के प्रति कारणभूत अन्य कौन सा पुरूषार्थ विशेष शेष रहा ?

राज्ञे ब्राह्मणाय अतिथये वा महोक्षे वा महायज्ञ वा पचेत्-

परपक्ष वालों का कथन ऐसा है - राजा, ब्राह्मण और अतिथि के लिए हृष्ट पुष्ट महान् काय बैल का महायज्ञ में होम करना चाहिए।

महाजवं वा पचेदेवमातिथ्यं कुर्वंतीति ॥ ४ ॥ महाजवं का अर्थ है बारह सिंगा हरिण *- उसको पकाकर भोजन बनाकर अतिथि सत्कार करें इत्यादि क्रूर हिंसा का पोषण करने वाले ऐसे वेद वाक्यों (स्मृत ग्रन्थ) का खण्डन करते हुए आचार्य आगे लिखते हैं ॥ १९ ॥*

◆ **स्थूल हिंसा निषेध–**

बहुत हने अथ बहु लदे, एक थूल हन लेय।
यह भी हेतु न उचित बुध, निज सम पर गिन लेय ॥ २० ॥

अर्थ - प्रस्तुत दोहे में यह बताया है कि बहुत प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है ऐसा विचार कर कदाचित् भी बड़े जीव का घात नहीं करना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार अपने को मृत्यु के समय पीड़ा होती है उसी प्रकार अन्य सभी प्राणियों को चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म बराबर रूप से दुःखानुभूति होती है।

भावार्थ - कुछ अज्ञानी जनों का ऐसा विचार है कि जिसमें असंख्य निगोद जीव हैं ऐसे आलू, मूली, गाजर आदि की अपेक्षा एक बड़े भैंसा को मारकर खाना अच्छा है क्योंकि एक जीव का ही घात होता है। मूली आदि को खाने वाले असंख्य जीवों का घात करते हैं, इत्यादि। सो यह कथन उचित नहीं। दोनों ही असेवनीय अभक्ष्य हैं। शास्त्र के अनुसार एकेन्द्रिय जीवों के मांस का सद्भाव नहीं है, त्रस जीवों के काय को मांस कहा है। कषाय तीव्र होने से त्रस के घात में और उनके भक्षण में भी अधिक दोष है। जितनी क्रूरता त्रस जीवों को मारने में देखी जाती है उतनी क्रूरता कषाय की उग्रता एकेन्द्रिय जीव घात में नहीं होने से अनेक एकेन्द्रिय की अपेक्षा एक पंचेन्द्रिय घात करना अच्छा है यह कथन न तो युक्ति संगत है और न आगम संगत॥ २० ॥

---

२०. बहुसत्त्वघातजनितादशनाद् वरमेक सत्त्व घातोत्थं।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥ ८२ ॥ पुरूषार्थ.।

अर्थ - *बहुत प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न भोजन अच्छा है ऐसा विचार कर बैल आदि महा दीर्घकाय जीव को मारकर भोजन तैयार कर अतिथि सत्कार आदि को कुतर्क जानकर छोड़ना चाहिए।...*

◆ हिंसक जीवों की हिंसा का निषेध–

हिंसक जीव के घात में जीव दया बहु होय।
हिंसक का भी बधक वह, क्या हिंसक नहीं होय ॥ २१ ॥

अर्थ – कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि बहुत जीवों के घातक सिंह आदि जीव यदि जीते रहेंगें तो वे अनेक जीवों को मारकर खायेंगे और अधिक पाप उपार्जन करेंगे अतः बहुत जीवों पर दया भावना करके हिंसक जीव को मार देना चाहिए। उनको मारने से बहुत जीवों का रक्षण होता है, अतः क्रूर जीव को मारने में पाप नहीं धर्म है। इस मिथ्या मत का खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं प्रत्येक प्राणी पूर्व पर अपेक्षा हिंस्य भी बनता है और हिंसक भी। अतः आप किन-किन को मारोगे ? और किनको बचाओगे ? कारण पाकर हिंसक जीव भी हिंसा छोड़ देता है।

तपस्वी मुनिराजों की शान्त छवि को देखकर क्रूर जीव भी क्रूरता छोड़ देते हैं हम उस परम अहिंसा भाव को अपनाये जिससे प्रभावित होकर हिंसक जीव हिंसा करना छोड़ दे। यदि उनको मारेंगें तो वैर भाव पूर्वक मरण कर अगले भव में वे आपको मारेंगे, वैरभाव की श्रृंखला और सुदृढ़ होती चली जायेगी। अतः किसी भी जीव को संकल्प पूर्वक मारना पाप है, धर्म नहीं। हिंसक को मारते समय भी हिंसा भाव किं वा उग्र कषाय होती है अतः उससे पाप का फल ही प्राप्त होता है। उसमें लेश मात्र भी धर्म नहीं है ॥ २१ ॥

---

*...**भावार्थ** - स्मृति आदि वेद को मानने वालों की ऐसी मिथ्या मान्यता है कि एक-एक गेहूँ के दाने में एक-एक जीव होता है उसको खाने से वे मर जाते हैं इससे बहुत बड़ा पाप होता है अतः इतने जीवों का घात करने की बजाय एक बड़े भैंसे इत्यादि का वध करके खा लिया जाय तो वह अच्छा है। सो ऐसी मूर्खता की बातों में आकर कभी भी जीवों को नहीं मारना चाहिए ॥ २० ॥*

◆ दुःखी जीवों की हिंसा का निषेध –

बहुत दुःखी यह जीव कब, करे दुःख का अंत।
यह विचार बुध करत क्या ? निज परिजन का अंत ॥ २२ ॥

अर्थ – बहुत दुःखी जीव को मार देने से उनके दुःख का अन्त हो जायेगा ऐसा विचार कर दुःखी जीवों को मारना भी धर्म नहीं है। उनके प्रति गुरूदेव प्रश्न करते हैं कि अपने परिजन पुरजनों को वे ऐसा सोचकर क्यों नहीं मारते ?

उनका यह विचार कि जितने दिन तक संसार में ये जीते रहेंगे उतने दिन तक दुःख झेलना पड़ेगा, अभी मार देने से दुःखों से छूट जायेंगे। इस प्रकार के विपरीत विचार रखने वाले वस्तु स्वरूप एवं कर्म सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित हैं। दुःख जीवों का उनके अपने ही दुष्कर्मों का फल है। जिन जीवों ने जैसे-जैसे खोटे कर्म किये हैं उन्हीं के अनुसार उनके अशुभ कर्मों का बंध हुआ, वे ही उदय में आकर उन्हें दुःख पहुँचाते हैं। जब तक कर्म उदय में आते रहेंगे तब तक वह दुःखी रहेगा, चाहे जीव वर्तमान पर्याय में हो या मरकर दूसरी पर्याय में चला जाय, कहीं भी हो कर्मों का फल उसे भोगना ही पड़ेगा।

---

२१. बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम्।
इत्यनुकंपां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥ ८४ ॥ पुरुषार्थ. ॥

अर्थ – बहुत जीवों के घाती ये बिल्ली आदि हिंसक प्राणी जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे। इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिए।

रक्षाभवति बहूना मेकस्यैवास्य जीवहरणेन
इति मत्त्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥ ८३ ॥ पुरूषार्थ. ॥

अर्थ – हिंसक एक जीव को मारने से उनसे मरने वाले बहुत से जीवों की रक्षा होती है ऐसा मानकर हिंसक जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥ २१ ॥

ऐसी अवस्था में उन्हें दुःख से छुड़ाने के लिये मार डालने की बात व्यर्थ है। मारने पर तो उसे उस समय और अधिक पीड़ा होगी और तीव्र आर्त ध्यान से मरकर दुर्गति में जायेगा। और भी मारने वाला महान् पाप का बंधकर स्वयं भी दुःख का भाजन बनेगा ॥ २२ ॥

• सुखी जीवों की हिंसा का निषेध–

सुखित हने मरि पायेंगे, परभव में भी सुख।
इस कुतर्क तलवार को, गहत न साधु कदापि ॥ २३ ॥

अर्थ – जो सुखी हैं उनको मार दिया जाय तो वे परभव में भी सुखी होंगे ऐसा कुतर्क कर साधु पुरूष कभी भी सुखी को मारने का दुष्प्रयास नहीं करते हैं।

तलवार का प्रहार जिस पर होता है वह जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाता है इसी प्रकार पूर्वोक्त प्रकार के कुतर्क रूपी तलवारो से भी जीव निज आत्म धर्म का विघात कर दुर्गति को प्राप्त करता है।

भावार्थ – हम कुतर्कों से सावधान रहें इसके लिये आचार्य कहते हैं साधु के विचारों में साधुता होनी चाहिए। यथार्थता तो यह है कि सुख-दुःख का मिलना शुभाशुभ कर्मों के अधीन है वह जीने या मरने से नहीं बनता। यह बात मिथ्या है कि सुखी जीव सुखी अवस्था में मरकर परभव में भी सुखी रहेगा। जब बिना आयु पूर्ण हुए मध्य में उसे हठात् मारा जायेगा तो वज्र पात के समान भारी कष्ट होगा और आर्त रौद्र ध्यान से मरण कर वह नरक तिर्यञ्च पर्याय में भी जा सकता है फिर आप ही बताओ कि वहाँ अपेक्षाकृत अधिक सुख होगा या अधिक दुःख होगा ? कुतर्क पूर्वक जीवघात करने वाला भी महान् हिंसक है स्वयं भी वह दीर्घकाल तक पापोदय से दुःखी रहता है ॥ २३ ॥

---

२३. कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखीनां घाताय नादेयः ॥ ८६ ॥ पुरुषार्थ.।

भावार्थ – कोई-कोई ऐसा कुतर्क करते हैं कि जो यहाँ दुःखी अवस्था में मरता..

◆ **समाधिस्थ गुरू हिंसा निषेध–**

समाधिस्थ गुरु हनन से, गुरु लहै वैकुंठ।
पूर्व समय की उक्ति यह, बुधजन मिथ्या जान॥ २४॥

अर्थ – नय प्रमाण से शोभित अनेकान्त जिनवाणी का जिनको समीचीन ज्ञान है वे बुध जन, गुरु हिंसा की बात दूर रहे उनके लिए पीड़ा कारक प्रसङ्ग बने वैसा कार्य कभी नहीं करते हैं।

कुछ विधर्मियों की मान्यता है कि समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है अतः यदि समाधि को प्राप्त गुरु का सिर काट दिया जायेगा तो वे मोक्ष को प्राप्त हो जायेंगे। इस प्रकार के मिथ्या विचार से अपने गुरु की हिंसा नहीं करनी चाहिए। गुरु हिंसा से बड़ा दुनियाँ में कोई भी पाप नहीं। यदि हम पाप और उसके फल से मुक्त होना चाहते हैं तो गुरु के घात में धर्म मानना छोड़ दें॥ २४॥

◆ **आत्मघात निषेध –**

विशेष हेतु के होत भी, बुध न करत निज नाश।
अग्न्यादिक अपघात से, निश्चय नरक निवास॥ २५॥

..है वह नियम से नरकादि को प्राप्त होकर अधिक दुःखी होता है और यहाँ सुखी अवस्था में मरता है वह नियम से स्वर्गादि में जाकर अधिक सुखी होता है अतः सुखी जीव को मार देना चाहिए ताकि वह बहुत समय तक परलोक में सुखी रहे। ऐसा कुतर्क देकर सुखी जीवों को नहीं मारना चाहिए॥ २३॥

२४. उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषिता॥ ८७॥ पुरुषार्थ.।

भावार्थ *– शास्त्रों में लिखा है कि समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः यदि समाधि को प्राप्त गुरु का सिर काट दिया जाएगा तो वे मोक्ष को प्राप्त हो जायेंगे। इस प्रकार के मिथ्या विचार से अपने गुरु की हिंसा नहीं करनी चाहिए॥ २४॥*

अर्थ – आत्मघात करना हर प्रकार से पाप ही है उसमें धर्म मानना मिथ्या कल्पना है। अग्नि में कूदकर मरना, गिरिपात, झंपापात, समुद्र की लहरों में अपने को समर्पित करना आदि से जो धर्म मानते हैं वह सर्वथा मिथ्यात्व है उक्त प्रकार के कुमरण से जान बूझकर प्राणों का बिना कारण अपघात कर मरने से नरकादि दुर्गति में जाना पड़ता है। अतः सदा स्वपर हित की भावना रखने वाले आचार्य श्री यहाँ अपघात का निषेध करते हैं॥ २५॥

---

२५. आत्मवधो जीव वध, तस्य रक्षा आत्मनो रक्षा।
आत्मा नहि हन्तव्यस्तस्यवधस्तेन मोक्तव्यः॥

अर्थ – जीव वध आत्मवध है, जीव की रक्षा आत्मरक्षा है अतः जीववध छोड़ना चाहिए क्योंकि आत्मघात नहीं करना चाहिए यह बात सर्वमान्य है।

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः॥ १७८॥ पुरुषार्थ.॥

अर्थ – जो कोई वास्तव में क्रोधाविष्ट होकर श्वांस निरोध से, जल, अग्नि, विष, शस्त्र आदिकों से अपने प्राणों को नष्ट करता है उसके आत्मघात अवश्य होता है।

भावार्थ - *आत्मघात निन्द्य और नरकादि कुगति को ले जाने वाला है अतः उससे विमुख होकर समाधिपूर्वक, सन्यास मरण का अभ्यास करना चाहिए।*

सन्यास मरण में हिंसा के हेतु कषाय भाव नहीं रहते अतः सुगति का कारण है।

अहिंसामात्माधारां व्याघातेन निपात्यते नरके।
स्वाधारां शाखां छिंदानाम् किं भूमौ न पतति ?॥

अर्थ – अहिंसा आत्मा का धर्म है और आत्मा धर्मी है इस अपेक्षा परस्पर मे (अविभक्त होने पर भी) आधार आधेय भाव है। अपने आधारभूत शाखा को भेदने वाला क्या भूमि पर नहीं गिरता ? गिरता ही है इसी प्रकार अहिंसा धर्म के बिना आत्मा भी पतन को प्राप्त होती है धर्म के बिना धर्मी की सुरक्षा भला कैसे संभव है ?

◆ सामान्य हिंसा का निषेध –

झट घट फट से चटक सम, जीव मुक्त हो जाय।
खारफटिक सिद्धान्त यह, मत वरतो दुखदाय ॥ २६ ॥

अर्थ – घट के फूटने से चिड़ियाँ के मोक्ष के समान जो मोक्ष का स्वरूप मानते हैं ऐसे खारपटिक मत का खण्डन करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि उक्त प्रकार की मान्यता आत्म वञ्चना है, दुःख का कारण है उनसे अपनी रक्षा करो, मोक्ष के स्वरूप को आगम से समझने की चेष्टा करो।

भावार्थ – खारपटिक नाम का एक मत है उसका कहना है कि जैसे एक चिड़िया जब तक घड़े में बन्द है तब तक कैद में है। घड़े के फूटने से वह आजाद होकर उड़ जाती है। उसी प्रकार यह आत्मा शरीर में कैद है। शरीर के फोड़ देने से आत्मा मुक्त हो जाता है। उन्होंने ऐसा सिद्धान्त केवल लोभ वश बनाया है। वे शिष्यों को इस प्रकार शिक्षा देकर उनका धन योजना पूर्वक लूटते हैं। उनका धन लेकर उन्हें मोक्ष के लिए नदी इत्यादि में धक्का देकर मार डालते हैं। अतः आचार्य भव्य जीवों को कहते हैं कि ऐसे पापियों के जाल में फँसकर अपनी हिंसा नहीं होने देना चाहिए ॥ २६ ॥

---

२६. धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ॥ ८८ पुरुषार्थ.॥

अर्थ – थोड़े से धन के प्यासे और शिष्यों को विश्वास उत्पन्न करने के लिए नाना प्रकार की रीतियाँ दिखलाने वाले खारपटिकों का मत - "जैसे घड़ा फूटने पर उसमें कैद चिड़ियाँ मुक्त हो जाती है उसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है" सर्वथा गलत है। उन्होंने ऐसा सिद्धान्त केवल लोभ वश बनाया है। धन लूटकर नदी में धक्का देकर मार डालना घोर हिंसा है, पाप है, दुर्गति का कारण है ॥ २६ ॥

◆ **हिंसा से जपादि व्यर्थ –**

अहिंसा बिन जप तप सकल, व्यर्थ न पाप नशाहिं।
जिमि तारागण चंद बिन, तम न हरे निशि माँहि॥ २७॥

अर्थ – अहिंसा के बिना सभी जप, तप आदि धार्मिक कार्य भी व्यर्थ हैं उनसे पाप का नाश नहीं होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा के बिना तारागण की उपस्थिति अन्धकार को नष्ट नहीं कर पाती है।

जहाँ हिंसा है वहाँ परिणामों की विशुद्धि नहीं रहती फलतः जप, तप आदि बाह्य क्रियायें व्यर्थ चली जाती हैं। पुण्य और पाप का संबंध अपने परिणामों से है। यदि परिणामों में सात्विकता नहीं है तो धार्मिक क्रियायें भी आत्मोन्नति का कारण नहीं बनती, पुण्य कार्य वह नाम मात्र को है यथार्थ में नहीं। जिस प्रकार अंधकार को नाश करने की शक्ति चन्द्रमा में है ताराओं में नहीं ठीक इसी प्रकार पाप क्षय की शक्ति अहिंसा धर्म में है अहिंसा के बिना सम्पादित धर्म क्रियायें तारागणों की भाँति पापान्धकार को नष्ट नहीं कर पाती हैं॥ २७॥

◆ **निष्पक्षता की आवश्यकता–**

भो बुध! अहिंसा रहस्य को, सोचो तज पक्षपात।
सब जीवन की जान को, लखो आप सम भ्रात॥ २८॥

अर्थ – हे सम्यग्ज्ञानी भव्य जीवों! तुम मिथ्या पक्षपातों से छूटकर अहिंसा

---

२७. जीव त्राणेन बिना व्रतानि कर्माणि न निरस्यन्ति।
चन्द्रेण बिना ऋक्षैर्हन्यते न तिमिर जालानि॥

भावार्थ – जीव रक्षा के बिना गृहीत व्रत आदि कर्मों की निर्जरा के कारण नही होते हैं अर्थात् पाप बन्ध से छुटकारा जीव रक्षा के बिना असंभव है। यथा – चन्द्रमा के बिना अकेले नक्षत्रों से रात्रिगत अन्धकार दूर नहीं हो सकता है।

के रहस्य को समझो और अपने समान अन्य जीवों के प्राण भी रक्षणीय हैं ऐसा जानकर उत्तम अहिंसा धर्म को स्वीकार करो।

भावार्थ – जिनमत के रहस्य को जानकर भाव हिंसा द्रव्य हिंसा के फल को समझकर योग्य श्रद्धान कर अहिंसा धर्म ही परम धर्म है ऐसा जानकर सब जीवों का प्रयत्न पूर्वक रक्षण करना चाहिए ॥ २८ ॥

विशेष –

अहिंसा तत्त्व के लखन की, यदि हो अधिकी चाह।
देखो जैन सिद्धान्त को, संशय सब मिट जाय ॥ २९ ॥

अर्थ – और भी विस्तार पूर्वक अहिंसा तत्त्व को जैन सिद्धान्त के आधार से समझ कर आत्म हित करने का प्रयास करना चाहिए। संशय तिमिर का मूल नाश जिनसे होता है वह जैन सिद्धान्त ही है। अतः इसका अध्ययन कर सब प्रकार के विभ्रमों को चित्त से निकालकर सच्चे धर्म की शरण स्वीकार करनी चाहिए ॥ २९ ॥

◆ तृतीय अध्याय का सारांश

इमि विधर्मी सद्धर्म में, हिंसा दई मिलाय।
महावीर संक्षिप्त वह, कही सुअवसर पाय ॥ ३० ॥

---

२९. को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥ ९० ॥ पुरुषार्थ. ॥

अर्थ – *नय भङ्गों के जानने में प्रवीण, गुरू की उपासना कर जिनमत के रहस्य को समझने वाला जो निर्मल बुद्धि का धारी है उनमें भला ऐसा कौन होगा ? जो पूर्वोक्त मिथ्यामतों में मूढ़ता को प्राप्त हो ? कोई नहीं। विवेकी जन मिथ्यामत के गहन चक्र से सदा दूर रहते हैं। समीचीन अहिंसा धर्म को जानना है तो वह जानना नयभङ्ग विशारद वीतरागी गुरूओं की देशना से ही संभव है अन्य प्रकार नहीं।*

अर्थ - जो प्राणी मात्र का हित करने वाला है उसे सद्धर्म कहते हैं उसमें विधर्मियों ने हिंसा का प्रवेश कराकर धर्म को भी भयंकर पाप वर्धक, दुःखवर्धक कर दिया है। भगवान् महावीर के सिद्धान्त को संक्षेप में रखकर उन मिथ्या मतों का मैंने खण्डन किया है। समीचीन धर्म के प्रतिपादन का जो सुअवसर आज हमें मिला है वह भविष्य में मुक्ति का कारण बने, यही भावना है॥ ३०॥

इति तृतीय अध्याय

❃ अथ चतुर्थ अध्याय ❃

◆ **सामान्य गृहस्थाश्रम का कर्त्तव्य** –

गृहिणी युत ही गृहस्थ जन, द्वितीयाश्रम के योग।
दैनिक कर्म सुमूल गुण, पालै तजि अघ जोग ॥ १ ॥

अर्थ – गृहस्थ को प्रत्येक धार्मिक क्रिया गृहिणीयुत (धर्म पत्नी के साथ) ही करना उचित है। दैनिक षट्कर्मों का पालन, मूलगुणों का पालन कर पाप नाश हेतु योग्य पुरूषार्थ करना चाहिए। दोहे में द्वितीय आश्रम शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है गृहस्थ आश्रम।

नीति वाक्यामृत में आश्रम के चार भेदों का नाम इस प्रकार है वैसा ही जिनागम में वर्णित है –

"ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिरित्याश्रमाः।"

१. ब्रह्मचर्याश्रम, २. गृहस्थाश्रम, ३. वानप्रस्थाश्रम, ४. सन्यासाश्रम।

१. जिस पुरूष ने सम्यग्ज्ञान पूर्वक कामवासना का निग्रह किया है वह ब्रह्मचारी कहलाता है। चारित्र धारण की अपेक्षा सातवीं से नवमीं प्रतिमाधारी तक को ब्रह्मचारी कहते हैं।

२. जो घर में रहते हुए दान पूजा स्वाध्यायादि षट्कर्मों का पालन करने में दत्त चित्त रहता है वह गृहस्थ है। चारित्र पालन की श्रेणियों के अनुसार छठीं प्रतिमाधारी पर्यन्त गृहस्थाश्रमी कहलाता है।

३. दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी चारित्री वानप्रस्थ कहलाते हैं।

४. इनके ऊपर परम वीतरागी दिगम्बर मुद्राधारी मुनिवर यत्याश्रमी हैं। उपचार से आर्यिकायें भी यत्याश्रमी हैं। गृहस्थ को गृहिणी के साथ पूजा अभिषेक करना चाहिए। संस्कृत में लिखित जो शान्तिनाथ पूजा विधान है –

उसमें लिखा है -

"सपत्नीकोऽभिषेकार्चा सामग्रींहस्तसात्कृतां ।

उपादाय ततो गच्छेदीर्यापथशुद्धितः"

अर्थ - अभिषेक और पूजा गृहस्थ को पत्नि सहित करना चाहिए। दोनो ही शुद्ध सामग्री लेकर ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक जिन मंदिर में पहुँचे और पूजा विधान करें ॥ १ ॥

◆ गृहस्थ के दैनिक कर्म –

देवयजन गुरु सेव नित, धर्म शास्त्र स्वाध्याय ।

संयम तप चउदान युत, गृही षट् कर्म कराय ॥ २ ॥

अर्थ – गृहस्थ को आत्म विकास के लिये, पाप क्षय और सम्यक्त्ववर्धिनी पुण्य अर्जन हेतु प्रतिदिन यथाविधि देवपूजा, गुरु पूजा, गुरु की सेवा, धर्म शास्त्र का पठन-पाठन, संयम-यथायोग्य व्रत नियम लेकर इन्द्रिय जय का अभ्यास करना, इच्छा निरोध रूप तप करना और चारों प्रकार का आगम विधि से दान करना - इन षट् कर्मों का प्रतिदिन पालन करना चाहिए। इनका विस्तार से अनुक्रम से आगे उल्लेख करेंगे ॥ २ ॥

---

१. "गृहिणीमेव गृहमाहुर्न कुड्यकट संहतिं"

अर्थ - गृहस्थधर्म के परिपालक जो श्रावक-श्राविकायें उनके निवास स्थान को गृह कहते हैं ईंटों की दीवालों से बना मकान मात्र गृह नहीं है। ऐसा यहाँ अभिप्राय है।

"तत्त्वाभ्यासः स्वकीय व्रतं दर्शनञ्च यत्र निर्मलं तद् गार्हस्थ्यं बुधानामित-रदिह पुनः दुःखदो मोहपाशः ।"

अर्थ - जो तत्त्वाभ्यासी है, तत्त्वार्थ श्रद्धान पूर्वक निरतिचार अपने व्रतों का पालन करता है विद्वानों ने उसे ही गृहस्थ कहा है अन्य प्रकार जो लोक में पुत्र-पौत्रादिक के संयोग मात्र गृहस्थी मानी जाती है वह तो मोह पाश है, दुःख का कारण है ॥ १ ॥

◆ देव पूजा –

वीतराग सर्वज्ञ को पूजे नित चित लाय।

जल फलादि वसु द्रव्य से, पूजत पाप नशाय ॥ ३ ॥

अर्थ – जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं ऐसे देव ही सच्चे देव हैं उनकी भावपूर्वक जो अष्ट द्रव्य से पूजा करता है उसके पापों का नाश होता है अर्थात् पाप रूप प्रकृतियों में जो अनन्तानुबंधी आदि दुःखोत्पादक प्रकृतियाँ हैं उनको वह जिन भक्ति से उखाड़ फेंकता है। जिन भक्ति को सम्यक्त्व की प्राप्ति में बाह्य निमित्त कहा भी है, निकाचित और निधत्ति रूप दृढ़ कर्म भी जिनभक्ति से नष्ट हो जाते हैं, अतः षट्कर्मों में जिन पूजा को प्रथम स्थान प्राप्त है। श्रावकों को प्रतिदिन जिन पूजा करने के लिये संकेत इस पद्य में किया है।

जो क्षुधा तृषा आदि १८ दोषों से रहित हैं वे ही वीतरागी हैं जो वीतरागी

---

२. देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानश्चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थ – देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थों के षट् कर्म प्रतिदिन करने योग्य हैं।

प्रातरूत्थाय कर्त्तव्यं देवता गुरू दर्शनं । भक्त्या तद् वंदना कार्य धर्मश्रुतिरूपासकैः। पश्चादन्यानि कार्याणि कर्त्तव्यानि यतो बुधैः ॥

अर्थ – प्रातःकाल उठकर सर्वप्रथम देव दर्शन और गुरू हों तो गुरू का दर्शन करना चाहिये। जिनधर्म के उपासकों एवं शास्त्र-जिनागम के उपासकों द्वारा भक्ति पूर्वक उनकी भी वन्दना करनी चाहिए तदनन्तर अन्य कार्यों में लगना चाहिए यही बुधजनों के लिये करने योग्य श्रेष्ठ कर्त्तव्य हैं।

"धर्मार्थकाम मोक्षाणां आदौ धर्मः प्रकीर्तितः।"

अर्थ – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरूषार्थ हैं उनमें धर्म मुख्य पुरूषार्थ है। अतः उसे सबसे पहले कहा है ॥ २ ॥

है वही सर्वज्ञ भी होता है। जो वीतरागी नहीं वह सर्वज्ञ भी नहीं और हितोपदेशी भी नहीं। इत्यादि प्रकार लक्षणों से सच्चे देव की परीक्षा कर पूजा करना योग्य है।

भगवती आराधना में पूजा के २ भेद बताये गये हैं - "पूजा द्विप्रकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति" १. द्रव्य पूजा, २. भावपूजा ये पूजा के २ भेद हैं।

द्रव्य पूजा किसे कहते हैं ? इसके समाधान में भगवती आराधना में आचार्य लिखते हैं - "गन्धपुष्पधूपाक्षतादिदानं अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्य पूजा। अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरण प्रणमनादिका काय क्रिया च वाचा गुणस्तवनं च।"

अर्हन्त आदि के उद्देश्य से गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादि समर्पण करना यह द्रव्य पूजा है तथा उठकर खड़े होना, तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना वगैरह शरीर क्रिया करना, वचनों से अर्हंत देव के गुणों का स्तवन करना यह भी द्रव्य पूजा है।

वसुनन्दि श्रावकाचार में इस संदर्भ में विशेष उल्लेख इस प्रकार है -

द्रव्य पूजा सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार की है -

१. सचित्त - प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरू आदि का यथायोग्य पूजन करना सो सचित्त पूजा है।

२. अचित्त - उन्हीं तीर्थंकरादि की आकृति-शरीर की पूजा तथा लिपिबद्ध शास्त्र की पूजा अचित्त पूजा है और ३. जो दोनों पूजा है वह मिश्र पूजा है। आगम द्रव्य और नोआगम द्रव्य आदि के भेद से अनेक प्रकार के द्रव्य निक्षेप को जानकर शास्त्र के प्रतिपादित मार्ग से द्रव्यपूजा करनी चाहिए।

भाव पूजा किसे कहते हैं -

भगवती आराधना ग्रन्थ के अनुसार - "भाव पूजा मनसा तद्गुणानुस्मरणं" मन से अर्हन्त के गुणों का स्मरण करना, चिन्तन करना भाव पूजा है।

श्री अमितगति आचार्यकृत श्रावकाचार के अनुसार-

"तत्र मनसा सङ्कोचो भाव पूजा पुरातनैः ।" मन को अन्य ओर से हटाकर जिन भक्ति में लगाना उसे पुरातन पुरुषों ने भाव पूजा कही है। और भी-

"व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः गुणानां यदनुध्यानं भाव पूजेय मुच्यते ॥ १४ ॥

जिनेन्द्र देव के व्यापक विशुद्ध गुणों का परम अनुराग से जो बार-बार चिन्तवन करना सो यह भावपूजा कही जाती है।

संसार को जीतने वाले जिनेन्द्र प्रभु की दोनों ही प्रकार से पूजा करने वाले पुरुष को दोनों ही लोक में कोई भी श्रेष्ठ वस्तु पाना दुर्लभ नहीं है।

पद्मनन्दी पंचविंशतिका ग्रन्थ में - जिनेन्द्र पूजा की अनिवार्यता दिखाते हुए आचार्य लिखते हैं -

"ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।

निष्फलं जीवितं तेषां, तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥ १५ ॥ (छ.अ.)

प्रातरुत्थाय कर्त्तव्यं देवतागुरूदर्शनम् ।

भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥ १६ ॥

अर्थ - जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान् का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं और न स्तुति करते हैं उनका जीवन निष्फल है तथा उनके गृहस्थ जीवन को धिक्कार है॥ १५ ॥ श्रावकों को प्रातः काल उठकर भक्ति से जिनेन्द्र देव तथा निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन और उनकी वन्दना करके धर्म श्रवण करना चाहिए तत्पश्चात् अन्य कार्यों को करना चाहिए।

जिनपूजा का फल निर्जरा और मोक्ष है -

भगवती आराधना ग्रन्थ के अनुसार-

"एया वि सा समत्था जिण भत्ती दुग्गइं णिवारेण ।

पुण्णवि य पूरेदु आसिद्धिः परं परसुहाणं ॥ ७४६ ॥

बीएण बिणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण बिणा।

आराधणमिच्छन्तो आराधणभत्तिमकरंतो ॥ ७५० ॥

वसुनन्दि श्रावकाचार, भावपाहुड़ में भी ऐसा ही उल्लेख है -

अर्थ - अकेली जिनभक्ति ही दुर्गति का नाश करने में समर्थ है। इससे विपुल पुण्य की प्राप्ति होती है और मोक्ष प्राप्ति होने तक इससे इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, अहमिन्द्र पद और तीर्थंकर पद के सुखों की प्राप्ति होती है ॥ ७४६ ॥ आराधना रूप भक्ति न करके ही जो रत्नत्रय सिद्धि रूप फल चाहता है वह पुरूष बीज के बिना धान्य प्राप्ति की इच्छा रखता है अथवा मेघ के बिना धान्य प्राप्ति की इच्छा करता है।

भावपाहुड़ ग्रन्थ के अनुसार-

जिणवरचरणंबुरूहं णमंति जे परमभत्तिराएण।

ते जम्मबेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥ १५३ ॥ भावपाहुड़

अर्थ - जो पुरूष परम भक्ति से जिनेन्द्र देव के चरण कमलों में नमस्कार करते हैं वे श्रेष्ठ भाव रूपी शस्त्र से संसार वल्लरि के मूल जो मिथ्यात्व आदि कर्म हैं उनका जड़ से नाश कर देते हैं।

धवला पुस्तक ६ में भी ऐसा उल्लेख है-

"दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुञ्जरम्।

शतधाभेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा ॥

अर्थ - जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन से पाप संघात रूपी कुञ्जर के सौ टुकड़े हो जाते हैं। जिस प्रकार कि वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

और भी - जिण बिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि।

मिच्छत्तादि कम्मकलावस्स खयदंसणादो ॥ (ध. पु. ६)

अर्थ – जिन बिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्म कलाप का क्षय देखा जाता है।

जिन बिम्ब भी पूजनीय है –

भगवती आराधना ग्रन्थ में बताया है–

जैसे अर्हंत आदि भव्यों को शुभोपयोग उत्पन्न करने में कारण हैं वैसे उनके प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोग उत्पन्न करते हैं। जैसे - अपने पुत्र के समान ही दूसरे का सुन्दर पुत्र देखने से अपने पुत्र की याद आती है। इसी प्रकार अर्हन्त आदि के प्रतिबिम्ब देखने से अर्हदादि के गुणों का स्मरण हो जाता है। इस स्मरण से नवीन अशुभ कर्म का संवरण होता है। इसलिए समस्त इष्ट पुरूषार्थ की सिद्धि करने में जिनबिम्ब भी हेतु है अतः उनकी उपासना अवश्य करनी चाहिए॥ ३॥

- **साधु सेवा –**

विषय चाह जिस चित्त नहिं, नहिं परिग्रह साथ।
ज्ञानी ध्यानी साधु को, सेवत बुध नमि माथ॥ ४॥

अर्थ – जिनका चित्त (मन) पंचेन्द्रिय विषय भोगों की चाह से रहित है। जिनके पास २४ प्रकार के परिग्रह नहीं होते हैं, जो ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी हैं, बुधजन जिनके चरणों की सेवा करते हैं ऐसे साधुओं को - आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन परमेष्ठियों को मस्तक झुका कर वन्दन करता हूँ, उनकी सेवा करता हूँ।

साधु का लक्षण बताते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य कहते हैं -

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते॥ १०॥

---

३. प्रमदाभाषते कामं द्वेषमायुध संग्रहः।

अर्थ – राग के मद से परिपूर्ण स्त्री काम भाव को प्रगट करती है। आयुध का संग्रह शत्रु पक्ष के प्रति उत्साहित करता हुआ द्वेष को प्रगट करता है॥ ३॥

अर्थ - जो विषयों की आशा के आधीन नहीं है। जो असि, मषि, कृषि आदि जीविका के उपायभूत आरंभ से रहित हैं, जो अन्तरङ्ग तथा बाह्य किसी भी परिग्रह से युक्त नहीं है और जो ज्ञान, ध्यान तथा तप में अनुरक्त हैं वही तपस्वी प्रशंसनीय है - सच्चा साधु है।

विषयाशा का अर्थ है - पंचेन्द्रियों के विषय भूत-वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द आदि में इष्टानिष्ट बुद्धि का प्रादुर्भाव।

इन्द्रियाँ ५ हैं - स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। और उनके विषय सामान्य से पाँच हैं किन्तु विशेषतया सत्ताईस हैं - ५ वर्ण, ५ रस, २ गंध, ८ स्पर्श, ७ स्वर और एक मन का विषय। इनमें से जिनको जीव इष्ट समझता है उनके सेवन की उसकी आकांक्षा होती है वही संसार है और वही दुःखों का मूल है, भव भ्रमण का कारण भी है जिन्होंने इस आशा को अपने अधीन बना लिया है वे ही मोक्षमार्गी सच्चे साधु होते हैं।

निरारम्भः - विषयों की आशा के वशीभूत प्राणी उन विषयों का संग्रह करने के लिए अनेक तरह के आरंभ में प्रवृत्त होता है। असि, मषि, कृषि आदि में प्रवृत्ति से द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा रूप सावद्य होता है ऐसे सावद्य रूप कार्य को आरम्भ कहते हैं।

मुनिराज उक्त प्रकार के आरम्भ के त्यागी होते हैं। किसी भी प्रकार से विषय भोगों की इच्छा नहीं रखते और उसके लिये व्यापार भी नहीं करते हैं।

अपरिग्रह - जिनको पञ्चेन्द्रिय विषय भोगों में मूर्च्छा भाव नहीं होता तथा धन-धान्य सोना, चांदी आदि उनके साधनों को भी जो अपने पास नहीं रखते हैं उन्हें परिग्रह त्यागी कहते हैं।

ज्ञानी ध्यानी - यहाँ पर ज्ञानी ध्यानी कहने का अभिप्राय निरन्तर श्रुत का अभ्यास करने से है। ज्ञान की स्थिर अवस्था का नाम ध्यान है। ज्ञान जब अन्तर्मुहूर्त तक अपने विषय पर स्थिर रहता है तो उसको ध्यान कहते हैं। कर्मों की निर्जरा के

लिये मन इन्द्रिय और शरीर के भले प्रकार निरोध करने को तप कहते हैं। कहा भी है - **"अनिगूहित वीर्यस्य कायक्लेशस्तपः"** जो ज्ञानी ध्यानी है वह तपस्वी भी होता है। उक्त गुणों से युक्त आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी की सेवा गृहस्थ श्रावकों को प्रतिदिन श्रद्धा पूर्वक करनी चाहिए॥ ४॥

• **स्वाध्याय –**

गृहस्थ को नित चाहिए, धर्मशास्त्र स्वाध्याय।
जिससे संचित अघ नशे, धर्मज्ञान बढ़ि जाय॥ ५॥

अर्थ - गृहस्थ को प्रतिदिन धर्मशास्त्र का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। स्वाध्याय से संचित पाप नष्ट होते हैं क्योंकि स्वाध्याय भी तप है। तत्त्वज्ञान, धर्मज्ञान की वृद्धि भी स्वाध्याय से होती है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में स्वाध्याय का स्वरूप बताते हुए आचार्य लिखते हैं -

"ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः" आलस्य का त्याग कर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय है। चारित्रसार ग्रन्थ के अनुसार- **"स्वस्मै हितोऽध्यायः"** अपनी आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय है।

व्यवहार नय से स्वाध्याय का स्वरूप इस प्रकार जिनागम में वर्णित है -

"बारह अंग, चौदह पूर्व जो जिनदेव ने कहा है उनको वाचना, उनको पूछना, चिन्तन मनन करना स्वाध्याय है।

स्वाध्याय से संवर और निर्जरा विशेष भी होती है। यह जन्म, जरा, मृत्यु, रूपी रोग से मुक्त करने को उत्तम औषधि के समान है।

---

४. गुरोरेवप्रसादेन लभ्यते ज्ञान लोचनं।
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषं॥

अर्थ – गुरुकृपा से उस सम्यक्ज्ञान रूपी नेत्र की प्राप्ति होती है जिससे सम्पूर्ण लोक को हाथ में रखे तुष (तिनके) के समान स्पष्ट देखा जा सकता है॥ ४॥

जैसा कि दर्शन पाहुड़ में बताया है -

"जिणवयणमोसहमिणं विसयसुह विरेयणं अमिदभूयं।

जरमरण वाहि हरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥"

यह जिन वचन रूप औषधि इन्द्रिय विषय सेवन से उत्पन्न सुख से जीव को विरक्त करता है और जन्म मरण रूपी रोग को दूर करने के लिये अमृत के समान है सर्व दुःखों का क्षय करने में कारण है।

इस प्रकार स्वाध्याय की महिमा को समझकर गृहस्थ को दान पूजा की तरह स्वाध्याय भी प्रतिदिन करना चाहिए॥ ५ ॥

---

५. हिंसादिवादकत्वेन न वेदो धर्म कांक्षिभिः।
वृकोपदेशवन्नूनं न प्रमाणी क्रियते बुधैः ॥

अर्थ *- हिंसा का पोषक वेद, धर्मकांक्षी विद्वानों द्वारा उसी प्रकार प्रामाणिक मान्य नहीं है जैसे प्रतिदिन झूठ बोलने वाला गड़रिये का वचन।*

'भालू आया मुझे बचाओ-२' ऐसा मजाक में प्रतिदिन चिल्लाने वाले गड़रिये के वचन को प्रमाणीभूत नहीं माना गया। और एक दिन सचमुच भालू आया वह चिल्लाता रहा पर उसे झूठा समझकर कोई भी उसे बचाने नहीं आया।

स्वाध्यायात् ज्ञानवृद्धिः स्यात् तस्यां वैराग्यमुल्वणं।
तस्मात् संगपरित्यागस्ततश्चित्त निरोधनम् ॥

अर्थ *- स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है। ज्ञान वर्धन होने पर वैराग्य सुदृढ़ होता है। वैराग्य से परिग्रह त्याग और परिग्रह त्याग से चित्त का निरोध होता है।*

और भी - तस्मिन् ध्यानं प्रजायेत ततश्चात्मप्रकाशनं।
तत्र कर्म क्षयावश्यं स एव परमं पदं ॥

अर्थ *- जिसने चित्त का निरोध किया है उसमें ध्यान की सिद्धि होती है और ध्यान से निज आत्मा की अनुभूति होती है। स्वानुभव से अनिवार्य कर्म का क्षय होता है कर्म क्षय से परम पद-सिद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है॥ ५ ॥*

◆ संयमाचरण से लाभ–

दया पाल षट्काय नित, वश करि इन्द्रिय थोक।
इस विधि संयम से करें, पापास्रव की रोक ॥ ६ ॥

अर्थ – षट्काय जीवों की रक्षा स्वरूप दयाभाव का प्रगट होना तथा पाँचों इन्द्रिय और मन को अशुभ प्रवृत्ति से रोकना संयम है इनसे पापास्रव रूकता है।

अतः संयमाचरण भी आत्मा प्रभावना हेतु अनिवार्य है। गृहस्थ एक देश संयम धारण कर सकल संयम की भावना रखता हुआ कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा कर सकता है।

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक इन पाँच स्थावर जीवों की रक्षा और भेद-प्रभेद सहित त्रस जीवों की रक्षा के प्रयास को षट्काय जीवों की रक्षा कहते हैं। जीवदया की भावना होने पर ही षट्काय जीवों की रक्षा के प्रति प्रवृत्ति होती है। इसी तरह आत्महित की भावना जब बलवती होती है तब पाँचों इन्द्रियों के विषय भी उसे रूचिकर नहीं लगते हैं। विषयों भोगों से इन्द्रियों को हटाकर धर्मध्यान में लगाना इन्द्रिय संयम है।

गृहस्थ जीवन में एक देश संयम धारण कर वह प्राणि संयम और इन्द्रिय संयम का पालन करता है। इन्द्रिय संयम का अर्थ है - इष्टानिष्ट विषयों में रागद्वेष का त्याग। अमनोज्ञ पदार्थों में द्वेष नहीं होना तथा स्त्री, पुत्र, धन आदि मनोज्ञ पदार्थों में राग भी नहीं होना इन्द्रिय संयम है। इनकी सिद्धि के लिये स्वाध्याय एवं तत्त्व चिन्तन का निरन्तर अभ्यास रखना होगा। उन्मार्ग गामी दुष्ट घोड़े को जैसे लगाम के द्वारा वश में कर लेते हैं उसी प्रकार इन्द्रिय रूपी दुष्ट घोड़ों का निग्रह, तत्त्वज्ञान से होता है।

कुरल काव्य मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने संयम की महिमा दर्शाते हुए कहा है -

"संयम के माहात्म्य से मिलता है सुरलोक।
और असंयम राजपथ, रौरव को बेरोक॥

यहाँ रौरव का अर्थ नरक है।

असंयम से नरक और संयम से स्वर्ग तथा क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

और भी - "समझ बूझ कर जो करे इच्छाओं का रोध।
मेधादिक कल्याण वह, पाता बिना विरोध॥"

इत्यादि प्रकार से संयम के महत्व और स्वरूप को जानकर हमें आत्म कल्याण के लिये संयम अवश्य धारण करना चाहिए। संयम के बिना ज्ञान फलीभूत नहीं होता है, मोक्ष का कारण नहीं बनता है॥ ६॥

◆ तपाचरण से लाभ –

अनशनादि षट् बाह्य तप, प्रायश्चित्त युत धार।
जिससे होवे कर्मक्षय, आतमशुद्धि अपार॥ ७॥

---

६. मनःकरण संरोधस्त्रस स्थावर पालनं।
संयमः सद्ग्रहीतं च स्वयोग्यं पालयेत्सदा॥

अर्थ - मन और इन्द्रियों का निरोध करना, त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा करना संयम है। पदानुसार - गुणस्थानानुसार गृहीत संयम को सदा ही यथायोग्य पालना चाहिये। और भी - जानने योग्य-

संयम की दुर्लभता और अनिवार्यता-

संसृते नृत्वेन कुत्रापि संयोदेहिनां भवेत्।
मत्वेत्येकापिकालस्य कला नेया न तं बिना॥

अर्थ - चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करने वाला जीव क्वचित् पुण्ययोग से मनुष्य भव पाकर संयमी होता है। संयम की अति दुर्लभता इस प्रकार जानकर काल का एक क्षण भी संयम के बिना व्यतीत न करें।

अर्थ – अनशनादि ६ बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त आदि ६ अन्तरङ्ग तप को भी यथाशक्ति करने से कर्मों का क्षय होता है और आत्म शुद्धि की अतुल वृद्धि होती है।

६ बाह्य तप निम्नलिखित हैं – १.अनशन, २. ऊनोदर, ३. वृत्तिपरिसंख्यान, ४. रस परित्याग, ५. विविक्त शय्यासन, ६. कायक्लेश।

१. अनशन – संयम की वृद्धि के लिये, शरीर संबंधी अनुराग को हटाने के लिये, कर्मनाश के लिये तथा ध्यानादि की सिद्धि के लिये चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है।

२. ऊनोदर – ऊन का अर्थ है कम, जितनी आवश्यकता है उसमें भी कुछ कम प्रमाण आहार ग्रहण करना ऊनोदर है। ऊनोदर भी तप है। क्योंकि बिना प्रमाद के संयम का पालन हो, निद्रा अधिक न आवे, भोगों में लालसा न रहे, संतोष बना रहे स्वाध्याय काल में प्रमाद न सतावे – इत्यादि में ऊनोदर कारण बनता है।

३. वृत्ति परिसंख्यान – वृत्ति नाम भोजन संबंधी क्रिया का है। उसकी संख्या की नियति कर लेना अर्थात् विविध प्रकार का अवग्रह (नियम) लेकर चर्या को जानना वृत्ति परिसंख्यान तप कहलाता है। इससे आहार संज्ञा पर नियंत्रण होता है। इच्छा का निरोध होता है। अनुकूल प्रतिकूल आहार के प्रति राग-द्वेष का अभाव हो जाता है, सरस विरस आहार के प्रति आकर्षण विकर्षण नहीं रहता है। अमीर गरीब का भेदभाव नहीं रहता है।

४. रस परित्याग – घी, दूध, दही, नमक, तेल और शक्कर ये ६ रस हैं। यथाशक्ति एक दो या षट् रस का त्याग कर प्रासुक आहार विधिवत् ग्रहणकर रस परित्याग तप कहलाता है। रस परित्याग में समस्त आहार का त्याग नहीं होता किन्तु एक देश का त्याग होने से अवमौदर्य की भाँति यह भी तप है।

५. विविक्त शय्यासन – निर्जन, जन्तुओं की पीड़ा से रहित स्थान पर

संयमी पुरूषों का शयन आसन होना विविक्त शय्यासन तप है। इससे अनेक लाभ हैं। ब्रह्मचर्य निर्बाध पलता है, स्वाध्याय, ध्यानादि में भी बाधा नहीं आती है।

६. **कायक्लेश** – बिना प्रमाद के वीतराग भाव से शारीरिक कष्ट सहन करना घोर तपश्चरण द्वारा शरीर को खेदमय करना कायक्लेश तप है।

गृहस्थ भी यथाशक्ति उक्त प्रकार के तप का एक देश अभ्यास करते हैं प्रथमानुयोग में - सुदर्शन सेठ एवं राजकुमार वारिषेण की कथा इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

अन्तरङ्ग तप– जो तप बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता तथा इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखता नहीं ऐसे प्रायश्चित्त आदि परिणाम विशेष को अन्तरङ्ग तप कहते हैं।

१. **प्रायश्चित्त** – प्रायश्चित्त में दो शब्दों का योग है प्रायः + चित्त। प्रायः = प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम्'' प्रमाद वश व्रत में लगे हुए दोषों को हटाना प्रायश्चित्त है। और भी - व्रत, संयम, समिति शील रूप परिणाम तथा इन्द्रियों के निग्रह रूप भाव को भी जिनागम में प्रायश्चित्त बताया है।

२. **विनय** – जो रत्नत्रय की प्राप्ति कराने वाले पूज्य साधन हैं, रत्नत्रय धारी पूज्य पुरुष हैं उन सबमें आदर बुद्धि रखना उनकी भक्ति करना विनय है। ''कषायेन्द्रिय विनयनं विनयः'' कषाय और इन्द्रियों का दमन करना भी विनय है।

भगवती आराधना ग्रन्थ के अनुसार - ''विलयं नयति कर्म मलं इति विनयः।'' जिन भावों से एवं क्रियाओं से कर्ममल का नाश हो उसे विनय कहते हैं।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थानुसार **''पूज्येषु आदरः विनयः''** पूज्य पुरूषों में आदर भाव का होना विनय है। विनय के स्वरूप को समझकर उसे धारण करना परम कर्त्तव्य है।

३. **वैयावृत्ति** - शरीर की क्रियाओं से तथा अन्य योग्य उपकरणों से पूज्य पुरूषों की उपासना करना, परिचर्या-सेवा करना वैयावृत्ति है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक ग्रन्थ के अनुसार - "गुणवत् दुखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैय्यावृत्यम्" रत्नत्रय गुणधारी पर कोई भी दुःख आने पर व्याधि रोगादि होने पर, परीषह आ जाने पर बिना किसी प्रत्युपकार की भावना से योग्य प्रकार उपद्रव को दूर करना वैय्यावृत्ति है।

यदि किसी के पास बाह्य द्रव्य औषध भोजनादि न हो तो वह केवल अपने शरीर से भी वैयावृत्ति कर सकता है। जैसे - अपने हाथों से उनका कफ, नाक का मल-मूत्रादि को दूर कर उनके अनुकूल उनकी सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्ति है। जिससे तीर्थंकर जैसी पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है।

४. **स्वाध्याय** - सदा ज्ञानाराधना में तत्पर रहना स्वाध्याय है पहले उसका वर्णन किया है।

५. **व्युत्सर्ग** - परिमित काल के लिये शरीर से ममत्व छोड़कर आत्म स्वरूप में स्थिर होना कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग तप है।

६. **ध्यान** - मन में विकल्पों का प्रगट न होना, एकाग्रचित्त होना ध्यान है। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ के अनुसार चित्त विक्षेप त्यागो ध्यानं।

मन का नियमन करने वाला होने से प्रायश्चित्त आदि को अभ्यन्तर तप जानना चाहिए। अन्य दर्शनों में कहीं भी आभ्यन्तर तप का व्याख्यान नहीं है इसलिये अन्य मतों से अप्राप्त होने के कारण भी प्रायश्चित्त आदि को अभ्यन्तर तप कहते हैं।

बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही तप उपादेय हैं - महिलाएँ तवे पर रोटी सेकती हैं, यदि वे एक तरफ से सेक दें, दूसरी तरफ से नहीं सेकें तो हम कहेंगे कि कच्ची रह गई। इसी प्रकार यदि केवल अन्तरङ्ग तप को महत्त्व दें, बाह्य को

नहीं तो वह परिपक्व तप नहीं है। इत्यादि प्रकार तप की अनिवार्यता जानकर गृहस्थ को भी यथाशक्ति यथावसर योग्य तप करना चाहिए॥ ७॥

◆ दान से लाभ –

आहारौषध अभययुत शास्त्र दान नित देय।
जिससे सफल स्वजन्म हो, जग कीरति प्रकटेय॥ ८॥

अर्थ – आहारदान, औषधदान, अभयदान और ज्ञानदान के भेद से दान के चार भेद हैं। दान से जग में भी भारी कीर्ति होती है तथा परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति भी अतः विधिवत् दानकर अपने जन्म को सफल करना योग्य है।

भावार्थ – दान श्रावक का मुख्य कर्त्तव्य और धर्म है ऐसा सभी ग्रन्थों में उल्लेख है। पर दान किसे कहते हैं उसका स्वरूप भी सर्वप्रथम (संदर्भवश) जानना चाहिए।

तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ में दान की परिभाषा इस प्रकार मिलती है –

"अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्" अनुग्रह की भावना से धनादि

---

७. **"इच्छा निरोधस्तपः" इति तपसो सामान्य लक्षणं।**

विषयाकाङ्क्षा का निरोध *– इच्छाओं को रोकना तप है। यह तप का सामान्य लक्षण तत्त्वार्थ सूत्र में मिलता है। तप के भेदों का कथन –*

बाह्य तप – *"अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त शय्यासन काय क्लेशाः बाह्यं तपः॥" तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय-९, सू. १९*

अर्थ *– बाह्य तप ६ प्रकार का है – १. अनशन, २. अवमौदर्य, ३. वृत्ति परिसंख्यान, ४. रस परित्याग, ५. विविक्त शय्यासन, ६. कायक्लेश।*

अन्तरङ्ग तप *– प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्। त. अ. ९, सू. २०।*

अर्थ *– अन्तरङ्ग तप के ६ भेद हैं-*

१. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैय्यावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग, ६. ध्यान।

द्रव्यों का त्याग करना दान है। "स्वपरोपकारः अनुग्रहः" अनुग्रह का अर्थ है - स्व और पर दोनों का हित होना। "स्वोपकारः पुण्य संचयः" दान से दाता को सातिशय पुण्यार्जन होता है यह स्वोपकार है।

"परोपकारः संयतस्य सम्यग्ज्ञानादि वृद्धिः" संयत के सम्यग्ज्ञानादि की वृद्धि होना परोपकार है। सूत्र में प्रयुक्त 'स्व' शब्द धनपर्याय का वाचक है अर्थात् पात्र के अनुसार योग्य द्रव्य को ही देना दान है। दाता, पात्र, देय वस्तु आदि का भी आगम से विचार कर दान करना ही परम विवेक है।

दान उत्तम क्वालिटी का साबुन है। जैसे साबुन लाकर कपड़ा धोने से पूरा मैल निकल जाता है उसी प्रकार सत्पात्र को दान देने से आरम्भादि पञ्चसूना से उपार्जित पाप भी धुल जाता है।

श्रेयांस राजा ने उत्तम पात्र को आहार दान दिया था जिस पुण्य के फलस्वरूप उसी भव से मुक्ति को प्राप्त हुए।

एक ग्वाले ने मुनिराज को शास्त्र दान किया जिससे दूसरे भव में विशिष्ट क्षयोपशम का धारी वह कुन्दकुन्द आचार्य बना। इत्यादि अनेक उदाहरण शास्त्र में उपलब्ध होते हैं। उन्हें जानकर निरन्तर आत्म हित में लगना चाहिए॥ ८॥

---

८. अभयाहार भैषज्यशास्त्र दाने हि यत्कृते।
ऋषीणां जायते सौख्य गृही श्लाघ्यः कथं न सः॥

अर्थ *- ऋषि गणों के लिये दुःखापहारक सौख्यकारी अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान करने वाला गृहस्थ प्रशंसनीय क्यों न होगा? अवश्य होगा।*

यहाँ गृहस्थ जीवन में दान की महिमा बताई गई है। और भी-

दान बिना गृहस्थ जीवन निष्फल है - **सत्पात्रेषु यथाशक्तिः दानं देयं गृहस्थितैः। दानहीना भवेत् तेषां निष्फलैषा गृहस्थितिः॥**

अर्थ *- गृहस्थों को सत्पात्रों के लिये यथाशक्ति यथा विधि दान देना चाहिए। दान हीन व्यक्ति का गृहस्थ कहलाना ही निष्फल है अर्थात् आगम में उसकी गृहस्थ संज्ञा ही नहीं है॥ ८॥*

* **मूलगुण–**

मद्यमांस मधुनिशि अशन, उदम्बर फल त्याग।
जीव दया जल छान पी, देव यजन अनुराग ॥ ९ ॥

अर्थ - मद्य का त्याग, मांस का त्याग, मधु का त्याग, रात्रि भोजन त्याग, उदम्बर फलों का त्याग, जीव दया करना, पानी छानकर पीना और देव पूजा, देव वन्दन ये आठ श्रावकों के मूलगुण हैं।

मूल का अर्थ है मौलिक या मुख्य। जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष का अस्तित्व नहीं उसी प्रकार मूलगुणों का पालन किये बिना श्रावक धर्म भी नहीं टिकता। ऊपर जिन आठ गुणों को मूलगुण कहा है वह विवरण सागार धर्मामृत ग्रन्थ के अनुसार हैं-

रत्नकरण्ड श्रावकाचार एवं पुरूषार्थसिद्धिउपाय ग्रन्थ में - आठ मूलगुणों का नामोल्लेख इस प्रकार मिलता है - १. मद्य त्याग, २. माँस त्याग, ३. मधु त्याग, बड़, पीपल, पाकर, ऊमर, कठूमर - इन पाँच उदम्बर फलों का त्याग ये ८ मूलगुण श्रावकों के हैं। दोनों ही कथन मान्य हैं ॥ ९ ॥

---

९. १. (क) मद्यपलमधुनिशाशन पञ्चफलीविरति पञ्चकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्ट मूलगुणाः ॥ १८ ॥ आ. ध., अ. २

अर्थ - किसी आचार्य के मत में, मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन त्याग, पंच उदम्बर फल त्याग, जीव दया, जल गालन - ये आठ श्रावक के मूलगुण कहे गये हैं।

और भी - जगह इसी कथन की पुष्टि है -

(ख) मद्योदुम्बर पंचकामिसमधुत्यागाः। कृपा प्राणिनां नक्तं विभुक्तिराप्तविनुतिः। तोयं सुवस्त्रास्नुतं एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा, गणधरैरागारिणंकीर्तिता ॥

अर्थ पूर्वोक्त प्रकार ही है।-(ग) एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद् भूतो न गेहाश्रमी।

अर्थ - षट् कर्मों में एक भी यदि गृहस्थ नहीं करता है तो वह गेहाश्रमी उत्तम गृहस्थ नहीं।...

...(घ) आप्तपंचनुतिर्जीवदया सलिलगालनं ।

त्रिमद्यादिनिशाहारोदुम्बराणां च वर्जनं ॥

अर्थ – पंच परमेष्ठी को नमस्कार करना, जीव दया पालन करना, पानी छानकर पीना, मद्य का त्याग, मांस का त्याग, मधु का त्याग, रात्रि भोजन त्याग, उदम्बर फल का त्याग। इस प्रकार ये आठ मूलगुण भी किन्हीं आचार्यों ने बताये हैं जो आर्षप्रणीत आगम के अनुकूल है।

२. यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः ।

जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः ॥

अर्थ – जो निर्मल बुद्धि वाला जीवन पर्यन्त महापाप-त्रसादि जीवों के घात का त्याग कर चुका है जिनागम के अनुकूल चर्या वाला उपनयन संस्कार से युक्त व्यक्ति द्विज – धार्मिक संस्कारों से युक्त व्रती श्रावक कहलाता है। उनके योग्य कुल का कथन-

ब्राह्मणाः क्षत्रियावैश्यास्त्रयोवर्णा द्विजादयः । द्वाभ्यां जन्म संस्काराभ्यां जायते उत्पद्यते इति द्विजस्य व्युत्पत्तिः ।

अर्थ – ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण शुद्ध कुल जाति वाले होने से द्विज संज्ञा भी इन्हें प्राप्त है। विशेष - उत्तम वंश में जन्म होना – यह एक सज्जाति हुई पुनः व्रतों के संस्कार से संस्कारित होना – यह द्वितीय जन्म माना जाने से उस भव्य की द्विज यह संज्ञा अन्वर्थ हो जाती है। जिस प्रकार उत्तम खान में उत्पन्न हुआ रत्न संस्कार के योग से उत्कर्ष को प्राप्त होता है। उसी प्रकार क्रियाओं और मन्त्रों से सुसंस्कार को प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है।

जिनमें शुक्ल ध्यान के लिये कारणभूत-ऐसे जाति गोत्र आदि कर्म पाये जाते है वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ऐसे तीन वर्ण हैं। उनसे अतिरिक्त शेष शूद्र कहे जाते हैं। विदेह क्षेत्र में मोक्ष जाने योग्य जाति का कभी विच्छेद नहीं होता क्योंकि वहाँ उस जाति में कारणभूत नामकर्म और गोत्रकर्म सहित जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है। परन्तु भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थ काल में ही जाति की परम्परा चलती है, अन्य काल में नहीं।

प्रकरणगत नोट – पिता के वंश की जो शुद्धि वह कुल है। माता के वंश की जो शुद्धि वह जाति है। माता-पिता दोनों के कुल की शुद्धि-वह सज्जाति है। दिगम्बरी दीक्षा तो सज्जाति के बिना संभवति ही नहीं॥ ९ ॥

◆ **मद्यपान से हानि –**

मद्यपान मन मुग्ध हो, मोहित भूले धर्म।
धर्म भूलि मद्यप करें, निधड़क हिंसा कर्म॥ १० ॥

अर्थ – मद्य (शराब) सेवन करने वाले को अहिंसाणुव्रत नहीं पलता है, मद्य सेवन से बेधड़क हिंसा होती है, मदिर मन को मोहित करता है। मोहित चित्त व्यक्ति को भूल जाता है अतः जिनधर्म पालन के लिये सर्वप्रथम मद्य का त्याग करना ही चाहिए॥ १० ॥

◆ **मद्यपान में दोष –**

सड़कर बहुत शराब में, उपजत विनशत जीव।
पीवत हिंसा लगत्ति ध्रुव, अधरमि बनत सदीव॥ ११ ॥

अर्थ – मदिरा, रसों को सड़ाकर उनसे तैयार की जाती है अतः उसमें बहुत जीव राशि की हिंसा है, निरन्तर जीव उत्पन्न होते रहते हैं और मरते भी हैं। मदिरा का सेवन करने वाले को उन असंख्य जीवों की हिंसा का पाप होता ही है अतः अहिंसामय जिनधर्म की प्राप्ति के लिये मदिरा का त्याग करना चाहिए। अहंकार, क्रोध, काम विकार आदि सभी दोषों को उत्पन्न करने वाली मदिरा हर प्रकार से त्यागने योग्य है॥ ११ ॥

---

११. (क) मद्यं मोहयति मनो मोहित चित्तस्तु विस्मरति धर्मं।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति॥ पुरूषार्थ. ६२ ॥

अर्थ – शराब पीने से मन – विवेक शक्ति नष्ट होती है। अज्ञान का प्रगाढ़ अन्धकार होने से वह व्यक्ति धर्म को भूल जाता है। धर्म की विस्मृति से निडर होकर हिंसा आदि दुष्कर्मों को करता है। शराबी की प्रवृत्ति विशेष पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं –

(ख) ''गायति भ्रमति वक्ति गदगदं रौति धावति विगाहते दोषे। हंति...

◆ **मांस भक्षण में पाप–**

जीव घात बिन मांस की, उत्पत्ति कबहु न होय।
माँसाहार से जीव वह, हिंसा दोषी होय॥ १२॥

अर्थ – जीव घात के बिना माँस की उत्पत्ति होती नहीं अतः मांसाहारी नियम से हिंसक होता है, हिंसा से पाप बन्ध होता है और दुर्गति की प्राप्ति होती है।

भावार्थ – माँस स्वभाव से ही अपवित्र है, दुर्गन्ध से भरा है। दूसरों के प्राणघात से तैयार होता है, विपाक काल में दुर्गति को देता है। इस संदर्भ में-

विशेष कथन – बहुत से बौद्धादि मत वालों का कहना है कि जीव को

...हृष्यति न बुध्यते हितमघमोहितमतिर्विषीदति।"

अर्थ– शराब के नशे में चूर व्यक्ति कभी गाता है कभी चलता है कभी बोलता है कभी फूट-फूटकर जोर से रोता है कभी दौड़ता है, दोषों में स्वभावतः अवगाहन करता है, कभी मारता है कभी प्रसन्न दिखता है – मेरा हित किसमें है यह नहीं समझता – पाप में मोहित बुद्धिवाला वह बहुत दुःखी रहता है।

(क) रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यं।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यं॥ पुरुषार्थ. ६३॥

अर्थ – मदिरा बहुत से रस से उत्पन्न हुए जीवों की योनि (उत्पत्तिस्थान) है अतः मदिरा पान करने वालों के द्वारा उन जीवों की हिंसा अवश्य ही होती है।

(ख) विविधाः शरीरिणस्तत्र सूक्ष्म वपुषोरसांगिकाः।
तेऽखिला झटितियांति पचतां, निंदितस्य सरकपानतः॥

अर्थ – संसारी जीवों में सूक्ष्म बादरादि अनेक भेद हैं। रस से उत्पन्न रसांगिक – जो सूक्ष्म जीव हैं वे सब शराब पीने से मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं इसलिए शराब पीना अति निंदित है। निंदित शराब के सेवन से अनन्त सूक्ष्म जीवों का विघात होता है ऐसा मूल श्लोक का अभिप्राय है॥ ११॥

मारकर माँस खाना पाप है पर स्वयं मरे हुये के मांस खाने में कोई पाप नहीं है। उसका खण्डन करते हुए आचार्य ने मूल पद्य में कहा है कि जीव घात के बिना मांस पर्याय होती नहीं। स्वयं मरे हुए पशु आदि के माँस में भी निरन्तर उत्पन्न हुए निगोदिया जीवों की हिंसा होती ही है। लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय जीव भी उस मांस पिंड में रहते हैं। कच्ची, पकी हुई तथा पकती हुई भी माँस की डलियों में उसी जाति के निगोदिया जीवों का निरन्तर ही उत्पाद होता रहता है। अतः हर प्रकार से माँस का आहार दोष युक्त है ॥ १२ ॥

---

१२. (क) न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मॉंसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा। पुरूषार्थ. ६५ ॥

अर्थ – क्योंकि प्राणी घात के बिना मांस की उत्पत्ति नहीं होती इसलिये मांस को खाने वाले के हिंसा भी अनिवार्य रूप से होती है।

(ख) नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्य तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥

अर्थ – कभी भी प्राणिघात के बिना मांसोत्पत्ति न होने से तथा प्राणिवध स्वर्ग का कारण न होने से मांस सेवन का अवश्य त्याग करना चाहिए।

(ग) न मांस भक्षणे दोषो न मद्येन न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषाभूतानां, निवृत्तिस्तुमहाफला ॥

अर्थ – न मांस भक्षण में दोष है, न मद्य सेवन में, न मैथुन सेवन में इस प्रकार की प्रवृत्ति अज्ञानी मूढ़ पापी जनों की होती है। उनसे छूटना अर्थात् उनका त्याग करना महाफला – महान् स्वर्ग मोक्षादि फल को देने वाला बनता है ऐसा जानना चाहिए।

(अ) यदपि किलभवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥ ६६ ॥ पुरूषार्थ.।

अर्थ – स्वयमेव मरे हुए भैंस वृषभ आदि से उत्पन्न हुआ जो मांस है उसके भक्षण में भी हिंसा है क्योंकि उनके आश्रय से रहने वाले असंख्य निगोदिया जीवों के मारने का पाप तो निवरित नहीं हुआ।...

• मधु में हिंसा –

मधुमक्खी की लार से, शहद की उपज विख्यात।
अण्डे बच्चे घात कर, बेचत निर्दई जात॥ १३॥

अर्थ – मधुमक्खियों की लार का संचय होकर शहद तैयार होती है उसमें अण्डे बच्चे आदि का बहुमात्रा में घात होता है जो निर्दयी है वह व्यक्ति ही मधु का व्यापार करता है। जीवदया का पालन करने वाले को शहद मधु भी नहीं खाना चाहिए। किसी भी रूप में उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

मधु के एक कण में भी असंख्य जीवों की हिंसा है इसलिए जो मूर्ख बुद्धि शहद को खाता है वह अत्यन्त हिंसक है॥ १३॥

...(ब) पृथिव्यपतेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।

स्थावर जीवों के ५ भेद हैं – १. पृथिवीकायिक, २. जलकायिक, ३. तेजकायिक ४. वायुकायिक, ५. वनस्पतिकायिक।

त्रस जीव द्वीन्द्रिय आदि के भेद से ५ प्रकार के हैं –

यथा – द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-असंज्ञी एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय आदि।

(स) अनुमंताविशासितानिहन्ता क्रय विक्रयी। संस्कर्ता चोपहर्ता चखादकश्चेति घातकाः॥

अर्थ *– जिनमें हिंसा संभवित है उन कार्यों की अनुमोदना करना, प्रेरणा देना, स्वयं घात करना, जीवों के घात के लिए क्रय-विक्रय करना, मांस की लोलुपता वश जीवों का पालन-पोषण करना, अपहरण करना, मांस खाना आदि सभी कार्यों से वह घातक ही होता है॥ १२॥*

१३. स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद् वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रय प्राणिनां घातात्॥

अर्थ *– मधु के छत्ते से, कपट से अथवा मक्खियों द्वारा स्वयमेव उगली हुई शहद ग्रहण की जाती है वहाँ भी उसके आश्रयभूत प्राणियों के घात से हिंसा होती है। और भी –*

◆ निशि भोजन में हिंसा –

निशि को छोटे जीव बहु, उड़त अंधेरी पाय।
मिलकर भोजन संग में, रोग करत दुःखदाय ॥ १४ ॥

अर्थ - रात्रि में सूक्ष्म जीवों से विशेषकर पूरा वायुमण्डल व्याप्त हो जाता है। रात्रि में जो भोजन करते हैं उनकी भोज्य सामग्री में गिरकर वे मरते रहते हैं, इन्द्रिय गोचर नहीं होने से उनका उपहार भी नहीं होता और दूषित भोजन मृत जीवों से मिश्रित भोजन ही उनके पेट में पहुँच जाता है। रोगादि की वृद्धिकर वह घोर कष्ट पहुँचाता है। अतः रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए।

कोई कहे कि अन्धेरे में भोजन बनाने से तो बड़े-बड़े जीवों का भी घात हो सकता है पर दीपकादि के प्रकाश में देखभालकर खाने में हिंसा नहीं होनी चाहिए। इसके समाधान में आचार्य लिखते हैं कि सूर्य के प्रकाश और दीपकादि के प्रकाश में भारी अन्तर है। दीपकादि की रोशनी से तो जीव जन्तु आकर्षित होकर सर्वत्र फैल जाते हैं, वायुमण्डल जीव जन्तुओं से व्याप्त हो जाता है पर सूर्योदय होने पर मच्छरादि कीटाणु छिप जाते हैं और वायुमण्डल प्रासुक हो जाता है। रात्रिभोजन का त्यागी ही अहिंसक हो सकता है। रात्रि भोजी कभी अहिंसक नहीं बन सकता है ॥ १४ ॥

◆ निशि भोजन त्याग का फल–

निशि को जो इक साल तक, यदि दे भोजन त्याग।

... मक्षिकागर्भसंभूत बालांडकनिपीडनात्।
जातं मधुकथं संतः सेवन्ते कललाकृतिः ॥

अर्थ – मधुमक्खी के गर्भ से उत्पन्न छोटे-छोटे अंडे जिस शहद में मौजूद हैं, उनका सेवन करने से उन सूक्ष्म जीवों का विघात होता ही है फिर भला मधु सेवन करने वाला हिंसा रहित कैसे हो सकता है अर्थात् मधु सेवन से हिंसा अवश्य होती है ॥ १३ ॥

छह महीने उपवास फल, पावत वह बड़ भाग ॥ १५ ॥

अर्थ – जो रात्रि में चारों प्रकार के आहार जल ग्रहण का त्यागी है उसको एक वर्ष में ६ महीने उपवास का फल प्राप्त होता है। सरलता पूर्वक उपवास के फल की प्राप्ति का जैसा सहज उपाय जैन सिद्धान्त में है वैसा अन्यत्र नहीं ॥ १५ ॥

---

१५. (क) रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।

हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥ १२९ ॥ पु. ॥

अर्थ – क्योंकि रात्रि में भोजन करने वालों के हिंसा अनिवारित होती है इसलिए हिंसा के त्यागियों के द्वारा रात्रि में भोजन करना भी छोड़ना चाहिए। और भी-

मक्षिका वमनाय स्यात्स्वरभंगाय मूर्द्धजः।

यूका जलोदरेविष्टिः कुष्टाय गृहगोधिका ॥

अर्थ – रात्रि भोजन से हानि – यदि भोजन के साथ मक्खी पेट में चली गई तो वमन होने लगता है। मूर्धा आदि से उत्पन्न स्वर – आवाज विकृत हो जाती है, स्वर टूटता है। जुआँ यदि भोजन के साथ खाने में आ गया तो जलोदरादि रोगों से वह ग्रस्त हो जाता है। छिपकली गिर गई और भोजन पेट में पहुँच गया तो कुष्ट रोग हो जाता है। और भी –

न श्राद्धं दैवतं कर्मस्नानं दानं न चाहुतिः।

जायते यत्र किं तत्र नराणां भोक्तुमर्हति ॥

अर्थ – हिन्दू धर्म में भी देवता को श्राद्ध देना, विशेष शुद्धि हेतु स्नान क्रिया, धर्म हेतु दान वा होम आदि कार्यों का भी जब रात्रि में निषेध है फिर भोजन करना योग्य है क्या ? अर्थात् नहीं। रात्रि में भोजन किसी भी अपेक्षा उचित नहीं है।

(ख) मद्य मांसाशनं रात्रौ भोजनं कंदभक्षणम्।

ये कुर्वन्ति वृथास्तेषां तीर्थयात्राजपस्तपः ॥

अर्थ – मद्य मांस का सेवन, रात्रि भोजन, कंदभक्षणादि जो करते हैं उनकी तीर्थयात्रा एवं जप तप सभी विफल होते हैं।

और भी – अस्तंगते दिवानाथे आपोरूधिरमुच्यते।

अन्नं मासं समं प्रोक्तं मार्कण्डेय महर्षिणा ॥...

◆ **उदम्बर फल में हिंसा –**

उदुम्बर फल को तोड़के, सूक्ष्म दृष्टि से देख।
उसमें उड़ते त्रस दिखे, भक्षण योग्य न गेय ॥ १६ ॥

अर्थ – उदम्बर फलों में त्रस जीव रहते हैं, ध्यान से देखने पर उड़ते हुए नजर आते हैं अतः पाँच उदम्बर फल श्रावक के लिये कदापि सेवनीय नहीं है।

कोई कहे कि सूख जाने पर तो उनमें जीवराशि नहीं रहती है उसे तो खा सकते हैं ? तो इसके समाधान में पुरूषार्थ सिद्धि उपाय ग्रन्थ में आचार्य लिखते हैं कि उदम्बर फल त्रस जीवों से रहित हो जावे तो भी उनके भक्षण करने वाले के विशेष रागादि रूप हिंसा होती है। वसुनन्दी श्रावकाचार के अनुसार – ''णिच्चं तस संसिद्धाइं ताइं परिवज्जियव्वाई'' नित्य त्रस जीवों से संसक्त होने से सदा त्यागने योग्य हैं।

उदम्बर फल के त्याग होने पर उनके अतिचारों का भी प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिए। सागार धर्मामृत ग्रन्थ में ऐसा कहा है – उदम्बर त्याग व्रत को पालने वाला श्रावक सम्पूर्ण अज्ञात फलों को तथा बिना चीरे हुए भटा वगैरह को और उसी तरह बिना चीरी सेम की फली न खावें।

अभिप्राय – लाठी संहिता ग्रन्थ के अनुसार – यहाँ पर ऊदम्बर शब्द का

---

*..**अर्थ** – सूर्यास्त होने के बाद जल पीना – रक्त पीने के समान दोष युक्त है। अन्न खाना मांस सेवन के समान है ऐसा मार्कण्डेय महर्षि ने अपने पुराण में बताया है।*

और भी – जो णिसि भुत्ति वज्जदि सो उपवासं करेदि।
छम्मासं संवच्छरस्स मज्झे आरंभभु यदि ॥

***अर्थ** – जो रात्रि में चारों प्रकार के आहार जल का त्याग करता है उसे तत्काल सम्बन्धी उपवास होता है अर्थात् एक वर्ष में ६ महीने के उपवास रूप पुरूषार्थ (तप) उसके होता है ॥ १५ ॥*

ग्रहण उपलक्षण रूप है अतः सर्व ही साधारण वनस्पति कायिक त्याज्य हैं। मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीज और किसी प्रकार के भी अनन्तकायिक फल जैसे - अदरक आदि उन्हें नहीं खाना चाहिए। न दैवयोग से खाना चाहिए और न रोग में औषधि के रूप में खाना चाहिए॥ १६॥

◆ उदम्बर फलों के नाम–

बड़ पीपल अंजीर फल, पाकर फल अधखान।

गूलर फल इन पांच की उदम्बर संज्ञा जान॥ १७॥

उदम्बर फल ५ हैं उनका नाम है - बड़, पीपल, अंजीर (ऊमर), पाकर और गूलर (कठूमर) इनमें त्रस जीवों की बहुलता होती है अतः सबको ही उदम्बर फल जानना चाहिए॥ १७॥

---

१६. (अ) पिप्पलोदुम्बरप्लक्ष वट फलगु फलान्यदन्।
हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगात्॥

अर्थ - *पीपल, वट, पाकर आदि उदम्बर फलों को यदि कोई सुखाकर खाता है तो उसे भी तीव्रराग का सद्भाव होने से हिंसा का पाप लगता ही है। और भी*

श्लोक - ये खादन्ति प्राणि वर्गं विचित्रं दृष्ट्वा पंचोदुम्बराणां फलानां।
श्वभ्रावासं यान्ति ते घोरं दुखं किं निस्त्रिंशैः प्राप्त ते वा न दुःखं॥

अर्थ - *जो प्राणिघात कर तैयार किये भोजन को करते हैं, पंच उदम्बर फलों का भक्षण करते हैं वे नरक में घोर दुःखों के पात्र बनते हैं, नरक उनका आवास स्थान होता है। फिर जो क्रूरता पूर्वक जीवों को मारते हैं उन्हें तो दुःख का पात्र होना ही है।*

(ब) अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादि फलेष्वपि।
प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः॥

अर्थ - *बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर आदि उदम्बर फलों जो चक्षु इन्द्रिय के गोचर स्थूल जीव हैं उनके अतिरिक्त सूक्ष्म जीव भी वहाँ रहते हैं जो आगम गोचर हैं। उनका परिणाम आगम से जानना, अतीन्द्रिय होने से हम उनको स्वयं नहीं जान सकते॥ १६॥*

◆ दया का उपदेश –

दया करो यह सब कहत, विरले पालत लोय।
त्रस थावर के ज्ञान बिन, जीव दया नहिं होय।। १८ ।।

अर्थ - 'दया' भाव को सभी लोग धर्म बताते हैं पर जीवों के त्रस स्थावरादि भेदों को न समझ सकने के कारण उनका पालन वे नहीं कर पाते हैं।

छहढाला में भी कहा है - "बिन जाने ते दोष गुनन को कैसे तजिये गहिए।" इत्यादि।

दया का अर्थ है करूणा भाव। पर के दुःख को देखकर द्रवित होना उनके दुःख निवारण का उपाय सोचना इत्यादि को दया धर्म समझना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में आचार्य लिखते हैं "दीनानुग्रहभावः कारूण्यम्" दीनों पर दया भाव रखना करूणा है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार "दशलक्षण धर्म दया प्रधान है और दया सम्यक्त्व का चिह्न है।

पद्मनन्दी पंचविंशतिका ग्रन्थ में दया को धर्म रूपी वृक्ष की जड़ कहा है -

"मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम संपदाम्।
गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभिः।। अ. ६/३८।

अर्थ - प्राणीदया धर्म रूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतों में मुख्य है, सम्पत्तियों का स्थान है और गुणों का भंडार है।

विशेष - दया का स्वरूप जानकर उसे जीवन में लाने का प्रयास करें पर दया में मोह का पुट नहीं होना चाहिए। धर्मरक्षण पूर्वक प्राणी रक्षण को दया कहा है।। १८ ।।

◆ हिंसा के प्रकार और यथायोग्य उनका त्याग –

हिंसारंभ उद्योग से, पुनि विरोध से होय।
गृही त्यागे इन्हें शक्ति सम, संकल्पी सब खोय।। १९ ।।

अर्थ - आरंभी हिंसा, उद्योगी हिंसा, विरोधी हिंसा- इन्हें यथा शक्ति गृहस्थ त्याग करें और संकल्पी हिंसा का सब प्रकार से त्याग करें ऐसा इस पद्य में बताया है। प्रत्येक का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिए।

१. आरंभी हिंसा - भोजन आदि बनाने में, घर की सफाई आदि करने रूप घरेलू कार्यों में होने वाली हिंसा आरंभी हिंसा है।

२. उद्योगी हिंसा - अर्थ कमाने रूप व्यापार धन्धे में होने वाली हिंसा उद्योगी हिंसा है। व्यापार भी श्रावक के योग्य होना चाहिए चमड़े आदि का व्यापारी को उद्योगी हिंसा के साथ-२ संकल्पी हिंसा भी हिंसानन्दी रौद्र ध्यान होने से बनती है।

३. विरोधी हिंसा - अपनी, अपने आश्रितों की तथा अपने देश की रक्षा के लिये युद्ध आदि में की जाने वाली हिंसा विरोधी हिंसा है। गृहस्थ जीवन में इनका सर्वथा त्याग असंभव है। वह बिना प्रयोजन तो इन्हें भी नहीं करता है। क्योंकि इन्हें छोड़ने की ओर उसकी रूचि दौड़ती है।

४. संकल्पी हिंसा - संकल्प पूर्वक किसी जीव को पीड़ा पहुँचाना संकल्पी हिंसा है ॥ १९ ॥

---

१९. व्यापारैर्जायतेहिंसा यद्यप्यस्य तथाप्यहो।
हिंसादिकल्पनऽभावः पक्षत्वमिदमीरितं ॥

अर्थ - यद्यपि व्यापारादि उद्योग में भी हिंसा होती है पर मैं इन्हें मारूँ न ऐसा भाव होता है और न जानबूझकर जीव घात में प्रवृत्ति होती है।

अतः श्रावक के लिए उद्म्बरादि फलों की तरह व्यापारादि में हिंसा का महादोष नहीं होता है। ऐसा आगम में कथन है ॥ १९ ॥

• हिंसकादि तत्त्व –

हिंसक हिंसा कर्म पुनि, हिंस्य हिंसाफल चार।
इनका तत्त्व विचारि गृही, त्यागत हिंसा भार ॥ २० ॥

अर्थ – हिंसा के संदर्भ में चार बातें विचारणीय हैं १. हिंसक, २. हिंसा, ३. हिंस्य, ४. हिंसा का फल।

हिंसा जब क्रियान्वित होती है तब चार प्रश्न उपस्थित होते हैं।

१. हिंसक कौन ? जो हिंसा करने वाला है वह हिंसक है, विशेष लक्षण इस प्रकार है प्रमाद पूर्वक स्व और पर के द्रव्य प्राण और भाव प्राणों का उच्छेद हिंसा है। इसका पूर्ण खुलासा तृतीय अध्याय में किया गया है, समाधान वहाँ से प्राप्त करें।

२. हिंसा – **"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा"** प्रमाद योग से अपने अथवा अन्य किसी के प्राण का व्यपरोपण करना, पीड़ा देना हिंसा है।

३. हिंस्य – जो घाता जाय वह हिंस्य है। अथवा जिसकी हिंसा हुई वह हिंस्य है। जिनशासन में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक किसी भी जीव को हिंस्य नहीं कहा। अर्थात् हिंसा में धर्म मानना जिन धर्म के विपरीत बात है।

४. हिंसा का फल – हिंसा दुर्गति का द्वार है जैसा कि ज्ञानार्णव में बताया भी है – **"हिंसैव दुर्गतेद्वारं हिंसैव दुरितार्णवः। हिंसैव नरकं घोरं हिंसैव गहनं तमः।"** १९, अ. ८।

हिंसा ही दुर्गति का द्वार है, पाप का समुद्र है तथा हिंसा ही घोर नरक और महान्धकार है।

और भी – यत् किंचित् संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद् हिंसा संभवं ज्ञेयम् ॥ ज्ञा. अ. ८/१९।

अर्थ - संसार में जीवों के जो कुछ दुःख शोक वा भय का बीज रूप कर्म है तथा दौर्भाग्य आदि हैं, वे समस्त एक मात्र हिंसा से उत्पन्न हुए जानो।

हिंसक के तप आदि सब निरर्थक हैं-

"निः स्पृहत्वं महत्त्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः।
कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थकम् ॥

अर्थ - जो हिंसक पुरूष हैं उनकी निस्पृहता, महत्ता, आशा रहितता, दुश्कर तप करना काय क्लेश और दान करना आदि समस्त धर्मकार्य व्यर्थ हैं अर्थात् निष्फल है।

इस प्रकार आगम से सांगोपाङ्ग हिंसा का स्वरूप जानकर उनका त्याग करना चाहिए ॥ २० ॥

---

२०. (अ) हिंसादि संभवं पापं प्रायश्चित्तेन शोधयन्।
तपो विना न पापस्य मुक्तिश्चेति विनिश्चयन् ॥

***अर्थ** - हिंसादि पाप कार्यों से उत्पन्न पाप का प्रायश्चित्त लेकर शोधन करना चाहिए। तप के बिना पाप से मुक्ति मिलती नहीं यह सुनिश्चित सत्य है।*

और भी - गृहवाससेवनरतो मंद कषायः प्रवर्तितारम्भाः।
आरंभजां तां हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतं ॥

***अर्थ** - जो गृह त्यागी नहीं है मंदकषायी है, आरंभ और उद्योग जो प्रवर्तित भी है वह आरंभजन्य हिंसा से अपने को पृथक् नहीं कर पाता है यह नियत-अर्थात् सुनिश्चित बात है।*

(ब) अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥ पुरूषार्थ. ६० ॥

***अर्थ** - संवर मार्ग में नित्य उद्यमवान् पुरुषों द्वारा वास्तविक पने से हिंस्य, हिंसक और हिंसा फल को जानकर अपनी शक्ति के अनुसार हिंसा छोड़नी चाहिए।*

***हिंस्य** - जिसकी हिंसा की जाय उसको हिंस्य कहते हैं अर्थात् मारे जाने वाले*

* **बिना छने पानी में हिंसा –**

जल में सूक्ष्म दृष्टि से, दीखत जीव अपार।

बिन छाने त्रस जीव बहु, मरते विपुल मझार ॥ २१ ॥

भावार्थ – जल में सूक्ष्म दृष्टि से असंख्य ऐसे जीव हैं जो चक्षु इन्द्रिय गोचर नहीं होते पुनः छने जल में भी अन्तमुहूर्त बाद पुनः जीव पैदा हो जाते हैं अतः छने अनछने दोनों को जिन वचन अनुसार प्रासुक करना चाहिए। बिना छने में त्रस जीव भी रहते हैं और उनके सेवन से उनका घात नियम से होता ही

को हिंस्य कहते हैं। सारा जगत दूसरे जीवों को हिंस्य समझता है वह सही नहीं।

वास्तव में हिंस्य तो मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है इन्हें कृश करना, हीन करना हेय नहीं, पुरूषार्थ पूर्वक इनका विघात करना चाहिए।

व्यवहार नय से जिसके द्रव्य प्राणों के विघात के प्रति प्रयोग विशेष होते हैं वह हिंस्य है। पर वह निश्चय नय से तात्विक नहीं।

***हिंसक** – प्रमत्तयोग को धारण करने वाले को हिंसक कहते हैं।*

***हिंसा** – मारने की क्रिया को हिंसा कहते हैं। पर जिनशासन में इस पक्ष को गौण रखा गया है उसके अनुसार प्रमत्त योग को हिंसा कहते हैं। प्रमाद रहित मुनि से यदि द्रव्यहिंसा हो भी गई तो प्रमत्तयोग रहित उनके हिंसा जन्य आसव नहीं होता है।*

***हिंसाफल** – हिंसा का फल आस्रव और बंध पूर्वक संसार उत्पत्ति है।*

***नित्यं अवगूहमानैः** – इस शब्द का अर्थ है कि जिन्हें वास्तव में संवर मार्ग चाहिए उन्हें पूर्वोक्त विषय को समझते हुए उसी विधि का अनुसरण करना चाहिए।*

और भी – हिंस्या प्राणाः द्रव्यभावाः, प्रमत्तो हिंसको मतः।

प्राणविच्छेदनं हिंसा, तत्फलं पाप संग्रहः ॥

***अर्थ** – द्रव्यप्राण और भावप्राण हिंसा के विषय होने से हिंस्य हैं। प्रमाद सहित वर्तन करने वाला हिंसक है। प्राणों का उच्छेद होना हिंसा है और पाप का संचय उस हिंसा का फल है ॥ २० ॥*

है अतः जीव रक्षा के लिये सदा प्रासुक जल का ही प्रयोग करना चाहिए।

जिनधर्म के अनुसार प्रासुक जल ही प्रयोग में लाने योग्य है। यह एक बड़ा गौरवशाली धर्म समझा जाता है। जल की शुद्धि अशुद्धि संबंधी कुछ नियम संदर्भ वश जानने योग्य हैं। यथा-

१. वर्षा का जल गिरता हुआ - तत्क्षण प्रासुक है। भावपाहुड़ ग्रन्थ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने लिखा है। भावपाहुड़ टीका - यतिजन वर्षा ऋतु में वर्षायोग धारण करते हैं। वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान करते हैं। उस समय वृक्ष के पत्तों पर पड़ा हुआ वर्षा का जो जल यति के शरीर पर पड़ता है, उससे उसको अपकायिक जीवों की विराधना का दोष नहीं लगता है क्योंकि वह जल प्रासुक होता है।

जल को प्रासुक करने की विधि व उसकी मर्यादा -

मुहूर्तं गालितं तोयं, प्रासुकं प्रहरद्वयं। उष्णोदमहोरात्रमगालित-मिवोच्यते (व्रत विधान पुस्तक)

अर्थ - छना हुआ जल दो घड़ी तक अर्थात् ४८ मिनिट तक प्रासुक बना रहता है। उसके बाद पुनः बिना छने की तरह हो जाता है। हरड़ आदि से प्रासुक किया गया जल दो प्रहर-छह घण्टे तक और उबाला हुआ जल २४ घण्टे तक प्रासुक है, पीने योग्य रहता है उसके पश्चात् हर प्रकार से अप्रासुक है, काम लायक नहीं रहता है।

पानी छानने वाले कपड़े का प्रमाण-

१. जल को छोटे छेद वाले या पुराने कपड़े से छानना योग्य नहीं।

व्रत विधान संग्रह पुस्तक के अनुसार-

"षट्त्रिंशदङ्गुलं वस्त्रं चतुर्विंशति विस्तृतम्।
तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत्॥

३६ अंगुल लम्बे और २४ अंगुल चौड़े वस्त्र को दोहरा करके फिर उससे जल छानना चाहिए। पानी छानने के बाद जिस भाग में अनछने पानी का अंश है कपड़े के उस भाग पर छना जल डालकर उस पानी को किसी पात्र में इकट्ठा कर उसी जलाशय में विधिवत् पहुँचाना चाहिए। क्योंकि जीव रक्षण तभी संभव है अन्य प्रकार नहीं।

जिस प्रकार रात्रि भोजन हिंसा का कारण है ठीक उसी प्रकार बिना छना जल, अमर्यादित जल का सेवन भी हिंसा का कारण है ॥ २१ ॥

---

२१. (अ) वस्त्रेणाति सुपीनेन गालितं तत् पिवेज्जलम्।
अहिंसाव्रत रक्षार्यै मांसदोषापनोदने ॥

अर्थ *- गाढ़े वस्त्र से छना हुआ जल पीना चाहिए। सूक्ष्म त्रस जीव पतले वस्त्र से नहीं निकल पाते पानी में ही रह जाते हैं अतः मांस भक्षण के दोष से बचने के लिये अहिंसाव्रत की रक्षा के लिये पानी को विधिवत् छानना ही चाहिए।*

और भी - ''अंबु गालितशेषं तन्नैव क्षिपेत् क्वचिद पिनान्यतः।
यथाकूपजलं नद्यां, तज्जलं कूपवारिणी ॥

अर्थ *- पानी छानने के बाद वस्त्र में एकत्रित जीव राशि की सुरक्षा भी यथायोग्य होनी चाहिए। छना पानी डालकर कपड़े के जीव को पात्र में लेना चाहिए और उसी जलाशय में उन्हें योग्य प्रकार से छोड़ देना चाहिए। यदि कुएँ के जल की जीवराशि को कोई नदी में छोड़े और नदी के जल जीव को कुएँ के जल में छोड़े तो वे जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं संकर हो जाने के कारण।*

(ब) ''षट्त्रिंशदंगुलं वस्त्रं चतुर्विंशति विस्तृतं।
तद्वस्त्र द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत् ॥

अर्थ *- ३६ अंगुल लम्बा, २४ अंगुल चौड़े वस्त्र को द्विगुणी कर (डबलकर) उससे पानी छानना चाहिए। और भी -*

श्लोक - तस्मिन् मध्ये तु जीवानां जलमध्ये तु स्थापयेत्।
एवं कृत्वा पिवेत् तोयं स याति परमां गतिम् ॥

◆ छने पानी से लाभ –

जल को गाढ़े वस्त्र से बर्तन में ले छान।
पियते रोग न हो सके, जीव दया भी जान॥ २२॥

अर्थ – बर्तन में गाढ़े वस्त्र को लगाकर पानी छानकर जो जल को पीता है उसको तन्निमित्तक रोग नहीं होते साथ ही जीव दया धर्म का पालन भी होता है॥ २२॥

◆ इसकी सम्मति–

नयन देखि भू पर धरें, पानी पीवे छान।
सच बोले मन शुद्ध रखे, मनु भी करत बखान॥ २३॥

अर्थ – चार हाथ भूमि देखकर – ईर्यापथ समिति से गमन करना, पानी छानकर पीना, असत्य भाषण नहीं करना, मन शुद्ध रखना ये गुण जिसमें भी हो मनु भी उसकी स्तुति करते हैं। कुलकरों ने भी उसकी स्तुति की है ऐसा अभिप्राय है॥ २३॥

अर्थ – कपड़े के मध्य में संचित जीव राशि को उसी जलाशय के मध्य पहुँचाना चाहिए इस प्रकार से पानी छानकर पीने वाला परमगति को-मोक्ष स्थान को निकट काल में प्राप्त कर लेता है।

श्लोक – मुहूर्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहर द्वयं।
उष्णोदकमहोरात्रं पश्चात् सम्मूर्च्छनं भवेत्॥

अर्थ – छना हुआ जल ४८ मिनिट – १ मुहूर्त तक, प्रासुक किया जल २ प्रहर अर्थात् ६ घंटे तक और गर्म किया गया जल २४ घंटे तक शुद्ध माना गया है। उसके बाद उसमें सम्मूर्च्छन जन्म वाले सूक्ष्म जीव पैदा हो जाते हैं॥ २१॥

२३. दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिवेत्।
सत्यपूतं वदेद्वाचं, मनः पूतं समाचरेत्॥

* **उक्त मूलगुणों का धारी ही यज्ञोपवीत ग्रहण की योग्यता रखता है –**

यज्ञोपवीती वही द्विज, योग्य मूलगुण होय।
यावज्जीवन को तजे, थूल पाप सब थोक ॥ २४ ॥

अर्थ – उक्त प्रकार के आठ मूलगुणों का जो धारी है वही यज्ञोपवीत धारण करने की पात्रता रखता है। विशेषतः द्विजशब्द से ब्राह्मण वर्ग को तथा क्षत्रिय और वैश्य को भी उदाहरण के रूप में जानना चाहिए। जीवन पर्यन्त के लिये जो स्थूल पाप का त्याग करता है उसे ही व्रती कहते हैं, वही यज्ञोपवीती द्विज भी कहलाता है।

यहाँ संदर्भवश यज्ञोपवीत का स्वरूप व महत्त्व भी उल्लेखनीय है –

१. आठवें वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययनार्थ प्रवेश करने वाले उस बालक के वक्ष स्थल पर सात तार का गूँथा हुआ यज्ञोपवीत होता है। यह यज्ञोपवीत सात परम स्थानों का सूचक है। यह कथन महापुराण ३८/११२ में श्लोक सहित है।

और भी – महापुराण पर्व २९ श्लोक ९२ एवं पर्व ४१ श्लोक ३१ में इसका विशेष कथन है –

श्लोकार्थ – तीन तार का जो यज्ञोपवीत है वह उसका (जैन श्रावक का) द्रव्य सूत्र है और हृदय में उत्पन्न रत्नत्रयात्मक गुण उसके भाव सूत्र हैं। विवाह

अर्थ – आँखों से अच्छी तरह देखकर भूमि पर पैर रखना चाहिए अर्थात् ईर्या समिति पूर्वक गमन करना चाहिए, कपड़े से छने हुए जल को पीना चाहिए।

सत्य वचन बोलना वचन की पवित्रता है – सत्य से पवित्र हुई वाणी बोलनी चाहिए मन से-हेय उपादेय का विचार कर योग्य आचरण करना चाहिए। ऐसा कथन हिन्दु पुराण में भी है ॥ २३ ॥

होने के बाद श्रावक को पूजा अभिषेकादि सभी क्रियाओं को सपत्नीक करना चाहिए ऐसा जिनागम में उल्लेख है अतः पत्नी सहित वह श्रावक ३+३ = ६ तार का जनेऊ धारण करता है।

अरहंत की प्रतिमा भी संस्कार विधि के बाद पूज्य बनती है उससे पूर्व नहीं। इसी प्रकार मनुष्य जीवन को सुसंस्कृत करने के लिये १६ संस्कार आचार्यों ने बताये हैं उनका विशेष उल्लेख उत्तर पुराण एवं महापुराण में देखें। उन संस्कारों में -

यज्ञोपवीत संस्कार महत्वपूर्ण है जिसके अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं।

माता के गर्भ से प्रगट होना मनुष्य का पहला जन्म है और सद्गुणों में प्रविष्ट होने के लिये यज्ञोपवीत (जनेऊ) संस्कार होना मनुष्य का दूसरा गुणमय जन्म माना गया है। इन दो जन्मों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को द्विज (दो जन्म वाला) कहा जाता है।

चूँकि संस्कार के बिना व्यक्ति पूज्य नहीं हो सकता है इसलिये तीन वर्ण वालों को जनेऊ संस्कार अवश्य कराना चाहिए।

यज्ञोपवीत यह शब्द - यज्ञ और उपवीत इन दो शब्दों से मिलकर बना है। यज्ञ शब्द का अर्थ है हवन, दान, देवपूजा आदि। उपवीत का अर्थ है ब्रह्मसूत्र। "**उपवीतः ब्रह्मसूत्रः**" अमर कोष में भी ऐसा ही उल्लेख है -

"**यज्ञे दान देवपूजा कर्मणि धृतं उपवीतं ब्रह्मसूत्र यज्ञोपवीतं इति।**

व्याकरण की उक्त व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ स्पष्ट होता है। अतः दान, देवपूजा आदि करने के पूर्व श्रावक को यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिए।

यज्ञोपवीत को तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने भी गृहस्थावस्था में धारण किया था अतः उसका महत्व है। यज्ञोपवीत से हिरणिया आदि रोगों का भी

शमन होता है क्योंकि शौच या पेशाब को जाने पर उसे बाएँ या दायें कान में चढ़ाने का उल्लेख है। विधि पूर्वक धारण किया गया यज्ञोपवीत एक उत्तम ताबीज का काम करता है। इससे भूतप्रेतादि की बाधा नहीं होती है ॥ २४ ॥

यज्ञोपवीत धारण करने का मंत्र इस प्रकार है -

"ॐ नमः परमशान्ताय शान्तिकराय पवित्रीकृताय अहं रत्नत्रय स्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि, मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमः स्वाहा।"

◆ सप्त व्यसन त्याग -

जुआ मांस शराब पुनि, वेश्यागमन शिकार।
चोरी पररमणी रमन, सप्त व्यसन निरवार ॥ २५ ॥

अर्थ - व्यसन सात हैं - १. जुआ खेलना, २. मांस खाना, ३. शराब पीना, ४. वेश्या सेवन, ५. शिकार करना, ६. चोरी, पर स्त्री रमण ॥ २५ ॥

---

२५. द्यूतमांस सुरावेश्याऽखेट चौर्यपराङ्गना।
महापापानि सप्तैते व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥

अर्थ - जुआँ खेलना, माँस खाना, शराब पीना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना - ये सात व्यसन जिनागम में कहे गये हैं। जो महापाप के कारण हैं। (व्यसन - बुरी आदतों को व्यसन कहते हैं)

१. जुआँ खेलने का दुष्फल-

रज्जब्भंसं वसणं बारह संवच्छराणि वणवासो।
पत्तो तहावमाणं जूएण जुहिट्ठिलो राया ॥ १२५ ॥ व. श्रा.।

अर्थ - जुआं खेलने से युधिष्ठिर राजा राज्य से भ्रष्ट हुए बारह वर्ष तक वनवास में रहे तथा अपमान को प्राप्त हुए।

२. उज्जाणम्मि रमंता तिसाभिभूया जलत्ति णाऊण।
पिबिऊण जुण्णमज्जं णट्ठा ते जादवा तेण ॥ १२६ ॥ वसु. श्रा.।

अर्थ – उद्यान में क्रीड़ा करते हुए प्यास से पीड़ित होकर यादवों ने पुरानी शराब को "यह जल है" ऐसा जानकर पी लिया और उसी से वे नष्ट हो गये।

३. **मंसासणेण गिद्धो वगरक्खो एग चक्कणयरम्मि।**

रज्जाओ पब्भट्ठो अयसेण मुओ गओ णरयं॥ १२७॥ वसु. श्रा.॥

अर्थ – एक चक्र नामक नगर में मांस खाने में गृद्ध (लोलुपी) बक राक्षस (यह पहले राजा था) राज्य पद से भ्रष्ट हुआ, अपयश से मरा और नरक गया।

४. **सव्वत्थ णिवुणबुद्धी वेसासंगेण चारूदत्तो वि।**

खइऊण धणं पत्तो दुक्खं, परदेशगमणं च॥ १२८॥ वसु. श्रा.।

अर्थ - सर्व विषयों में निपुण बुद्धि चारूदत्त ने भी वेश्या के संग से धन को खोकर दुःख पाया और परेदश में जाना पड़ा।

५. **होऊण चक्कवट्टी चउदहरयणाहिओ वि संपत्तो।**

मरिऊण बंभदत्तो णिरयं पारद्धिरमणेण॥ १२९॥ वसु. श्रा.॥

अर्थ – चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होकर भी ब्रह्मदत्त शिकार खेलने से मरकर नरक में गया।

६. **णासावहार दोसेण दंडणं पाविऊण सिरिभूई।**

मरिऊण अट्टझाणेण हिंडिओ दीह संसारे॥

अर्थ - धरोहर को अपहरण करने के दोष से दण्ड पाकर श्रीभूमि आर्तध्यान से मरकर संसार में दीर्घकाल तक रुलता फिरा।

७. **होऊण खयरणाहो वियक्खणो अद्धचक्कवट्टी वि।**

मरिऊण गओ णरयं परित्थिहरणेण लंकेसो॥ १३१॥ वसु. श्रा.।

अर्थ – विचक्षण, अर्धचक्रवर्ती और विद्याधरों का स्वामी होकर भी लंका का स्वामी रावण पर स्त्री हरण के कारण मरकर नरक में गया।

इस प्रकार एक-एक व्यसन करने से दुःख हुआ फिर जो सातों व्यसनों को सेवन करके दुःख की वृद्धि स्वाभाविक ही है। उसके दुःख का क्या वर्णन किया जा सकता है॥ २५॥

◆ **जुआ से हानि –**

> **जुवारी ढिग अन्याय का, आवे नित ही द्रव्य।**
> **धर्म हेतु खरचे नहीं, व्यये व्यसन में सर्व ॥ २६ ॥**

अर्थ – जुआ खेलने वाले के पास नित्य अन्याय का पैसा संचित होता है। उस संचित द्रव्य का भी वह पुनः दुरूपयोग करता है, व्यसन सेवन में ही खर्च करता है, धर्म कार्यों में थोड़ा भी धन नहीं देता है।

जुआ किसे कहते हैं ? इस विषय में लाठी संहिता ग्रन्थ में आचार्य लिखते हैं - जिस क्रिया में खेलने के पासे डालकर धन की हार जीत होती है वह सब जुआ कहलाता है अर्थात् हार जीत की शर्त लगाकर ताश खेलना, चौपड़ खेलना, शतरंज खेलना आदि सब जुआ कहलाता है। और भी - अपने-२ व्यापार कार्यों के अतिरिक्त, कोई भी दो पुरूष परस्पर एक दूसरे की ईर्ष्या से किसी भी कार्य में एक दूसरे को जीतना चाहते हैं तो उन दोनों के द्वारा उस कार्य का करना भी जुआ खेलने का अतिचार कहलाता है।

सागार धर्मामृत ग्रन्थ के अनुसार – जुआ के त्याग करने वाले श्रावक का मनोविनोद हेतु, विनोद की उत्पत्ति का कारण, शर्त लगाकर दौड़ना, जुआ देखना आदि भी जुआ के अतिचार हैं।

जुआ खेलने से पाप के कारण यह जीव छेदन, भदन, कर्त्तन आदि के अनन्त दुःखों को पाता है। जुआ खेलने से अन्धा हुआ वह व्यक्ति इष्ट जनों का समादर नहीं करता है वह न तो गुरू को, न माता को न पिता को मानता है स्वच्छन्द हो पापमयी प्रवृत्ति करता है अन्ततः दुर्गति का पात्र बनता है ॥ २६ ॥

---

२६. भुवनमिदम कीर्तेश्चौर्यवेश्यादि सर्वं व्यसनपतिरशेषदोषनिधिः पाप बीजं।
विषमनरक मार्गेष्वग्रयायीति मत्वाक इह विशदबुद्धिर्द्यूतमंगीकरोति ॥

अर्थ – जुआ खेलने से इस लोक में अपकीर्ति होती है। चोरी, वेश्यासेवन

◆ **मांस सेवन से हानि**

मांस भखैं से क्रूरता उपजै मन के माँहि।
दया भाव नश जात है उपजै नरकों माँहि ॥ २७ ॥

अर्थ - माँस भक्षण से मन में क्रूरता पैदा हो जाती है, दया की भावना उसके चित्त से निकल जाती है। तथा हिंसानन्दी रौद्रध्यान पूर्वक मरण कर वह नरकों में पैदा होता है। विशेष कथन पहले कर चुके हैं॥ २७ ॥

◆ **शराब से हानि –**

जीव अनन्तों घात से उपजै मद्य सुजान।
मोहित कर अज्ञान भर, करै धर्म का घात ॥ २८ ॥

शराब - अनन्त जीवों के घात पूर्वक शराब बनती है और पीने वाले को वह ज्ञान शून्य दशा में ले जाती है अर्थात् उसकी विवेक शक्ति सुसुप्त हो जाती

आदि सभी बुरी आदतों को वह (जुआ) अधिपति, दोषों का खजाना और पाप का बीज है। विकट नरक को पहुँचाने का प्रथम मार्ग है ऐसा जानकर कौन विशद बुद्धि-विवेकी जुआ में प्रवृत्ति करेगा ? अर्थात् जुआ खेलना विवेकी जन पसन्द नहीं करेंगे।

इष्ट मित्र भी उस जुआरी से द्वेष को प्राप्त हो जाते हैं -

श्लोक - द्यूतमेतत् पुराकल्पे इष्ट वैरकं महत्।
तस्मात्द्यूत न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्।

अर्थ - पुराने मित्र भी उस जुआरी से वैर को प्राप्त हो जाते हैं इसलिये कभी भी बुद्धिमानों को हँसी में भी जुआ नहीं खेलना चाहिए। और भी-

श्लोक - सर्वानर्थ प्रथमं शौचस्य सदा विनाशकं।
दूरात्परिहर्तव्यं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥

अर्थ - जो सभी अनर्थों का प्रथम मूल कारण है। शुचिता का विनाशक है, चोरी और असत्य का स्थान है ऐसे द्यूत कर्म-जुआ को दूर से ही छोड़ देना चाहिए॥ २६ ॥

है। अतः सम्यग्दर्शनादि उत्तर गुणों का सर्व प्रकार घात करने वाली मदिरा का सेवन नहीं करना चाहिए। मदिरा जीव को पतन की ओर ले जाती है ॥ २८ ॥

◆ **वेश्यागमन के दोष–**

दृष्टि पड़त चित को हरे, संगम बल हर लेय।
धर्म रूप धन भी हटे, वेश्या अवगुण खेत ॥ २९ ॥

अर्थ – दृष्टिपात करते ही जो पुरूष का मन हर लेती है। संगम किया तो उसका बल हरण होता है, शक्ति क्षीण होती है साथ ही बाह्य धन के साथ धर्म जैसी अमूल्य संपत्ति का भी अपहरण हो जाता है अतः वेश्यागमन सभी अवगुणों की उत्पत्ति करने वाला खेत है-आधार है। दुर्गुणों को पैदा करने वाली उपजाऊ भूमि है। जो दोष मद्य मांसादि में हैं वे सब दोष एक साथ वेश्यासेवन में हैं।

वसुनन्दी श्रावकाचार में बताया है - "जो मनुष्य एक रात भी वेश्या के साथ निवास करता है वह लुहार, चमार, भील, चांडाल, भंगी, पारसी आदि नीच लोगों का झूठा खाता है क्योंकि वेश्या इन सभी नीच लोगों के साथ समागम करती है।" ॥ २९ ॥ टीका-

---

२९. दर्शनात् क्षरते वित्तं, स्पर्शनात् क्षरते बल्।
संगमात् क्षरते वीर्यं, वेश्या प्रत्यक्ष राक्षसी ॥

अर्थ - *जिसको देखने से धन का क्षरण नाश होता है, स्पर्शन से आत्म बल धृति बल टूटता है, संगम से वीर्य का क्षरण होता है ऐसी वैश्या प्रत्यक्ष राक्षसी ही है।*

और भी - या परं हृदये धत्ते, परेण सह भाषते।
परं निषेवते वेश्या परमाह्लादयते दृशा ॥

अर्थ – *जो पर पुरूष को हृदय में धारण करती है, पर के साथ भाषण करती है, पर का सेवन करती है तथा उससे परम आह्लाद को वह निरन्तर प्राप्त करती है उसे वेश्या का लक्षण जानना।*

• शिकार में दोष –

बेकसूर असहाय जे, पशु-पक्षी जल जीव।

उन्हें शिकारी मारकर, हिंसक बने अतीव ॥ ३० ॥

और भी - कारूय किराय चंडाल डोंब पारसियाण मुच्छिट्ठं।

सो भक्खेइ जो वसइ एयरत्तिं पि वेस्साए ॥ ८८ ॥ वसु. श्रा. ॥

अर्थ - जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्या के साथ निवास करता है वह कारू लुहार, चमार, किरात (भील), चांडाल, डोंब (भंगी) और पारसी आदि नीच लोगो का झूठा खाता है क्योंकि वेश्या इन सभी नीच लोगों के साथ समागम करती है। और भी वेश्या में दोष है -

याः खादन्ति पलं, पिबंति च सुरां, जल्पन्ति मिथ्यावचः।

शीलं हरन्ति द्रविणार्थमेव विदधति च प्रतिष्ठा क्षतिं ॥

अर्थ - जो मांस खाती है, शराब पीती है, सदा मिथ्या वचन बोलती है। धन के लिए शील का अपहरण करती है, लोक प्रतिष्ठा को नष्ट करती है वह वेश्या है, ऐसा वेश्या का स्वरूप जानना। और भी-

श्लोक - रजक शिला सह सदृशीभिः, कुक्कुर समान चरिताभिः।

गणिकाभिर्यदि संगकृतेन श्वभ्रे गच्छन्ति ते नराः ॥

अर्थ - धोबी के शिला के समान, कुत्ते के सदृश पतित है चर्या जिसकी ऐसी वेश्याओं की संगति से मनुष्य नरक गति को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ - पूर्वोक्त दोषों को जानकर विवेकी जन सप्त व्यसनों से दूर रहें यही सम्पूर्ण कथन का सार है। और भी-

श्लोक - वहनं जघनं यस्यानीचलोकमलाविलं।

गणिकां सेवमानस्य तां शौचं वद कीदृशं ॥

अर्थ - नीच लोक जिसके जघन्य रन्ध्र स्थान का सेवन करते हैं - ऐसी वेश्या का सेवन भला, बताओ कि किस प्रकार शौच धर्म को चारित्र शुद्धि को टिकने देगा अर्थात् वेश्या सेवी का चारित्र नियम से नष्ट होना ही है ॥ २९ ॥

- **चोरी में दोष –**

जो कोई जिसका धन हरे, सो तिसप्राण हरेत।
क्योंकि धनादिक वस्तु भी, प्राण स्खन के हेत ॥ ३१ ॥

भावार्थ – धन को बाह्य प्राण कहा गया है क्योंकि धन में जीव की भारी प्रीति होती है। जो पर धन का हरण करता है वह उसके प्राण ही हरता है क्योंकि धन अपहरण के शोक से उसके प्राणों का भी वियोग संभवित है।

बिना दी हुई वस्तु का लेना चोरी है। इस कथन का अभिप्राय जिनागम में - सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ सातवें अध्याय में - इस प्रकार वर्णित है -

"यत्र संक्लेश परिणामेन प्रवृत्तिस्तत्र स्तेयं भवति। बाह्य वस्तुनो ग्रहणे च अग्रहणे च।

अर्थ – जो रखे हुए तथा गिरे हुए अथवा भूले हुए अथवा धरोहर रखे हुए परद्रव्यों को नहीं हरता है, न दूसरों को देता है सो स्थूल चोरी से विरक्त कहा

...३. गृहणंतोऽपि तृणं दन्तैः देहिनो मारयंति ये, व्याघ्रेभ्यस्ते दुराचाराविशिष्यन्ते कथं खलाः।

अर्थ *– लोक में प्रसिद्ध है कि संग्राम भूमि शत्रु यदि अपनी दांत पंक्ति में तिनका दबा ले तो उसकी पराजय मान ली जाती है अब प्रतिपक्षी उसका पीछा नहीं करता न मारने की चेष्टा करता है। परन्तु बड़े खेद की बात है कि वन में जिन मृगी आदि ने दांतो में तृण दबाये हैं, उन्हें भी मारते हैं, क्या वे खेटक दुराचारी व्याघ्रों से कुछ कम हैं ? नही वे व्याघ्र से भी अधिक पापी हैं।*

यहाँ दयालु भगवन्त आचार्य परमेष्ठी शिकार व्यसन का निषेध करते हुए उससे जन्य हिंसा का दुष्पाप कथन कर भव्यों को शिकार त्यागने का सदुपदेश दे रहे हैं। शिकार महा पाप कर्म है, इसे सेवन करने वाला हत्यारी, महापापी, नरकगामी, सिंह-चीता के समान क्रूर होता है। अतः सत्पुरुषों को इससे दूर रहना चाहिए॥ ३० ॥

जाता है। इस वाक्य से यह बात स्पष्ट होती है। चोरी नहीं करने पर भी चोरी भाव मन में आना भी चोरी है क्योंकि अपने प्राणों का, वहाँ भी संक्लेश भाव होने से घात होता है ॥ ३१ ॥

◆ परस्त्री के दोष–

व्यभिचारी से सब डरें, घर बाहर के लोग।
वह कुकर्म फल यह चखे, पर भव भी दुख पाय ॥ ३२ ॥

---

३१. १. यो हरति यस्य वित्तं स तस्य जीवस्य जीवितं हरति। आश्वासकरं बाह्य प्राणाः जीवानां जीवितं वित्तं ॥

१. अर्थ – जो निर्दयी, लोलुपी, वित्तैषणा शमन के उद्देश्य से दूसरे के धन का अपहरण करता है, चुराता है वह उसके जीवन्त प्राणों का ही घात करता है। क्योंकि आश्वास, उच्छ्वासादि दश बाह्य प्राण हैं, जिसका धन है वह भी ग्यारहवाँ प्राण माना जाता है, अतः प्राण हरण मृत्यु है। इसलिए प्राणीघात से अपनी रक्षा हेतु चोरी का त्याग करना चाहिए, चोरी के दोष बतलाकर आचार्य देव इस व्यसन के त्याग का उपदेश दे रहे हैं। सप्त व्यसनों में यह भी एक व्यसन है जो महानिंद्य दुख देने वाला त्यागने योग्य है।

२. अर्थादौ प्रचुर प्रपंचरचनैर्य वंचयन्तेपरान्, नूनं ते नरकं व्रजन्ति पुरतः पापी व्रजादन्यतः। प्राणाः प्राणिषु तन्निबंधनतया तिष्ठन्ति नष्टे धने, यावान् दुःखभरो नरेण मरणे तावानिह प्राप्यायशः ॥ २ ॥

धन प्राप्ति के लिए नाना प्रपंच मायाचारादि रचकर जो मनुष्य दूसरों को ठगते हैं, धोखा देते हैं वे निश्चय ही नरक में जाते हैं, प्रथम यहाँ नीच पापी कहलाता है। प्राण जीवों के जीवन के हेतु हैं, प्राण नाशे जीवन ही नष्ट हो जाता है, धन भी प्राणी का दश से भिन्न ११ वाँ प्राण माना गया है। अतः धनरूप प्राण के रहने पर मानव का जीवन रहता है उसके वियुक्त होने पर हरे जाने पर प्राण ही हरे गये यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस धनवंचक को लोक पापी कहते हैं जीवन भर वह अपयश का पात्र ही रहता है। इसलिए निंद्य पाप का त्याग करना चाहिए ॥ ३१ ॥

अर्थ - पर स्त्री सेवन को व्यभिचार कहते हैं। व्यभिचार कुकर्म है, दुःखोत्पादक कार्य है, पाप बन्ध का कारण है। कुकर्मी से घर और बाहर के परिजन पुरजन सब डरते हैं। उस व्यभिचार के कारण भव-भव में पाप के फल को भोगता हुआ वह दुःखी होता है ॥ ३२ ॥

---

३२. यच्चेह लौकिकं दुखं परनारी निषेवने। तत्प्रसूनं मतं प्राज्ञै नरक दारुणं फलं। यद्धि नास्ति स्वकं कान्तां साचार न कथं खला। विडाली यात्तित्पुत्रं स्वं सा किं मुंचति मूषिकां। २ दीक्षाकारातप्ता स्पृष्टा दहति पावक शिखेवमार-यति योषिता भुक्ता प्ररूढ़ विष विटपि शाखेव। ३। मलिनयति कुलं द्वितीयं दोष शिखेवोज्वलापि मल जननी, पापोपयुज्यमानापरवनिता तापने निपुणा।

अर्थ - *परनारी गमन के इस लोक में लौकिक कष्ट सहने पड़ते हैं, पर भव मे उसका फल है घोर दुःख भरे नरक में गमन। जो अपनी कान्ता को पाकर सन्तुष्ट नहीं है वह भला क्यों नहीं दुर्जन है, मूर्ख है ? जो बिडाली (बिल्ली) अपने ही पुत्र का भक्षण कर लेती है वह भला मूषों-चूहों को कैसे छोड़ सकती है। २. दीक्षा ग्रहीत साधु भी है, तो परस्त्री का स्पर्श मात्र भी अग्नि की शिखा समान उसे दहन कर देती है अर्थात् उसकी तप साधना को जला डालती है। जो जन परनारी का सेवन भोगता है वह निश्चय विष वृक्ष की शाखा पर आरोहण कर मृत्यु पाता है, पराई स्त्री विषवृक्ष की शाखा समान है।*

३. *द्वितीय विडम्बना दोष यह है कि परस्त्री अग्नि की शिखा समान शुद्ध निर्मल उज्ज्वल कुल को कलंकित कर देती है। मल की उत्पादक, परनारी पुरुष को पाप मे प्रयुक्त कर तप्तायमान, पीड़ा करने में अति चतुर होती है। अर्थात् अपने हाव, भाव, रंग, रूप, वागुर फंसा कामी पुरुष को पापी बनाकर बड़े कौशल से नरकगामी बना देती है॥*

४. *पराङ्गना लम्पटी अत्यन्त चिन्तातुर, भय से आकुलित रहता है, मति भ्रष्ट हो जाती है, अत्यन्त दाह पीड़ा का अनुभव करता है, तृष्णा के उग्र होने पर रुग्न होता है, अहर्निश नाना दुःखों का अनुभव करता है, बैचेन रहता है। मार-कामदेव दस बाणों का शिकार हो अन्तक के हाथों में जा पड़ता है, यह तो इस लोक की वार्ता है, परलोक मे*

◆ उच्च विचार-

जीव मात्र से मित्रता, गुणी जनों से प्रेम।

दुःखी पर करूणा, विधर्मी पर मध्यम रहूँ मैं एम ॥ ३३ ॥

अर्थ - प्राणी मात्र पर मैत्री भाव, गुणी - रत्नत्रयधारी पर अनुराग एवं दुःखी जीवों पर करूणा भाव होना और विधर्मी पर माध्यस्थ भाव रखना ही मेरा एक मात्र धर्म है। इन्हें महापुरूषों ने उच्च विचार कहा है।

मैत्री किसे कहते हैं? भगवती आराधना ग्रन्थ में मैत्री का स्वरूप आचार्य इस प्रकार बताते हैं - अनन्त काल से मेरी आत्मा घटी यंत्र के समान इस चतुर्गति मय संसार में भ्रमण कर रहा है। इस संसार में सम्पूर्ण प्राणियों ने मेरे ऊपर अनेक बार महान् उपकार किये हैं, ऐसा मन में जो विचार करना है वह मैत्री भावना है।

भयंकर, दारुण असह्य दुःखों से भरे नरक में जा पड़ता है। वहाँ लौह की पुतलियाँ जो अग्नि तप्त व वह्निशिखा उगल रही हैं ऐसी पुतलियों से बलात् चिपकाये जाते हैं। क्या यह कष्ट वर्णनातीत नहीं है? अवश्य अपरिमित है।

५. पराई कान्ता के साथ रमण करने वाले की कोई भी क्रिया, कार्य किसी भी प्रकार से शान्ति देने वाली नहीं होती क्योंकि भयाकुल सतत् अतृप्त ही बना तप्तायमान रहता है उसे सुख कैसा? देखा जाता है अनंग क्रीड़ारत रह निरंतर चंचल चित्तवृत्ति रहता है। उसका मन कहीं भी किसी भी कार्य में स्थिर नहीं होता।

६. परनारी सेवन की इच्छा मात्र से उसे पाने की लालसावश होकर वह लम्पटी नहीं मिलने पर मूर्च्छित-बेहोश होता है, तृषित हो उष्ण श्वांसों ओठ सुखाता है, अंग-अंग में पीड़ा सहता है, उसी के ध्यान में आसक्त हो ज्वर से तप्त हो जाता है। क्या इस प्रकार की स्थिति में स्त्री संभोग में सुख है? यदि सुख होता तो क्यों त्याज्य होती? यदि सुख नहीं है तो फिर कामिनियाँ क्यों न ज्वर स्वरूप हैं? अर्थात् विषय भोग ही भयंकर तापोत्पादक ज्वर ही है ॥ ३२ ॥

प्रेम - प्रियत्वं प्रेम (धवला पु. १४) प्रियता का नाम प्रेम है।

वासना एवं स्वार्थ से रहित धर्म धर्मात्माओं के प्रति जो पवित्र प्रेम होता है उसे वात्सल्य कहते हैं यहाँ पर वात्सल्य का ही पर्यायवाची यह प्रेम शब्द है।

विविध आचार्यों के अनुसार इनका स्वरूप इस प्रकार जानना -

१. दर्शनमोहनीय का उपशम होने से मन, वचन, काय के उद्धतपने के अभाव को भक्ति कहते हैं तथा उन गुणों के उत्कर्ष के लिये तत्पर मन को वात्सल्य कहते हैं। यही गुणी जनों पर प्रेम करना है। पं. ध. २/४७०।

२. चतुर्गति रूप संसार से तिरने के कारणभूत मुनि आर्यिका आदि चार प्रकार संघ में बछड़े में गाय की प्रीति की तरह प्रीति करना चाहिए। यही वात्सल्य गुण है। मूलाचार।

३. धार्मिक लोगों पर और माता-पिता भ्राता के ऊपर यथोचित प्रेम रखना वात्सल्य है। भगवती आराधना।

करूणा - दीन दुःखी जीवों पर प्रगट हुई दया भावना करूणा है।

"दीनानुग्रह भावः कारूण्यम्" सर्वार्थसिद्धि। सर्व प्राणियों के ऊपर उनका दुःख देखकर अन्तःकरण आर्द्र होना दया का लक्षण है। (भगवती आराधना)

उपर्युक्त चारों ही प्रकार के परिणाम सम्यक्त्व के चिह्न है, धर्म रूपी वृक्ष की जड़ हैं, इत्यादि प्रकार उनके स्वरूप को समझकर उन गुणों को जीवन में साकार करना परम विवेक है॥ २३॥

---

२३. सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्माविदधातु देव॥ (द्वा. त्रि.)

अर्थ- हे प्रभो! आत्मकल्याण हेतु मैं सदैव यह भावना करता हूँ - समस्त संसार के प्राणियों में मित्रता सुहृदपने का भाव रहे। अर्थात् हर प्राणी को अपना प्रेम पात्र बनाऊँ। जो विशिष्ट गुणज्ञ हैं, विद्वान, त्यागी, साधु-महात्मा-सत्पुरूष आदि उनके प्रति प्रमोद-आनन्दोत्पादक भावना युत रहूँ। जो बेचारे अशुभ कर्माधीन हो दारिद्रयादि दुःखों से

◆ पाक्षिक का कर्त्तव्य–

दैनिक कर्म समूल गुण, अणुव्रत व्यसन हटाय।
संकल्पी हिंसा तजे पाक्षिक, पदवी पाय ॥ ३४ ॥

अर्थ – दैनिक षट् कर्म तथा मूलगुणों का पालक, अणुव्रत धारी, व्यसनों का त्यागी, विशेषतः संकल्पी हिंसा का त्यागी श्रावक पाक्षिक कहलाता है।

मैत्री प्रमोद कारूण्य और माध्यस्थ भाव से वृद्धि को प्राप्त हुआ समस्त हिंसा का त्याग करना जैनियों का पक्ष है। (सा. ध. १/१९) महापुराण ३/२५-२६)

इस पक्ष के प्रति जो प्रयत्नशील है वह पाक्षिक श्रावक है। चारित्रसार ग्रन्थ के अनुसार-

असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भ से गृहस्थों के हिंसा होना

पीड़ित हैं, उनके प्रति करूणा-दया, उपकार करने का भाव सतत् बना रहे, तथा जो उपकारी मेरे प्रति विपरीत आचरण करने वाले हैं, उनके प्रति माध्यस्थ भाव जाग्रत रहे और भी जैसा अन्यत्र कहा है-

"दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे।
साम्य भाव रक्खूँ मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे।
गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावै ॥ आदि भावना रहे।

२. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

अर्थ – सत्पुरुषों का लक्षण है, जो हम दूसरों से अपने प्रति जैसा व्यवहार चाहते हैं, उनके प्रति हम भी वैसा ही सौम्य, सुन्दर, दयामय, प्रीतिकर, सौजन्य भरा, भातृप्रेम सा व्यवहार करें। अपनी भावना के प्रतिकूल आचरण अन्य जनों के प्रति कदाऽपि नही करें। हम चाहते हैं हम सदा सुखी रहें, हमें कोई सताये नहीं-दुःख नहीं दे तो हम भी अन्य को क्यों सतायें। अतः अपने आत्म स्वरूप से प्रतिकूल किसी भी प्रकार नही करें। यही उत्तम भावना है ॥ ३३ ॥

संभव है । तथापि पक्ष, चर्या और साधक पना इन तीनों से हिंसा का निवारण किया जाता है । इनसे सदा अहिंसा रूप परिणाम करना पक्ष है ।

सागार धर्मामृत ग्रन्थानुसार – गृहस्थ धर्म में - जिनेन्द्र देव सम्बन्धी आज्ञा का श्रद्धान करता हुआ पाक्षिक श्रावक हिंसा को छोड़ने के लिये सबसे पहले मद्य, मांस, मधु और पांच उदम्बर फलों को छोड़ें ॥ १५ ॥ शक्ति को न छिपाने वाला ऐसा वह पाक्षिक श्रावक पाप के डर से स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह के त्याग का अभ्यास करे ॥ १६ ॥ वह पाक्षिक श्रावक देवपूजा, गुरू पूजा, गुरू उपासना आदि कार्य को शक्ति के अनुसार नित्य करता है । मन्दिर में फुलवाड़ी आदि लगाने का कार्य तो करता है, रात्रिभोजन का त्यागी होता है परन्तु कदाचित् रात्रि को इलायची आदि ग्रहण कर लेता है । पर्व के दिनों में प्रोषधोपवासी भी शक्ति अनुसार करता है । व्रत खण्डित होने पर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है । आरंभादि में संकल्पी हिंसा नहीं करता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि को पाता हुआ प्रतिमाओं को ग्रहण कर आगे बढ़ता हुआ मुनि धर्म पर आरूढ़ होता है ।

इस प्रकार संक्षेप से यह जाने कि अष्ट मूलगुणधारी, स्थूल अणुव्रतों का शक्ति अनुसार पालन करना पाक्षिक श्रावक का लक्षण है । वह पाक्षिक श्रावक धीरे-धीरे चारित्र की वृद्धि करता हुआ नैष्ठिक पद को प्राप्त कर लेता है सदा आगे बढ़ने की भावना रखता है ॥ ३४ ॥

---

३४. पाक्षिकादिभिर्भिदा त्रेधा श्रावकास्तत्रपाक्षिकः, तद्धर्मह्रदयस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक् ॥

अर्थ – श्रावक के तीन भेदों का वर्णन आगम में प्राप्त है । उनमें निज धर्म का पक्ष सुदृढ़ता से स्वीकार कर श्रद्धावान हो वह पाक्षिक श्रावक है । उस धर्म में निष्ठ हो साधना रत रहता है वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है । इनका विशेष स्वरूप पहले लिखा जा चुका है ॥ ३४ ॥

◆ निर्दयी–अज्ञानी की क्रिया –

पाक्षिक क्रिया हीन नर, निर्दयी अज्ञ विचार।
पशु सम वह विषयादि में, जन्म गमावे सार ॥ ३५ ॥

अर्थ – पाक्षिक क्रिया से भी जो नर हीन है, दया रहित धर्म के स्वरूप को समझने में अज्ञ है, धर्म की महिमा को नहीं जानता है वह पंचेन्द्रिय विषय भोगों में आसक्त पशु के समान मनुष्य जन्म को व्यर्थ गवाँ देता है ॥ ३५ ॥

◆ आवश्यक उपदेश –

आनन्द धर्म प्रकाश में, यदि बुध किया विहार।
चुन चुन प्रतिमारत्न की, तो माला हिय धार ॥ ३६ ॥

अर्थ – प्रस्तुत अध्याय में वर्णित श्रावक धर्म संबंधी विषय को जानकर परम सुखकारी धर्म के प्रकाश में गमन करना – चर्या बनाये रखना, श्रावक धर्म

---

३५. मैत्रादिभावनावृद्धं त्रस प्राणिवधोज्झनं, हिंसाम्यहं न धर्मादौ पक्षः स्यादिति तेषु च। २ आहार निद्रा भय मैथुनं च। सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणां। धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिर्समानाः ॥

अर्थ – मैत्री आदि चारों भावनाओं का धारक त्रस प्राणियों के वध का त्यागी होता है। वह भला "मैं इसे मारूँ" इस प्रकार संकल्पी हिंसा को धर्म में किस प्रकार गर्भित करेगा ? नहीं। न ही उन त्रसों में ही हिंसाभाव रख सकता है।

२. संज्ञाएँ चार हैं – १. आहार, २. निद्रा, ३. भय और ४. मैथुन (संभोग)। ये चारों ही मनुष्य और तिर्यञ्चों पशु–पक्षी आदि में समान रूप से पाई जाती हैं। अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सभी प्राणी इन से ग्रस्त हैं। इनमें मनुष्य और पशुओं में क्या अन्तर है ? तो इस प्रश्न के समाधान में आचार्य श्री कहते हैं 'धर्मभावना' ही भेद दर्शक है। मनुष्य धर्म अहिंसा धर्म विशेष है जो पशुओं में नहीं है। स्पष्ट है जो धर्मयुक्त है वही मानव है, मनुष्य कहलाने का अधिकारी है शेष पशुवत् ही हैं ॥ ३५ ॥

में प्ररूपित नियमों का चुन-चुनकर पालन करना, श्रेष्ठ प्रतिज्ञा रूपी रत्नों से गुंथी हुई माला को हृदय में धारण करना हमारा परम कर्त्तव्य है। यही इस अध्यायगत संदेश जानना जो श्रावकों के लिये परम पूज्य मुनि कुञ्जर सम्राट आचार्य आदिसागर जी परम्परागत पट्ट शिष्य आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज द्वारा निरूपित है ॥ ३६ ॥

◆ चतुर्थ अध्याय का सारांश–

पाक्षिक श्रावक की विधी, इस चौथे अध्याय।
महावीर ने कुछ कही, शास्त्र कथित सुखदाय ॥ ३७ ॥

---

३६. (क) व्रतानि पुण्याय भवन्ति लोके, न सातिचाराणि निषेवितानि।
सस्यानि किं क्वापि फलन्ति लोके, मलोपलिप्तानि कदाचनानि ॥ क्ष. चू.

अर्थ – ग्रहीत व्रतों का पालन करना पुण्यार्जन को निमित्त होता है, परन्तु वे व्रत निरतिचार पालित होने चाहिए। दोष सहित पालन किये गये व्रतों का समुचित फल प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार धान की पैडी निकालकर उनकी जड़ में लगी मिट्टी धोये बिना बो दिया जाय तो क्या वे फलती हैं ? देखा है क्या कहीं किसी ने उनकी पौध जमते ? नहीं। अतः निरतिचार व्रतों का पालन करना चाहिए।

(ख) न हि स्ववीर्य गुप्तानां भीतिः केसरिणामिव।

अर्थ – जो मनीषी-पुरूषार्थी अपने में आत्मशक्ति-वीर्य से सम्पन्न हैं, अपनी स्वाधीनता से युक्त हैं उन्हें कहीं भी भय नहीं होता है। सर्वत्र निर्भय, सिंह समान विचरण करता है। अर्थात् पराधीन वृत्ति कायरों का स्वभाव है। स्वाधीन पुरूषार्थी पराश्रित नहीं रहता, सतत स्वतंत्र निर्भय रहता है।

(ग) ''तत्त्वज्ञानं हि जागर्ति विदुषामार्ति संभवे।''

अर्थ – तत्त्वचिन्तन शील सम्यग्ज्ञानी कौन है ? भयंकर रोग या कष्ट आ जाने पर जो उससे अभिभूत हो विमूढ़-विवेक नहीं होता उसे कर्माधीन समझ कर आकुल-व्याकुल न होकर साम्यभाव से सहन करता है, विवेकहीन नहीं होता वही यथार्थ तत्त्वज्ञानी है ॥ ३६ ॥

अर्थ - चतुर्थ अध्याय का सारांश अंतिम दोहे में गुरूदेव प्रस्तुत करते हुए यहाँ बताते हैं कि मैंने इस अध्याय में पाक्षिक श्रावक की विधि, उसकी चर्या धर्मानुराग का वर्णन आगम का आधार लेकर किया है जो भव्य जीव सुख की इच्छा रखता है उसे उस मार्ग पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि ज्ञान का फल चारित्र है। चारित्र के बिना मात्र अक्षर ज्ञान से कभी जीवन सुखी बन नहीं सकता है ॥ ३७ ॥

इति चतुर्थ अध्याय

❊ अथ पंचम अध्याय ❊

◆ नैष्ठिक का कर्त्तव्य-

अणु-गुण-शिक्षा दृष्टि भी पाले निर अतिचार।
प्रतिमा प्रथम से चरम तक यह नैष्ठिक आचार॥ १॥

अर्थ - जो सम्यग्दृष्टि जीव पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत अर्थात् इन बारह व्रतों का तथा पहली प्रतिमा से लेकर अंतिम ग्यारहवीं प्रतिमा तक अपनी शक्ति को न छिपाता हुआ निचली दशा से क्रमपूर्वक उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है तथा अन्तिम श्रेणी में इसका रूप साधु से किञ्चित् न्यून रह जाता है, ऐसे निरतिचार पूर्वक विवेक पूर्वक जीवन बिताने वाले को नैष्ठिक श्रावक कहते हैं।

भारद्वाज विद्वान् ने नैष्ठिक श्रावक का लक्षण कहा है -

कलत्र रहितस्यात्र यस्य कालोऽतिवर्तते।
कष्टेन मृत्युपर्यन्तो ब्रह्मचारी स नैष्ठिकः॥

अर्थ - जिसका समय जीवन पर्यन्त अविवाहित-बिना विवाह के यापन होता है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है। अर्थात् बाल ब्रह्मचारी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं।

जैनाचार्यों ने ५ प्रकार के ब्रह्मचारियों का निरूपण किया है-

१. उपनय ब्रह्मचारी - जो गणधर सूत्र को धारण कर अर्थात् यज्ञोपवीत धारणकर उपासकाध्ययन आदि शास्त्रों का अभ्यास करते हैं और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं उन्हें उपनय ब्रह्मचारी कहते हैं।

२. अवलम्ब ब्रह्मचारी - जो क्षुल्लक का रूप धर शास्त्रों का अभ्यास करते हैं और फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं उन्हें अवलम्ब ब्रह्मचारी कहते हैं।

३. **अदीक्षा ब्रह्मचारी** – जो बिना ब्रह्मचारी का वेष धारण किये ही शास्त्रों का अभ्यास करते हैं, और फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं उन्हें अदीक्षा ब्रह्मचारी कहते हैं।

४. **गूढ़ ब्रह्मचारी** – जो कुमार अवस्था में ही मुनि होकर शास्त्रों का अभ्यास करते हैं तथा माता-पिता, भाई आदि कुटुम्बियों के आश्रय से अथवा घोर परीषहों के सहन न करने से अथवा राजा की विशेष आज्ञा से या अपन आप ही जो परमेश्वर भगवान् अरहंत देव की दिगम्बर दीक्षा छोड़कर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं उन्हें गूढ़ ब्रह्मचारी कहते हैं।

५. **नैष्ठिक ब्रह्मचारी** – समाधिमरण करते समय शिखा (चोटी) धारण करने से जिसके मस्तक का चिह्न प्रगट हो रहा है, यज्ञोपवीत धारण करने से जिसका उरोलिंग प्रकट हो रहा है, सफेद अथवा लाल रंग के वस्त्र की लंगोटी धारण करने से कमर का चिह्न प्रगट हो रहा है, जो सदा भिक्षावृत्ति से निर्वाह करता है, जो व्रती है, सदा जिनेन्द्र भगवान की पूजादि में तत्पर रहते हैं उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं॥ १ ॥

◆ पहली प्रतिमा और पाक्षिक में अन्तर–

पाक्षिक समकित दोष युतं, अणुव्रत सातिचार।
पहली प्रतिमाधारी दोउ, धारे निर अतिचार॥ २ ॥

---

१. देशयमघ्न कषाय क्षयोपशम तारतम्य वशतः स्यात्।
दार्शनिकाद्येकादश दशावशो नैष्ठिकाः सुलेश्यतराः भवन्ति॥

__अर्थ__ - देश चारित्र और सकल संयम का घात करने वाली, क्रमशः तारतम्य रूप से अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषायों का क्षयोपशम है। अर्थात् द्वितीयकषाय चतुष्क देशसंयम और तृतीय चौकड़ी सकल संयम का घात करती है ऐसा समझना चाहिए॥ १ ॥

अर्थ - पाक्षिक श्रावक सम्यग्दर्शन के जो २५ दोष हैं उनमें तथा अणुव्रत आदि बारह व्रतों में कभी कदाचित् अतिचार लग जाय तो प्रायश्चित्त लेकर अपनी शुद्धि कर लेता है। पहली प्रतिमा धारी सम्यग्दृष्टि जीव इन दोनों अर्थात् सम्यग्दर्शन के २५ दोष में तथा अणुव्रतादि बारह व्रतों का निरतिचार पूर्वक पालन करते हैं। यही पहली प्रतिमा और पाक्षिक श्रावक में अन्तर है।

विवेकवान् विरक्तचित्त अणुव्रती गृहस्थ को श्रावक कहते हैं। श्रावक के तीन प्रकार हैं - १. पाक्षिक श्रावक, २. नैष्ठिक श्रावक, ३. साधक श्रावक।

१. पाक्षिक श्रावक - जिनेन्द्र भगवान की वाणी पर श्रद्धा करता हुआ पाक्षिक श्रावक सबसे पहले तीन मकार अर्थात् - मद्य, मांस, मधु एवं पांच उदम्बर फलों का त्याग करता है। अपनी शक्ति और सामर्थ्य को नहीं छिपाता हुआ पाप के डर से स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह के त्याग का अभ्यास करता है, देवपूजा, गुरु उपासना आदि षड् आवश्यक को शक्त्यानुसार नित्य करता है, पर्वों के दिनों में प्रोषधोपवास को करता है तथा व्रत खण्डित होने पर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, आरंभादि में संकल्पी आदि हिंसा नहीं करता इस प्रकार उत्तरोत्तर चारित्र में वृद्धि करता हुआ एक दिन मुनि धर्म पर आरूढ़ होता है।

२. नैष्ठिक श्रावक - देश संयम का घात करने वाली कषायों के क्षयोपशम की क्रमशः वृद्धि के वश से श्रावक के दर्शनादि ग्यारह संयम स्थानों के वशीभूत और उत्तम लेश्या वाला जीव नैष्ठिक श्रावक कहलाता है।

३. साधक श्रावक - जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवन के अन्त में अर्थात् मृत्यु समय शरीर, भोजन और मन, वचन, काय के व्यापार के त्याग से पवित्र ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि की साधना करता है वह साधक श्रावक कहलाता है।

वसुनन्दि श्रावकाचार में दर्शन प्रतिमा का लक्षण इस प्रकार बतलाया है -

पंचुंबरसहियाइं परिहरेइ इय जो सत्त विसणाइं।
सम्मत्त विसुद्धमइ सो दंसणसावयो भणिओ ॥

अर्थ – जो सम्यग्दर्शन से विशुद्ध बुद्धि जीव पंच उदम्बर सहित सातों व्यसनों का परित्याग करता है वह प्रथम प्रतिमाधारी दर्शन श्रावक कहा गया है ॥ २ ॥

◆ **अणुव्रतों के नाम–**

अहिंसा सत्य अचौर्य पुनि परिग्रह का परिमान।
स्वत्रिय तोष परत्रिय त्यजन, इमि पंच अणुव्रत जान ॥ ३ ॥

अर्थ – अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत अपनी स्त्री में संतोष, परस्त्री का त्याग अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रत एवं परिग्रह परिमाणुव्रत ये पाँच अणुव्रत के भेद हैं ॥ ३ ॥

---

२. दृष्ट्यादि दशधर्माणां निष्ठा निर्वहणं मता। तथा चरति यः स स्यान्नैष्ठिकः साधकोत्सुकः ॥

अर्थ – जो श्रावक उत्तम क्षमादि दश धर्मों को धारण करता है वह सम्यग्दृष्टि माना जाता है। जो इन धर्मों का आचरण करने में तत्पर रहता है वह नैष्ठिक साधक कहा जाता है ॥ २ ॥

३. हिंसाऽसत्यस्तेयाब्रह्म परिग्रह निवृत्ति रूपाणि ज्ञेयान्यणुव्रतानि भवन्ति पंचाऽत्र ॥ २. अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुन वर्जनं। पंचस्वेतेषु सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः ॥

अर्थ – हिंसा, असत्य, स्तेय, चोरी, अब्रह्म, मैथुन सेवन और परिग्रह संग्रह प्रवृत्ति ये पाँच पाप हैं। इन पाँचों का त्याग करने से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग रूप पाँच धर्म-व्रत कहलाते हैं। ये पाँचों अणु और महत रूप दोनो प्रकार से धर्म ही में निष्ठ हैं, गर्भित हैं ॥ ३ ॥

• **प्रथम अणुव्रत का लक्षण–**

मन-वच-तन से नहीं करें, नहीं हिंसा करवाय।
त्रस-वध अनुमोदे भी नहिं, अहिंसा अणुव्रत पाय॥ ४॥

अर्थ - मन-वचन-तन से संकल्पपूर्वक त्रस जीवों का न तो स्वयं घात करना, न अन्य के द्वारा कराना और न प्राणीघात को देखकर आन्तरिक प्रशंसा द्वारा अनुमोदन करना यह गृहस्थ का व्यवहार से अहिंसाणुव्रत है। निश्चय दृष्टि से रागादि विकारों की उत्पत्ति हिंसा और उनका अप्रादुर्भाव अहिंसा कहलाती है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है -

छेदन-बन्धन-पीड़न-मतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद् व्युपरतेः पञ्च॥

अर्थ - छेदना, भेदना, बाँधना, पीड़ा देना तथा शक्ति से अधिक भार लाद देना और समय पर भोजन नहीं देना, भोजन में त्रुटि करना ये अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

१. छेदन-भेदन - कान, नासिका आदि शरीर के अवयवों को परहित की विरोधिनी दृष्टि से छेदना, भेदना ये छेदन-भेदन नामक अहिंसाणुव्रत का पहला अतिचार है।

२. बन्धन - अभिमत, इष्ट देश-क्षेत्र में जाने से रोकना बन्धन है, अथवा रस्सी, जंजीर व अन्य किसी प्रतिबन्धक पदार्थ के द्वारा शरीर और वचन पर अनुचित रोक थाम लगाना बन्धन नामक अतिचार है।

३. पीड़न - दण्ड, चाबुक, बेंत आदि अनुचित अभिघात द्वारा शरीर को पीड़ा पहुँचाना तथा कटुक वचनों के द्वारा किसी का मन दुःखाना पीड़न नामक अतिचार है।

४. अतिभारारोपण - किसी भी मानव, नौकर-चाकर आदि व पशु पर

उसकी शक्ति से अधिक भार, न्याय-नीति से अधिक कार्य भार, दण्डभार, बोझा लादना ये सब अतिभारारोपण अतिचार हैं।

५. आहार-वारणा - स्वाश्रित जीवों को मनुष्य या तिर्यञ्च (पुत्र-पुत्री, बहू-नौकर आदि) को समय पर भोजन नहीं देना, जल नहीं देना इत्यादि सब अहिंसाणुव्रत में आहार वारणा नामक अतिचार है।

अहिंसाणुव्रत का निरतिचार पूर्वक पालनार्थ, रक्षार्थ हेतु भव्यात्माओं को निम्न लिखी हुई बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

१. पर पीड़ाकारक छेदन-भेदन-बन्धन कभी भी नहीं करना चाहिये।

२. पीड़ाकारक वचन भी मुख से नहीं बोलना चाहिये।

३. शक्ति से अधिक कार्य किसी से भी नहीं लेना चाहिए।

४. चार सवारी के ताँगे में ६-७ सवारी नहीं बैठना चाहिए यह भी अतिभारारोपण है।

५. जितने घण्टे कार्य के पैसे लेते हैं, उतने घण्टे ईमानदारी से काम करना चाहिये, स्वामी को भी शक्ति देखकर कार्य कराना व पारिश्रमिक भी पूरा देना चाहिये।

६. किसी भी प्राणी के आहार में रोक लगाना, कम भोजन देना, समय पर भोजन नहीं देना आदि कार्य कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

---

४. संकल्पात्कृत कारित मननाद्योगस्य चर सत्वान् न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूल बधाद्विरमणं निपुणः ॥ २. स्थावरघाती जीवस्त्रस संरक्षी विशुद्ध परिणामः योऽक्ष विषया निवृत्तः स संयतोज्ञेयः ॥

अर्थ - जो दयालु संकल्प पूर्वक कृत-कारित-अनुमोदना से त्रियोगों से जीवों-त्रस जीवों का घात नहीं करता वह स्थूल हिंसा का त्यागी सत्पुरुष है॥ २. जो स्थावर जीवों के घातने से तो विरत नहीं है परन्तु त्रस जीवों की हिंसा से विरक्त उनकी रक्षा मे तत्पर रहता है वह संयतासंयत श्रावक कहलाता है। ऐसा जानना चाहिए॥ ४ ॥

• "हिंसा की संभवता

संरंभादिक से गुने, योग कृतादि कषाय।

अष्टाधिक शत भेद इम, हिंसा के दुःख दाय॥ ५॥

अर्थ - समरंभ-समारंभ-आरंभ ये तीन को मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग से गुणा करने पर ३ x ३ = ९ भेद होते हैं। पुनः इन नव भेदों को कृत-कारित तथा अनुमोदना से गुणा करने पर ९ x ३ हिंसा के २७ भेद होते हैं। २७ भेदों को क्रोध-मान-माया एवं लोभ इन चार कषायों से गुणा करने पर २७ x ४ = १०८ भेद हिंसा के होते हैं। प्रत्येक प्राणी के लिये हिंसा दुःखदायक, कष्टदायक है।

भावार्थ - कोई भी पाप रूप कार्य किया जाता है, उसमें समरंभ, समारंभ और आरम्भ ऐसे तीन भेद पड़ते हैं। किसी भी हिंसादि पापकार्य के संकल्प करने को उसके प्रयत्न के आवेश करने को समरंभ कहते हैं। उसी पाप कार्य के कारणों का संग्रह करना, साधन की सब सामग्री इकट्ठी करना समारंभ है और उस कार्य को प्रारंभ कर देना आरंभ है। जैसे - किसी ने एक मकान बनाने का विचार किया, उसने संकल्प किया कि इस तरह का मकान बनवाऊँगा, उसमें इस प्रकार के कमरे आदि बनवाऊँगा। इस प्रकार के संकल्प को समरंभ कहते हैं। समरंभ में किसी काम का बाह्य आरंभ नहीं होता केवल विचार या उस काम को करने का आवेश होता है।

समरंभ के बाद उस मकान को बनवाने के लिये कारीगर ईंट, चूना, पत्थर, कुदाली, फावड़ा आदि साधनों का संग्रह करना समारंभ है। समारंभ में भी काम का प्रारम्भ नहीं होता है, केवल कारण सामग्री इकट्ठी होती है। तदनन्तर उस विचारे हुए कार्य को प्रारम्भ कर देना - जैसे - जिस मकान के बनाने का संकल्प किया था उसके लिये नींव भरना, दीवाल खड़ी करना आदि कार्यों का प्रारम्भ कर देना आरंभ है। इसी प्रकार सभी कार्यों के दृष्टान्त समझ

लेना चाहिए। ये समरंभ-समारंभ और आरंभ तीनों ही मन से किये जाते हैं, तीनों ही वचन से किये जाते हैं और तीनों ही काय से किये जाते हैं, इस प्रकार ये तीनों, तीनों योगों से होते हैं और उनके ये नौ भेद हो जाते हैं। नौ प्रकार के समरंभ आदिक स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से कराये जाते हैं और उनकी अनुमोदना की जाती है इस प्रकार कृत-कारित-अनुमोदना के भेद से सत्ताईस भेद हो जाते हैं। ये सत्ताईस भेद क्रोध से होते हैं, मान से होते हैं, माया से होते हैं और लोभ से होते हैं इस प्रकार चारों कषायों से गुणा करने से एक सौ आठ भेद हो जाते हैं इन एक सौ आठ भेदों से जीवहिंसा आदि पाप लगते हैं सो ही मोक्षशास्त्र में आचार्य उमास्वामी ने लिखा है-

"आद्यं सरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकषाय विशेषैस्त्रि-स्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः।"

इसके सिवाय पापों के एक सौ आठ भेद और प्रकार से भी हैं। यथा - क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों से काययोग के द्वारा स्वयं किये हुए भूतकाल सम्बन्धी पाप। इन्हीं चारों कषायों से काययोग के द्वारा दूसरों से कराये हुए भूतकाल सम्बन्धी पाप तथा इन्हीं कषायों से काययोग के द्वारा अनुमोदना किये हुए भूतकाल सम्बन्धी पाप इसी प्रकार भूतकाल सम्बन्धी पाप बारह प्रकार के हुये। इसी प्रकार भूतकाल सम्बन्धी पाप बारह प्रकार के वचन योग द्वारा तथा बारह प्रकार मनोयोग द्वारा होते हैं, इस प्रकार कुल छत्तीस प्रकार के भूतकाल सम्बन्धी पाप, छत्तीस प्रकार वर्तमान काल सम्बन्धी पाप और छत्तीस प्रकार भविष्यत्काल सम्बन्धी पाप होते हैं, इस प्रकार एक सौ आठ हिंसा के भेद हो जाते हैं।

संसारी जीव हमेशा प्रमाद और कषाय के आधीन रहते हैं तथा त्रस स्थावरों के भेद से बारह प्रकार के जीवों की मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना के द्वारा एक सौ आठ भेद रूप पाँचों पापों का आस्रव व बंध करते

रहते हैं। आचार्य देव ने यहाँ पर हिंसा के अन्य प्रकार से १०८ भेद बतलाये हैं - पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायकि, नित्य निगोद, इतर निगोद, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असैनी पञ्चेन्द्रिय, सैनी पञ्चेन्द्रिय इस प्रकार बारह भेद होते हैं। इन बारह प्रकार के जीवों के मन से, वचन से तथा काय से हिंसादिक पाप होते हैं जो छत्तीस प्रकार के हो जाते हैं। तथा ये छत्तीसों प्रकार के पाप स्वयं करने, दूसरों से कराने और करते हुये का भला मानने के भेदों से १०८ प्रकार के हो जाते हैं। १२ x ३ x ३ = १०८ ये पाप सदा लगते रहते हैं।

हिंसा के भेद के साथ हिंसा का स्वरूप भी जानना अतिआवश्यक है। प्रमाद से अपने व दूसरों के प्राणों का घात करना, वा मन को दुःखाना हिंसापाप कहलाता है। हिंसा पाप करने वालों को हिंसक, हत्यारा, निर्दयी कहते हैं। हिंसा के दो भेद हैं। १. द्रव्य हिंसा २. भाव हिंसा।

प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने वाली और उनका घात करने वाली क्रिया करना द्रव्य हिंसा है तथा प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने का या उनके घात करने का विचार करना, षड्यंत्र रचना भाव हिंसा है।

संकल्पी, आरंभी, उद्योगी एवं विरोधी हिंसा के भेद से वह चार प्रकार की भी बतलाई गई है। उसका स्वरूप आचार्य वर्य ने इस प्रकार बतलाया है।

१. संकल्पी हिंसा - संकल्पपूर्वक किसी प्राणी को पीड़ा देना या उसका वध करना संकल्पी हिंसा है। जैसे आतंकवाद, साम्प्रदायिक दंगें, जाति विरोधी हमलें और मांस भक्षण के लिये जो वध, शिकार आदि से होने वाली हिंसा तथा धार्मिक अनुष्ठानों का बहाना लेकर की जाने वाली बलि आदि भी संकल्पी हिंसा है।

२. आरंभी हिंसा - अपने जीवन के लिये अनिवार्य कार्यों में, भोजन

बनाने, नहाने-धोने, वस्तुओं को उठाने रखने, उठने-बैठने, सोने तथा चलने-फिरने में अपरिहार्य रूप से जो जीव का घात होता है उसे आरंभी हिंसा कहते हैं।

३. **उद्योगी हिंसा** - आजीविका उपार्जन के लिये नौकरी में, खेती में और उद्योग व्यापार में अपरिहार्य से जो जीव हिंसा होती है उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं।

४. **विरोधी हिंसा** - अपने कुटुम्ब परिवार की रक्षा करते हुए, अपने शील, सम्मान की रक्षा करते हुए अथवा धर्म तथा देश के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए किसी आततायी या आक्रमणकारी का सामना करते समय जो हिंसा करनी पड़े वह विरोधी हिंसा है। श्रावक सिर्फ संकल्पी हिंसा का ही त्यागी होता है ॥ ५ ॥

---

१३९. संरम्भसमारम्भारम्भैर्योगत्रिक कृतकारितानुमतैः सहकषायैस्तैस्त्रसा संपद्यते हिंसा। त्रित्रित्रि चतुः संख्यैः संरम्भाद्यैः परस्पर गुणितैः। अष्टोत्तरशतभेदा हिंसा सम्पद्यते नित्यं ॥ २. आद्यं संरंभ समारंभ आरंभ योग कृत कारितानुमत-कषाय विशेषस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥

अर्थ *- संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, कृत-कारित, अनुमोदना, मन-वचन-काय और क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय इनका परस्पर गुणा करने पर ३ x ३ x ३ x ४ = १०८ भेद होते हैं। त्रस काय जीवों के घात में ये सभी कारण पड़ते हैं। कार्य मे कारण का उपचार करने से हिंसा के भी १०८ प्रकार भेद हो जाते हैं। इसीलिए २. कहा है-**आद्यंसंरम्भसमारंभारम्भ योग कृतकायकारितानुमत कषाय विशेषस्त्रिस्त्रि-स्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥***

संरम्भ *- किसी भी कार्य की योजना सोचना,* ***समारम्भ*** *- उसके सम्पादन का साधन जुटाना है।* ***आरम्भ*** *- कार्य करना शुरु कर देना। उसे मन, वचन और काय से करना।* ***कृत*** *- स्वयं करना।* ***कारित*** *- अन्य से करवाना।* ***अनुमनन*** *- कार्य करने मे अनुमति देना, समर्थन करना। क्रोध, मान, माया व लोभ वश करना कराना। इन सभी का निमित्त प्रत्येक कार्य में संभवित होता है। हिंसाकर्म में भी ये कारण होते ही हैं अतः हिंसा भी १०८ प्रकार की होती है ॥ ५ ॥*

◆ **अहिंसा का फल–**

हिंसा जड़ सब पाप की, क्रम-क्रम ताहि नशाय।

इस विधि अहिंसाणुव्रती स्वात्मशुद्ध बनाय ॥ ६ ॥

अर्थ – हिंसा सब पापों की जड़ हैं, इसका क्रम-क्रम से त्याग करने पर अहिंसाणुव्रती को स्वात्मोत्थ सुख की प्राप्ति होती है।

अमृतचन्द्राचार्य ने अपने "**पुरूषार्थसिद्धयुपाय**" ग्रन्थ में अहिंसा का फल बतलाया है –

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसातु परिणामे।

इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥ ५७ ॥

अर्थ – किसी को तो अहिंसा उदयकाल में हिंसा के फल को देती है और किसी को हिंसा अहिंसा के फल को देती है अन्य फल को नहीं। जैसे - किसी जीव ने किसी जीव के घात करने अथवा उसे हानि पहुँचाने का विचार किया और उसी प्रकार का उद्योग करना आरंभ किया परन्तु दूसरा जीव अपने पुण्योदय से बच गया अथवा बुरे की जगह उसका भला हो गया तो ऐसी अवस्था में हिंसा नहीं होने पर भी घात करने की चेष्टा (भावना) करने वालों को हिंसा का ही फल मिलेगा। तथा किसी पुरुष ने एक चिड़िया के बच्चे को सड़क के किनारे पड़ा हुआ देखकर सुरक्षित रहने के अभिप्राय से एक घोंसले में रख दिया परन्तु वहाँ से उसे एक पक्षी पकड़कर ले गया और उसे मार डाला अथवा किसी रोगी को वैद्य ने अच्छा करने के लिए औषधि दी, परन्तु उस औषधि से वह मर गया तो वैसी अवस्था में उस वैद्य को एवं घोंसलें में बच्चे को रखने वाले पुरुष को हिंसा होने पर भी अहिंसा का फल मिलेगा। कारण उनके परिणामों में हिंसा का किंचिन्मात्र भी भाव नहीं है प्रत्युत उनके भाव जीव के बचाने के हैं, वैसे परिणामों के रहने पर यदि उनसे किसी निमित्तवश बाह्य हिंसा

हो गई तो वे उस हिंसा के फल के भागीदार नहीं हो सकते किन्तु भावों के अनुसार अहिंसा के फल के भागीदार ही होते हैं।

ब्रह्मपुराण में लिखा है -

कर्मणा-मनसा-वाचा ये न हिंसन्ति किञ्चन।
तुल्यद्वेष्य-प्रियादान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः॥
सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्था सर्वजन्तुषु।
त्यक्तहिंस-समाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ब्रह्म पुराण २२४/८-९

भावार्थ - पार्वती देवी द्वारा यह पूछने पर कि मुक्ति के पात्र कौन होते हैं? शिव ने उत्तर में कहा - "मन-वचन-काय से जो पूरी तरह अहिंसक रहते हैं और जो शत्रु और मित्र दोनों में समान दृष्टि रखते हैं वे कर्म-बन्धन से छूट जाते हैं। सभी जीवों पर दया करने वाले सभी जीवों में आत्मा का दर्शन करने वाले और मन से किसी जीव की हिंसा न करने वाले स्वर्गों के सुख भोगते हैं।

अहिंसा से व्यक्ति का जीवन निष्पाप बनता है, और प्राणी-मात्र को अभय का आश्वासन मिलता है। इस व्यवस्था से प्रकृति के संतुलन को बनाये रखने में भी सहायता मिलती है। पर्यावरण को संरक्षण मिलता है। जीवों के लिए अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं है क्योंकि इसके द्वारा प्राणियों की रक्षा होती है और किसी को भी कोई कष्ट, पीड़ा नहीं होती। तथा अहिंसा से भी परंपरा से अविनश्वर, शाश्वत, अचल स्वात्मोत्थ सुख की प्राप्ति होती है॥ ६॥

---

६. मनसा, वचसा वपुषा हिंसां विदधातियो जनो मूढः। जनमथ-नेऽसौंदर्य दीर्घं चचूर्यते दुःखी।

***अर्थ** - जो व्यक्ति मन, वचन अथवा काय से त्रसादि जीवों का घात करता है वह महामूर्ख, अज्ञानी, पापी है। क्योंकि प्राणियों का मथन मारने रूप पाप से वह कुरूप, दीन-दुःखी होकर बार-बार नरकादि के असह्य दुःख सहन करता है। बहुत काल पर्यन्त संसार परिभ्रमण कर नाना कष्ट सहता है।*

◆ सत्य का लक्षण।

झूठ न बोले निज कभी, पर से भी न बुलवाय।
पर दुःखकर सच ही न कहि, सत्य अणुव्रत पाय ॥ ७ ॥

अर्थ – जिन अप्रशस्त वचनों के कहने पर राजा या समाज या शासन आदि से दण्ड आदि प्राप्त होते हों उन्हें त्याग देने को सत्याणुव्रत कहते हैं। सत्याणुव्रत का धारी परनिन्दा, चुगली से बचता है, अप्रिय, कठोर एवं निंद्य वचन न बोलता है, न दूसरों से बुलवाता है, साथ ही ऐसा सत्य भी नहीं बोलता या बुलवाता जिससे दूसरे प्राणियों का घात होता हो ऐसा सम्भाषण जो अपनी आत्मा के लिए आपत्ति का कारण हो तथा अन्य प्राणियों को भी संकटों से आक्रान्त करता है, वह सर्वथा त्यागने योग्य है।

गृहस्थ जीवन में असत्य का सम्पूर्ण त्याग नहीं किया जा सकता है अतः स्थूल झूठ का त्याग ही सत्याणुव्रत का अभिप्राय है। आत्मा के लिए जो कल्याणकारी हित-मित-प्रिय वचन हैं वही सत्य वचन कहलाते हैं।

सत्य अणुव्रत में जिस झूठ का त्याग कराया गया है, अथवा जिस सत्य के प्रयोग की अनुशंसा की गई है, वह लोक हित और अहिंसा का साधक है। इसलिए इस व्रत की परिभाषा में हितकर होना सत्य की पहली शर्त है। उसका मित होना, संक्षिप्त होना इसलिए आवश्यक है कि इससे वह तत्काल ग्राह्य होता है। वह वचन प्रिय भी हो ऐसा इसलिए जरूरी है कि इसके बिना उसे दूसरों तक पहुंचाना सम्भव नहीं है। अतः यह अनिवार्य है कि सत्य को हित-मित और प्रिय होना चाहिये। वचन को अभिप्राय से तौलकर ही उसे सच या झूठ के वर्गश्रेणी में रखा जा सकता है।

एक संत किसी वृक्ष के नीचे ध्यान कर रहे थे। तभी एक हिरण चौकड़ी भरता हुआ उनके सामने से निकल गया। यह देखकर मुनिराज खड़े होकर

ध्यान करने लगे। इतने में एक शिकारी दौड़ता हुआ आया और मुनिराज से पूछा क्या आपने हिरण को देखा ? वह किस दिशा की ओर गया है ?''

मुनिराज ने उत्तर दिया - जब से मैं खड़ा हूँ तब से यहाँ से कोई हिरण नहीं गया। यद्यपि मुनिराज विराजे थे परन्तु यहाँ पर असत्य वचन रक्षार्थ खड़े हो गये क्योंकि यहाँ एक प्राणी के जीवन-मरण का प्रश्न था। यदि वास्तविकता बता देते हैं तो हिरण के मारे जाने की संभावना है। यदि वे शिकारी को बताते हैं तो वह उस दिशा में भागेगा और मृग के प्राण हर लेगा। समय का सत्य और हित प्रेरित सत्य यही था कि यहाँ यथार्थ को उजागर न किया जाय। सत्याणुव्रत का यही प्रयोजन है।

सत्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं - १. परिवाद, २. रहोभ्याख्यान, ३. पैशून्य, ४. कूटलेखक्रिया और ५. न्यासापहार। इनका सविस्तार विवेचन रत्नकरण्ड श्रावकाचार में बतलाया है वहाँ से जान लेना चाहिये।

सत्याणुव्रत का फल आचार्य उमास्वामी ने अपने श्रावकाचार में इस प्रकार बताया है -

धनदेवेन सम्प्राप्तं जिनदेवेन चापरम्।
फलं त्यागापरभवं परमं सत्यसंभवम् ॥ ३५५ ॥ उ. श्रा.

अर्थ - धनदेव ने सत्य वचन कह कर उत्तम फल सद्गति प्राप्त की थी और जिनदेव ने झूठ बोलकर दुर्गति का फल प्राप्त किया था। ''कथाकोष'' ग्रन्थ से इनकी कथा पढ़कर अपने जीवन में सत्याणुव्रत का पालन आचरण करना चाहिये ॥ ७ ॥

---

७. १. स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावाद वैरमणं ॥ (र. क. श्रा.)

२. सभ्यैः पृष्टोऽपि न ब्रूयाद्वचादेह्यलीकम् वचः।
भयाद् द्वेषाद् गुरुस्नेहात्स्थूलं सत्यमिदं व्रतम् ॥...

◆ असत्य का लक्षण

जो कुछ कहा कषाय वश, स्व-पर अहित कर वैन।
वह सब मिथ्या-वचन सम, चार भेद दुःख दैन॥ ८॥

अर्थ - जो मनुष्य कषाय के वशीभूत होकर, स्व-पर का अर्थात् अपने

...३. सत्यमपि विमोक्तव्यं परपीडाऽऽरम्भतापदुःख जनकं।
पापं विमोक्तुकामैः सुजनरिव पापिनां वृत्तम्॥

अर्थ - आचार्य परमेष्ठी देशव्रत धारी श्रावक के सत्याणुव्रत का स्वरूप निरूपण करते हुए कहते हैं कि जो पाप भीरू श्रावक स्थूल अर्थात् राजा दण्ड दे प्रजा अपवाद करे ऐसा असत्य भाषण नहीं करता और विपत्ति आने पर भी अन्य से भी इस प्रकार असत्य भाषण नहीं करवाता उसके इस व्रत को सत्पुरूष-महापुरूष-आचार्यादि सत्याणुव्रत कहते हैं। इसका विशेष अभिप्राय यह है कि धर्म संकट, धर्मात्माओं पर विपत्ति आने पर, जीवरक्षण के अभिप्राय से यदि असत्य भाषण करना भी पड़े तो उसका व्रत भंग नहीं होता, वह भी सत्य में ही गर्भित है।

२. सभ्य यानी सत्पुरूष धर्मनिष्ठ हैं, वचन का महत्व समझते हैं वे दृढ़ प्रतिज्ञ सज्जन पूछने पर भी भय से, द्वेष से, यहाँ तक कि गुरु के स्नेह से भी अपने मुख से असत्य भाषण नहीं करते वे स्थूल सत्यव्रतधारी हैं। अभिप्राय यह है कि अपने स्वार्थ के लिए जो सामान्य रूप असत्य वचन प्रयोग नहीं करता है वह स्थूल असत्य त्यागी सत्याणुव्रती है। अपने स्वार्थ को पर को कष्टकारी वचन नहीं बोलना सत्याणुव्रत है।

३. पापभीरू पुरुष ऐसा सत्य भी भाषण नहीं करता जिससे पर जीवों को पीड़ा हो, उनका वध हो, जो सत्य अधिक आरम्भ कारक, ताप उपजाने वाला, दुःखदायक हो क्योंकि इस प्रकार का सत्य असत्य सम ही आगम में माना गया है। सज्जन समान होने पर भी पापकारी व्रताचरण का परिहार करता है। अर्थात् जो वचन सत्रूप दृष्टिगत होता है परन्तु परिणाम कटु आता हो उस सत्य वचन को भी नहीं बोलना चाहिए क्योंकि वह पर पीड़ा कारक धर्मध्वसंक है॥ ७॥

व दूसरों के लिए अहितकर वचन बोलता है वे सभी वचन असत्य वचन हैं। उसके चार भेद हैं। ये मिथ्यावचन संसारी जीवों के लिए दुर्गति का कारण एवं अत्यन्त दुःखदायक हैं।

भावार्थ - जो वचन प्रमादपूर्वक एवं सकषायभावों से कुछ का कुछ कहा जाता है वही झूठ के नाम से प्रसिद्ध है। जहाँ पर परिणामों में किसी प्रकार का सकषाय भाव अथवा अन्य विकार भाव नहीं है वहाँ यदि कोई बात अन्यथा भी कही जाय तो झूठ नहीं समझा जाता। परन्तु जहाँ सदभिप्राय नहीं है वहाँ यदि अन्यथा बोला जाता है तो वह असत्य ही है। सिद्धान्तकारों ने असत्य का लक्षण बताते हुए कहा है कि जो दूसरे जीवों को पीड़ा देने वाला हो वह सब झूठ। इस लक्षण से जो बात सत्य भी हो और उससे दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचता हो एवं कष्ट पहुंचाने का लक्ष्य रखकर ही प्रयोग करने वाले ने उसका प्रयोग किया हो तो वह सत्य बात भी असत्य में शामिल है। जैसे अंधे को अंधा कहना। इसी प्रकार से जो बात झूठ भी है, परन्तु बिना किसी छल के दूसरों के हित का ध्यान रखकर सदभिप्राय से कही गई है तो वह भी सत्य में शामिल है। इसी बात को असत्य वचन के चार भेदों से समझाया गया है ॥ ८ ॥

---

८. भाषते नासत्यं चतुः प्रकारकमपि संसृति विभीतः। विश्वास धर्म दहनं विषाद जनन बुधावमतं। २. यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि, तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः॥ (पु. सि. श्लोक ९१)

अर्थ - जो कुछ भी हो, परन्तु जो संसार भीरू सत्पुरुष हैं अर्थात् जिन्हें संसार सागर परिभ्रमण के महाकष्टों का भय है वे चारों प्रकार के असत्यों को नहीं बोलते हैं। क्योंकि ये वचन विश्वास का घात करने वाले और धर्मोपवन को भस्मकर, पीड़ा-विषाद उत्पन्न करते हैं ऐसा आचार्यों का अभिमत है। २. यदि किसी भी प्रकार कुछ भी प्रमाद वश इस प्रकार का असत्य कहा गया हो तो सत्य होने पर भी वह सत्य नहीं, असत्य ही है। इस प्रकार के असत्य के चार भेद हैं॥ ८॥

◆ **वर्तमान असत्य–**

विद्यमान भी वस्तु को, जो निषेध करि देय।
जिमि होते भी नहीं कहे, प्रथम असत्य गिनेय॥ ९॥

अर्थ – जो वस्तु अपने स्वरूप से उपस्थित भी है फिर किसी के पूछने पर निषेध कर देना कि वह नहीं है यह प्रथम प्रकार का असत्य है। जैसे – देवदत्त घर में मौजूद है परन्तु किसी ने बाहर से पूछा कि देवदत्त है ? उत्तर में कोई जवाब दे देवे कि वह यहाँ पर नहीं है तो यह असत्य वचन है। इसमें उपस्थित वस्तु का अपलाप किया गया है॥ ९॥

◆ **अवर्तमान असत्य–**

अविद्यमान भी वस्तु को, विद्यमान कह देय।
जिमि नहि होते है कहे, द्वितीय असत्य गिनेय॥ १०॥

अर्थ – जो वस्तु अविद्यमान है अर्थात् नहीं है उसे बतलाना कि यहाँ पर है यह दूसरा असत्य का प्रभेद है। जैसे – जिस जगह पुस्तक नहीं रखी है। किसी के यह पूछने पर कि इस जगह पुस्तक है या नहीं ? यह उत्तर देना कि इस जगह पुस्तक रखी है यह दूसरे प्रकार का असत्य है॥ १०॥

---

९. स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन् निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र॥ ९२॥ पु. सि.

अर्थ – अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अर्थात् स्व चतुष्टय से विद्यमान वस्तु का निषेध कहना यह वचन प्रथम प्रकार का असत्य है। यथा किसी के पूछने पर कि देवदत्त है क्या ? उत्तर देना नहीं है। यद्यपि उत्तर देने वाले के पास उस समय देवदत्त नामक व्यक्ति उपस्थित नहीं है यह तो सत्य है तथाऽपि अपने स्वचतुष्टय से कहीं न कहीं मौजूद है, फिर भी निषेध किया गया है। अतः यह भी असत्य की कोटि में कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि निश्चित वस्तु की विद्यमानता में भी उसका निषेध करना यह प्रथम प्रकार का असत्य है॥ ९॥

◆ विपरीत असत्य–

वस्तु तो और ही रहे, और वस्तु कहि देय।
गाय थान घोड़ा कहे, तृतीय असत्य गिनेय॥ ११ ॥

अर्थ – प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप से ही अपनी सत्ता रखती है, पर स्वरूप से वह अपनी सत्ता नहीं रखती, फिर भी किसी वस्तु को पर स्वरूप से कहना यह विपरीत नामक तीसरा असत्य है। जैसे – घर में गौ बैठी है, किसी के पूछने पर उत्तर में कहना कि हमारे घर में घोड़ा बैठा है। इस वचन में वस्तु का सद्भाव तो स्वीकार किया गया है परन्तु अन्य का अन्य रूप कहा गया है॥ ११ ॥

◆ चतुर्थ असत्य के भेद–

प्रथम भेद निन्दित कहा, सावद्य द्वितीय पिछान।
अप्रिय तीजो भेद लखि, शेष असत्य सुजान॥ १२ ॥

---

१०. असदपि हि वस्तुरूपं, यत्र परक्षेत्र-कालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं, तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः॥ ९३ ॥ पु. सि.

अर्थ – जिस वचन में अविद्यमान भी वस्तु स्वरूप, उन भिन्न क्षेत्र, काल भिन्न भावों द्वारा कहा जाता है वह दूसरे प्रकार का असत्य समझना चाहिए। जिस प्रकार यहाँ घट है। यहाँ ज्ञातव्य है कि पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में घट नहीं है तथाऽपि घट रूप में कहना यह द्वितीय प्रकार का असत्य है॥ १० ॥

११. वस्तु सदपि स्वरूपा पररूपेणाऽभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथा अश्व॥ ९४ ॥ तत्रैव.

अर्थ – जिस वचन में अपने स्वरूप से वस्तु का सद्भाव है तो भी पर स्वरूप से कहा जाता है तो वह वचन असत्य है यह तीसरे प्रकार का असत्य भाषण कहा गया है। यथा गौ (गाय) को अश्व (घोड़ा) कहना। इस असत्य में अन्य का अस्तित्व अन्य में आरोपित किया गया है अतः यह असत्य भाषण हुआ॥ ११ ॥

अर्थ - जो वचन स्वरूप निन्दनीय दोष सहित, सावद्य और अप्रिय कठोर होता है इस प्रकार यह चौथा असत्य सामान्य रीति से तीन प्रकार का जानना चाहिये ॥ १२ ॥

- **निन्दित असत्य–**

निन्दित चुगली वेतुके, गपशप वचन कठोर।
धर्मनीति से विरुद्ध भी निन्दित मांहि जोर॥ १३ ॥

अर्थ - चुगलखोरी, दूसरों की झूठी-सांची बुराई करना, हंसी सहित वचन बोलना, क्रोध पूर्ण दूसरे के तिरस्कार करने वाले वचन बोलना, जिन वचनों का कोई अर्थ नहीं है ऐसे निरर्थक एवं निःस्सार वचनों को बोलना और भी जो वचन भगवत् आज्ञा से विरुद्ध, जिनागम-कथित सूत्रों से आज्ञायों से विरुद्ध है वे सब वचन निन्दित असत्य वचन कहलाते हैं॥ १३ ॥

- **सावद्य असत्य–**

छेदो-भेदो-मारदो, खींचो बहु दुःख देउ।

---

१२. गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा, मतमिदमनृतं तुरीयं तु॥ ९५॥ (पु. सि.)

अर्थ - जो वचन गर्हित-निंद्यनीय, अवद्य-पाप संयुक्त, दोष सहित, अप्रिय अर्थात् पीड़ाकारक कटु कठोर हैं उनका प्रयोग करना, बोलना यह चतुर्थ प्रकार का असत्य है। यह गर्हित, अवद्य और अप्रिय वचनों की अपेक्षा तीन प्रकार का कहा है॥ १२॥

१३. पैशून्य-हास-गर्भं कर्कशमसमंजसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं, तत्सर्वं गर्हितं गदितम्॥ ९६॥ (पु. सि.)

अर्थ - चुगली-चपारी करना, निष्प्रयोजन किसी को परेशान करने वाले हंसी-मजाक करना तथा कठोर-चुभने वाले वचन, सन्देहोत्पादक वचन, यद्वा-तद्वा मनमाना बोलना तथा और भी इसी प्रकार के अयोग्य, आगमविरुद्ध, आर्षपरम्परा के विपरीत वचन बोलना सभी गर्हित वचन हैं॥ १३॥

इस विधि अधेक वचन सब, सावद्य मांहि गिनेउ ॥ १४ ॥

अर्थ - इसके कान-नाक-पूंछ-जीभ आदि छेद डालो, इसकी गर्दन, जिह्वा, हाथ, पाँव काट डालो, इसको जान से मार दो, इसको पकड़ कर खींचो, इस प्रकार चोरी करो, बलात्कार करो, इसका धन लूट लो, इसका अपहरण करो इस प्रकार जो वचन हैं इनसे प्राणियों के वध-हिंसा के कार्य होते हैं। अतः ऐसे सावद्य असत्य वचन का श्रावक को नहीं बोलना चाहिये ॥ १४ ॥

• अप्रिय वचन (असत्य)

अरूचि भीतिकर खेदकर, वैर-शौक कहलाय।
इसविधि अन्य भी दुःखद वच, सब अप्रिय कहलाय ॥ १५ ॥

अर्थ - हृदय में आकुलता उत्पन्न करने वाला, भय उत्पन्न करने वाला, चित्त में खेद पैदा करने वाला, आपस में कलह-शत्रुता उत्पन्न करने वाला, शोक पैदा करने वाला और भी जो दूसरे जीवों को संताप-कष्ट पहुंचाने वाले वह समस्त अप्रिय कटुक असत्य वचन जानना चाहिये ॥ १५ ॥

---

१४. छेदन-भेदन मारण कर्षण वाणिज्य चौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्त्तन्ते ॥ ९७ ॥

अर्थ - छेदना-छेदकरो-नाक-कानादि, भेदना - काटो-मारो, मारण-प्राणनाश करने वाले वचन, खेती, जोतना, व्यापार करना, चोरी करना आदि सम्बन्धी वचन सावद्य वचन हैं। क्योंकि ये प्राणी बधादि करने वाले हैं। इस प्रकार के वचन त्यागना चाहिए ॥ १४ ॥

१५. अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोक-कलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥ ९८ ॥

अर्थ - पर के चित्त में व्याकुलता जनक, धैर्य का नाश करने वाले, भयोत्पादक, शोक उत्पन्न करने वाले, विरोध वैरभावोत्पादक, कलह-झगड़ा-विसंवाद करने वाले तथा अन्य भी इसी प्रकार के वचनों को अप्रिय वचन समझ कर त्याग करना चाहिए ॥ १५ ॥

• **असत्य से हिंसा–**

इन भेदनि में मिल रहा, वह कषाय दुःख दान।
इससे मिथ्या भेद सब, हिंसा हेतु पिछान ॥ १६ ॥

अर्थ – निन्दित, सावद्य एवं अप्रिय वचन कषाय भावों के वशीभूत होकर ही बोला जाता है इसलिये वे सभी वचन हिंसा में गर्भित हैं। हिंसा के लक्षण से जितने भी कार्य कषाय एवं प्रमादयोग से दूसरे के तथा अपने प्राणों का घात करने वाले, पीड़ा पहुँचाने वाले सिद्ध होते हैं वे सब हिंसा के कारण हेतु है ऐसा समझना चाहिये। अभिप्राय यह है कि असत्य भी हिंसा की ही पर्याय है।

आचार्य उमास्वामी श्रावकाचार में असत्य वचन बोलने वाले को क्या फल मिलता है उसका निरूपण किया है –

कुरूपत्व लघीयत्व-निंद्यत्वादि फलं द्रुतम्।
विज्ञाय वितंथ तथ्यवादी तत्क्षणतस्त्यजेत् ॥ ३४६ ॥ उ. श्रा.

अर्थ – यह जीव मिथ्याभाषण करने के फल से कुरूप होता है, अत्यन्त गरीब होता है और निंद्य होता है। मिथ्या भाषण का ऐसा फल समझकर सत्य वचन बोलने वालों को इस मिथ्या भाषण का उसी क्षण में त्याग कर देना चाहिये ॥ १६ ॥

---

१६. सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्त योगैक हेतु कथनं यत्।
अनृत वचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥ ९९ ॥ पु. सि.

***अर्थ** – उपर्युक्त समस्त असत्य वचन प्रयोग में प्रमाद योग गर्भित है अर्थात् प्रमादवशी ही मनुष्य इस प्रकार भाषण करता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह असत्यभाषण तो है ही, हिंसा पाप के भी कारण हैं। उभय पाप के भय से इन वचनों का त्याग करना श्रेयस्कर है ॥ १६ ॥*

◆ **अचौर्य का लक्षण–**

धरा-गिरा-भूला हुआ रक्खा पर धन जोय।
चौर न आप न अन्य देय, अचौर्य अणुव्रत सोय॥ १७॥

अर्थ – किसी की रखी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई वस्तु को बिना दिए ग्रहण न करना और न उठाकर दूसरों को देना अथवा जो क्रिया चोरी के नाम से प्रसिद्ध है जिसके लिए राजकीय व सामाजिक दण्ड व्यवस्था है ऐसा स्थूल चोरी का त्याग करना अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

अचौर्याणुव्रत का धारी व्यक्ति कभी किसी को कम तोल-माप नहीं देता, न किसी से ज्यादा लेता है। व्यापारादि में कभी अच्छी या असली वस्तु में खोटी या नकली पदार्थ भी नहीं मिलाता। चोरी का माल न खरीदता है, न बेचता है, न चोरी करने के उपाय बताता है। अचौर्याणुव्रतधारी आयकर, विक्रय कर तथा अन्य राजकीय करों की भी चोरी नहीं करता। किसी की धरोहर नहीं हड़पता। बंटवारे के समय अपने भाईयों की धन-जमीन सम्पत्ति आदि को भी नहीं हड़पता॥ १७॥

---

१७. १. निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृश चौर्य्यादुपारमणं। र. श्रा. चा.।

२. अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्त योगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥ १०२॥ पु. सि.

अर्थ – यहाँ पर आचार्य देव अचौर्याणुव्रत का स्वरूप निरूपण कर रहे हैं। किसी रक्खे, गिरे, भूले हुए धनादि पदार्थों को उसकी आज्ञा बिना स्वयं ग्रहण नहीं करना और न उठाकर अन्य किसी को देना अचौर्याणुव्रत कहलाता है। कारण पर वस्तु मालिक की आज्ञा बिना लेना चोरी है। पाप भीरू इस प्रकार की वस्तु को ग्रहण नहीं करता।

२. जो प्रमाद योग से बिना दिये हुए परिग्रह-वस्तुओं को ग्रहण करता है, उसे चोर कहते हैं। बिना दिये धनादि पदार्थों को प्रमाद वश स्वीकार करना, लेना चोरी

◆ चौर्य मे हिंसा–

लालच आदि कषाय वश, खल पर धन हर लेत।
प्राण तुल्य धन हरण से, चोरी हिंसा हेत ॥ १८ ॥

अर्थ – बिना दिये हुये किसी के धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह को लालच आदि कषाय भावों से अर्थात् प्रमाद पूर्वक दूसरे का द्रव्य हरण करने के भावों से भी कर लेना चोरी कहलाती है। वह चोरी भी हिंसा ही है।

भावार्थ - जिस प्रकार हिंसा में प्राणियों के प्राणों का अपहरण किया जाता है उसी प्रकार चोरी में भी धन प्राणों का अपहरण किया जाता है। जैसे - जो पुरुष जिस पुरुष का रुपया पैसा गोधन सुवर्ण बर्तन आदि द्रव्य चुराता है वह उसके अंतरंग प्राणों का भी घात करता है, क्योंकि धनादि सम्पत्ति को बाह्यप्राण माने गये हैं और इसके चले जाने से मोहवश उसके आत्मा में तीव्रतम कष्ट होता है। दूसरों को पीड़ा पहुँचाना, मन दुःखाना ये सभी हिंसा में गर्भित होता है।

आचार्य उमास्वामी श्रावकाचार में चोरी करने से क्या फल मिलता है उसका निरूपण सविस्तार पूर्वक किया है -

दास्य प्रेक्षत्त्व दारिद्यदौर्भाग्यादिफलं सुधीः।
ज्ञात्वाचौर्यविचारज्ञो विमुंचेन्मुक्ति लालसः ॥ ३५७ ॥ उ. श्रा.

अर्थ - दास होना, नृत्यकार होना, दरिद्री होना, भाग्यहीन होना आदि निंद्य फल चोरी करने से ही मिलता है अतः मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु को सदा के लिए चोरी का त्याग कर देना चाहिये ॥ १८ ॥

है। चूँकि इसमें प्रमाद का पुट रहता है इसलिए हिंसा का कारण होने से हिंसा भी है। जिसकी वस्तु ग्रहण की है उसे कष्ट, शोक, व्याकुलता अवश्य होती है। हिंसा और चोरी उभय पाप का कारण समझकर यह त्याग करने ही योग्य है॥ १७॥

१८. अर्था नाम य एते प्राणा बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥ १०३ ॥ पु. सि....

◆ ब्रह्मचर्य का लक्षण

पाप भीत परदार ढिंग, जाय न कहेअ न कोय।
परत्रिय तजि संतोष निज, तुर्य अणुव्रत जोय ।। १९ ।।

अर्थ - धर्मानुकूल विवाहिता स्त्री स्वस्त्री कहलाती है, शेष सभी स्त्रियां परस्त्रियां होती हैं। स्वस्त्री में संतोष तथा परस्त्रियों में माता, बहिन, पुत्रीवत् भावना रखने को ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते हैं। अन्य शब्दों में इसे स्थूल ब्रह्मचर्य, परस्त्री त्याग अथवा स्वदार संतोषव्रत भी कहते हैं। अथवा जो पुरुष पाप के भय से परस्त्री के पास न स्वयं जाता है, न दूसरों को जाने को कहता है और जो परस्त्री सेवन करने वाले है न उनकी अनुमोदना करते है अर्थात् जो पुरुष नवकोटि से परस्त्री का त्याग करता है एवं अपनी विवाहित स्त्री में संतोष रखता है वह ब्रह्मचर्याणुव्रत नामक चौथा अणुव्रत है।

आचार्य उमास्वामी श्रावकाचार में ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण इस प्रकार बतलाया है -

यन्मैथुनं स्मरोद्रेकात्तदब्रह्माति दुःखदम् ।
तदभावाद्व्रतं सम्यग्ब्रह्मचर्याख्यमीरितम् ।। ३६६ ।। उ. श्रा.

अर्थ - चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से वा कामवासना के उद्रेक से स्त्री पुरुषों के विशेष रमण करने की इच्छा को मैथुन कहते हैं इसी को अब्रह्म कहते हैं। यह अब्रह्म अति दुःख देने वाला है ऐसा जानकर इसका त्याग करना ब्रह्मचर्यव्रत हैं।

---

*...**अर्थ** - संसार में जितने भी धन-धान्य, रूपा-सुवर्णादि पदार्थ हैं, ये पुरुषो के बाह्य प्राण हैं। प्राण प्राणी का जीवन है प्राणों के रहने से जीवन है, इनका अभाव ही मरण है। इससे सिद्ध है कि जो किसी के धनादि का हरण करता है वह उस धनवान के प्राणों का ही हरण करता है। यह चोरी तो है ही हिंसा भी है, बुद्धिमान दूर से ही इसका परिहार करें ।। १८ ।।*

ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण स्वरूप विविध आचार्यों ने अनेक प्रकार से बतलाया है जो निम्न प्रकार हैं -

१. दम्पत्ति एक दूसरे में संतुष्ट और प्रसन्न रहें, दांपत्य की मर्यादा के बाहर आकर्षका अनुभव न करें, गृहस्थों के लिए यही ब्रह्मचर्य अणुव्रत हैं।

२. दूसरे गृहस्थ के द्वारा स्वीकार की हुई अथवा बिना स्वीकार की हुई परस्त्री का त्याग करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

३. अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका, दशलक्षण आदि महापर्वों में स्वस्त्री सेवन का भी त्याग करना तथा सदैव अनंग-क्रीड़ा का त्याग करने वाले जीवों को जिनप्रवचन में स्थूल ब्रह्मचारी कहा गया है।

४. जो गृहस्थ स्त्री के शरीर को अशुचिमय, दुर्गन्धित जानकर तथा उसके रूप लावण्य को मोहित करने वाला मानकर स्वस्त्री को छोड़कर शेष सम्पूर्ण स्त्रियों का अथवा स्व-पर सभी स्त्रियों का त्याग करता है, उसके ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

५. अवैध, अनुचित और अप्राकृतिक कामसेवन का परित्याग करके स्वास्थ्य रक्षा और धार्मिक नियमों का पालन करते हुए अपनी स्त्री में संतुष्ट रहना स्वदार संतोषव्रत है।

६. जिसें वेश्या, परस्त्री, कुमारी तथा लेपादि निर्मित स्त्री स्वीकार नहीं की जाती है, केवल स्वकीय स्त्रीसेवन में सन्तोष होता है, उसे आगम में चतुर्थ ब्रह्मचर्य अणुव्रत कहते हैं।

७. जो मल के बीजभूत, मल को ही उत्पन्न करने वाले , मल प्रवाही, दुर्गन्धित लज्जाजनक व ग्लानियुक्त अंग का विचार करता हुआ कामसेवन से स्वस्त्री से भी विरत होता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक है।

इस व्रत का पालन न करने से रावण जैसा पराक्रमी राजा भी नरक गामी

हुआ। शील संसार की सर्वोत्कृष्ट निधि है। यदि शील नष्ट हो गया तो समझ लो कि सर्वस्व ही नष्ट हो गया। इसीलिए कहा है –

If Wealth is lost, nothing is lost, if health is lost, something is lost, but if character is lost everything is lost.

प्रत्येक श्रावक को शीलव्रत की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करना चाहिए इसके बिना "सज्जातित्व" नामक परमस्थान की रक्षा नहीं हो सकती॥ १९॥

◆ स्त्री शिक्षा

पुत्री अरु त्रिय को गृही, सिखवे धार्मिक कर्म।
धर्म अशिक्षित वह त्रिया, नाशे पतिव्रत धर्म॥ २०॥

अर्थ – जो गृहस्थ पुत्रियों और स्त्रियों को लौकिक शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षण नहीं देते हैं वह अशिक्षित स्त्रियाँ पतिव्रता धर्म को नष्ट कर देती है।

भावार्थ – माता-पिता को चाहिये कि अपनी संतान को सबसे पहले धार्मिक संस्कार से सुसंस्कृत करें। क्योंकि वर्तमान में बड़ी विकट परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई है। धार्मिक शिक्षण के अभाव के कारण आज लड़कियाँ लव मैरेज, कोर्ट मैरेज, किसी के साथ भाग जाना, आत्म हत्या जैसे घिनौने कार्य कर रही है। इसी के कारण (अर्थात् धार्मिक धर्म शिक्षण के अभाव) से आज

---

१९. न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पाप भीतेर्यत्।
सा परदार निवृत्तिः स्वदार सन्तोष नामापि॥ र. श्रा.॥

अर्थ – जो पुरुष व्यभिचार दोष के भय से अपनी विवाहित धर्मपत्नी के अतिरिक्त अन्य परदाराओं को सेवन करता है और न अन्य को उनके सेवन की प्रेरणा देता है वह ब्रह्मचर्याणुव्रत धारी, स्वदार सन्तोष व्रत पालक कहलाता है॥ १९॥

समाज में विधवा विवाह, विजातीय विवाह, अर्न्तजातीय विवाह, पुनर्विवाह जैसी कुरीतियाँ पनप रही हैं।

जिस प्रकार नींव मजबूत हो तो उसके ऊपर कैसे भी भवन निर्माण करें, कितनी ही मंजिल बनवायें किन्तु वह टूटता-फूटता नहीं है उसी प्रकार अगर माता-पिता अपनी संतान को बचपन से ही धार्मिक संस्कार से सुसज्जित करने लगे तो वह बड़े होने पर इतने परिपक्व हो जायेंगे कि उनके ऊपर आपत्ति-विपत्तियाँ आने पर भी अपने धर्म को नहीं छोड़ेगें।

अतः प्रत्येक श्रावक को चाहिये कि अपनी बहन-बेटियों को लौकिक शिक्षण के साथ-साथ धार्मिक शिक्षण पढ़ाने की व्यवस्था करें। जिससे वर्तमान में चल रही परिस्थितियों से उन्हें गुजरना न पड़े॥ २० ॥

---

२०. व्युत्पादपरापर धर्मे पत्नि ग्राम परनयण, सा हि मुग्धा विरुद्धा वा धर्माद् भ्रंशयतेतरां।

२. पत्युः स्त्रीणामुपेक्षैव वैरभावस्य कारणं। लोकद्वय हितं वाञ्च्छस्तद-पेक्षेत तां सदा। ३. नित्यं पतिमनाभूय स्थातव्यं कुलस्त्रिया । श्री धर्मशर्म कीर्तिनां निलयोहि पतिव्रता।

अर्थ *- पर धर्म परायणा स्त्री अन्य धर्म में परिणीत हो तो वह मुग्धा मूढ़ विरुद्धाचरण करती है अथवा धर्म से भ्रष्ट हो जाती है यह निश्चित है।*

२. पति से उपेक्षित नारी-पत्नी वैरभाव-शत्रुभाव को उत्पन्न करने की कारण बन जाती है। अतएव इह-परलोक में हित की वाञ्छा इच्छा करने वाला पति सदैव स्वपत्नि के साथ अपेक्षा भाव धारण करें। अभिप्राय यह है कि परिणीता पत्नी के साथ पति सदैव सद्व्यवहार करे अन्यथा वह कुमार्ग गामिनी होकर इसलोक में निन्दा और परलोक मे दुर्गति का कारण हो जायेगी। ३. कुलशीला स्त्रियों को सदैव अपने पति के अनुकूल रहकर गृहस्थ धर्म में रहना चाहिए। पतिव्रता नारियाँ धर्म, शान्ति, सुख और यश-प्रशंसा की घर-भाण्डार होती है। अर्थात् पतिव्रता सतत् अपने पति के अनुकूल आचरण कर सीता समान धर्म, सुख, शान्ति और कीर्तिलता समान शोभायमान होती हैं॥ २० ॥

◆ **इसका शब्दार्थ–**

ब्रह्म नाम है आत्म का चर्य रमण कहलाय।
पाप वासना त्याग कर, निज वीरज उपजाय ॥ २१ ॥

अर्थ - "ब्रह्म" और "चर्य" इन दो शब्दों से ब्रह्मचर्य शब्द की निष्पत्ति हुई है। "ब्रह्म" शब्द का अर्थ है ज्ञान स्वरूप आत्मा। उस आत्मा में "चर्य" आचरण करना, लीन होना, तल्लीन होना ब्रह्मचर्य है। इसके असिधाराव्रत, शीलव्रत आदि अनेक नाम हैं। पाप-वासनाओं का त्याग कर निज के वीर्य का रक्षण करना चाहिए।

भावार्थ - प्राचीन मनीषियों एवं दार्शनिकों ने "ब्रह्म" शब्द के अनेक अर्थ किये हैं। जैसे ईश्वर, ज्ञान का स्रोत, जिनवाणी और वीर्य आदि....। "चर्य" शब्द के भी अनेक अर्थ किये गये हैं। जैसे - उपासना, उपार्जन, रक्षण और सदुपयोगादि ....। इस प्रकार ब्रह्मचर्य शब्द के ईश्वर की उपासना, ज्ञान का उपार्जन, वीर्य का रक्षण तथा वीर्य का सदुपयोग आदि अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं। मन को वश में करना इन्द्रिय निग्रह है और इन्द्रिय तथा वासना का निग्रह करना ब्रह्मचर्य शब्द का वास्तविक अर्थ है ॥ २१ ॥

◆ **परस्त्री सेवन में हिंसा**

वेदोदय प्राबल्य से उपजत मैथुन कर्म।
हिंसा कारण द्वितीय पुनि, परत्रिय गमन अधर्म ॥ २२ ॥

अर्थ - पुरुष, स्त्री और नपुंसक ये तीन वेद हैं। इन तीन वेदों की

---

२१. ब्रह्म कहते हैं आत्मा को। ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचर्यम्।" **अर्थ** - ब्रह्म का अर्थ है आत्मा, अपने आत्म स्वरूप में या स्वभाव में लीन रहना, विचरण करना ब्रह्मचर्य कहलाता है ॥ २१ ॥

रागभावरूप उत्तेजना से मिथुन अर्थात् जोड़े का सहवास होना (मिथुन) अब्रह्म कहलाता है। अब्रह्म में हिंसा का सब स्थानों में सद्भाव है। बिना हिंसा के अब्रह्म होता ही नहीं है। यह तो हुआ पहला कारण। परस्त्री सेवन करना यह हिंसा का दूसरा कारण है। अब्रह्म में हिंसा कई प्रकार से घटित होती है।

स्त्री के योनि, नाभि, कुच, काँख आदि स्थानों में सम्मूर्छन पञ्चेन्द्रिय जीव सर्वदा उत्पन्न होते रहते हैं और मैथुन में उनके द्रव्यप्राणों का घात अवश्य होता है।

आचार्य उमास्वामी श्रावकाचार में परस्त्री सेवन करने से प्राणियों की क्या स्थिति होती है और उसका क्या फल प्राप्त होता है, वह बतलाया है-

पररामांचिते चित्ते न धर्मस्थिति रोगिनाम्।
हिमानी कलिते देशे पद्मोत्पत्तिः कुतस्तनी॥ ३६८॥ उ. श्रा.

अर्थ - जिन लोगों के हृदय में परस्त्री का निवास रहता है उन पुरुषों के हृदय में धर्म की स्थिति कभी नहीं हो सकती। भला जिस देश में बर्फ पड़ गया है उस देश में कमलों की स्थिति कैसे रह सकती है।

जिनके हृदय में रात-दिन परस्त्री नृत्य किया करती है उनके समीप उत्तम लक्ष्मी कभी नहीं आ सकती। इसीलिए किसी ने कहा है -

"परनारी पैनी छुरी, तीन ठौर से खाय।
धन छीने यौवन हरे, मरे नरक ले जाय॥"
दुर्भगत्वं दरिद्रत्वं तिर्यक्त्वं जननिंद्यताम्।
लभन्तेऽन्यनितम्बिन्यवलम्बनविलंबिताः॥ ३७९॥ उ. श्रा.

अर्थ - जो पुरुष परस्त्री सेवन के लंपटी है वे कुरुप होते हैं, दरिद्री होते हैं, तिर्यञ्च होते हैं और तीन लोक में निंदनीय माने जाते हैं।

उत्तम पुरुषों को समझना चाहिए कि कुरूपी होना, लिंग का छेदा जाना,

नपुंसक बनाया जाना या नपुंसक उत्पन्न होना ये सब मैथुन सेवन करने का फल है इसलिए उत्तम पुरूषों को परस्त्री सेवन का त्यागकर अपनी ही स्त्री में सन्तोष रखने वाला बनना चाहिए ॥ २२ ॥

• परिग्रह परिमाण का लक्षण

दशविध धन-धान्यादि का, करि परिग्रह परिमान ।
अधिक चाह का त्याग ही, पंचम अणुव्रत जान ॥ २३ ॥

अर्थ - क्षेत्र-वास्तु, चाँदी-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास, वस्त्र और बर्तन अथवा क्षेत्र (खेत)-मकान, द्विपद (दासीदास), चतुष्पद (पशु आदि), शयनासन वाहन, वस्त्र और बर्तन - इस दस प्रकार के परिग्रह का परिमाण कर उससे अधिक की इच्छा नहीं करना, मन, वचन, काय से अधिक परिग्रह रखने का त्याग कर देना परिग्रह परिमाण नामका पाँचवाँ अणुव्रत कहलाता है । इच्छाओं के सीमित या नियन्त्रित हो जाने से इसे इच्छा परिमाणव्रत भी कहा जाता है ॥ २३ ॥

---

२२. यद्वेदरागयोगान् मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म । अवतरति तत्र हिंसा जीववधस्य सर्वत्र सद्भावात् । २. स्त्री पुंसयोः परस्पर गात्रोपरिश्लेषे रागपरिणामो मैथुनम् ।

अर्थ - वेद कषाय राग की कारण हैं, इसके उदय होने पर जीव मैथुन सेवन करता है अर्थात् पुरूष स्त्री संभोग करता है इसे मैथुन कहते हैं यही अब्रह्म है । इसके सेवन से जीवों का घात होता है अतः सदा हिंसा होती है ।

२. स्त्री और पुरुष का रागोदय से परस्पर शरीर अवयवों का घात-अपघात-मर्दन होने का परिणाम मैथुन है - अब्रह्म है ॥ २२ ॥

२३. १. धन-धान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता ।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाणनामापि ॥ ६१ ॥ र. क. श्रा. ।

२. चेतनेतर वस्तूनां यत्प्रमाणं निजेच्छया ।...

◆ **इसका अर्थ–**

मोहोदय से जीव की , जिसमें ममता होय।
संग परिग्रह मूरछा, ग्रंथ कहावे सोय॥ २४॥

अर्थ - मोहनीय कर्म के उदय से जिसके प्रति ममतारूप परिणाम उत्पन्न होता है उसे ग्रन्थ में संग्रह, परिग्रह अथवा मूर्च्छा बतलाया है। ग्रन्थ, संग, परिग्रह, मूर्च्छा ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।

भावार्थ - धन-धान्यादि परिग्रह तभी परिग्रह कहा जाता है जबकि उसमें ममत्व परिणाम हो। बिना ममत्व परिणाम के किसी का कुछ परिग्रह नहीं कहा जाता। जैसे - कोई मुनिराज ध्यानस्थ बैठे हैं उनके समीप कोई बहुत सारा धन रख जाता है तो वह धन उनका परिग्रह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनके परिणामों में उस धन के प्रति रंच मात्र भी ममत्व नहीं है। इसीलिए आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है - "**मूर्च्छा परिग्रहः।**" अ.-७/सू. १७

मूर्च्छा को ही परिग्रह बतलाया है। अथवा गाय-भैंस मणि मोती आदि चेतन-अचेतन बाह्य उपधि, तथा रागादि रूप अभ्यन्तर उपाधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यवहार मूर्च्छा है।

...कुर्यात्परिग्रह त्यागं स्थूलं तत्पंचमं व्रतम्॥

अर्थ - यहाँ पाँचवें अणुव्रत परिग्रह परिमाण व्रत का लक्षण बताया है। आचार्य कहते हैं धन्य-धान्य आदि सम्पदा-परिग्रह चाहे चेतन, अचेतन या मिश्र हो उसकी सीमा कर अन्य बचे परिग्रह में निस्पृह होना वाञ्छा नहीं करना परिग्रह परिमाण नामका पाँचवां अणुव्रत कहलाता है।

२. परिग्रह सामग्री तीन प्रकार की है - १. चेतन यथा दास-दासी, गौ महिष आदि, पुत्र-कलत्रादि, २. अचेतन - सोना चाँदी, मकान-दुकानादि तथा ३. मिश्र वस्त्राभूषण सहित सन्तानादि। इन तीनों प्रकार के पदार्थों का अपनी इच्छानुसार प्रमाण कर शेष बचे में ममत्व-मूर्च्छाभाव का त्याग करना इच्छाकृत प्रमाण या परिग्रह त्यागाणुव्रत कहलाता है॥ २३॥

एक राजा अपरिग्रही, निस्पृही और एक भिखारी होकर भी परिग्रही कैसे हो सकता है उसको दृष्टांत के द्वारा समझाया गया है -

एक राजा अरबपति होकर भी यदि वैरागी है, अनासक्त है, धन-वैभव को निस्सार, क्षणभंगुर समझकर छोड़ने की इच्छा से भोग रहा है तो वह परिग्रही रहते हुए भी अपरिग्रही है। और एक भिखारी महलों के सपने देख रहा है, ममत्त्व में लगा हुआ है तो परिग्रही ही है क्योंकि राजा के अप्रमत्त योग है और भिखारी के प्रमत्तयोग है।

इसीलिए आचार्यदेव ने बतलाया है कि मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला जो ममत्व परिणाम - यह मेरा है, यह तेरा है इत्यादि रूप है वही परिणाम मूर्च्छा कहलाता है। यही परिग्रह का यथार्थ लक्षण है। जहाँ पर यह लक्षण घटित होता है वहाँ पर परिग्रहपना आता है, जहाँ नहीं घटित होता वहाँ बाह्य परिग्रह रहते हुए भी परिग्रह नहीं कहा जाता। इसलिए मूर्च्छा ही परिग्रह का निर्दोष लक्षण है ॥ २४ ॥

---

२४. या मूर्च्छानामेय विज्ञातव्यः परिग्रहो ज्ञेयः। मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छास्तु ममत्व परिणामः। २. मूर्च्छा परिग्रहा इति।

अर्थ - यहाँ परिग्रह का स्वरूप बताया है। सचित्त, अचित्त, मिश्ररूप अनन्त पदार्थों से भरा संसार परिग्रह नहीं है, अपितु इनके प्रति राग-ममत्व को परिग्रह कहा है। मूर्च्छा का अर्थ है मोह-ममकार, अहंकार बुद्धि। जिस पदार्थ के प्रति मेरे पने का भाव-आस्था या निष्ठा होती है वही परिग्रह है। आचार्य परमेष्ठी कहते हैं कि मोहनीय, दर्शन मोहनीय कर्मोदय से मिथ्या विपरीत मति की उत्पत्ति होती है। इस मिथ्या मोह से आत्म स्वरूप से भिन्न पदार्थों 'मैं, मेरे हैं और मैं इनका हूँ' इस प्रकार के परिणाम-भाव होते हैं। इसी का नाम परिग्रह है। फलतः इनके संयोग-वियोग में राग-द्वेष का जन्म होता है। संसार भ्रमण होता है। आचार्य परमेष्ठी श्री उमास्वामी जी ने भी कहा है "मूर्च्छा परिग्रहाः" अर्थात् मोह मूर्च्छा है और मूर्च्छा ही परिग्रह है। यह मेरा-तेरा भाव त्याज्य है ॥ २४ ॥

◆ परिग्रह के भेद–

बाह्याभ्यंतर योग से परिग्रह के दो भेद।
चौदह आभ्यंतर कहे, बाह्य जान दश भेद॥ २५॥

अर्थ – बाह्य और अभ्यन्तर के योग से परिग्रह के दो भेद हैं। १. चौदह प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रह, २. दश प्रकार के बाह्य परिग्रह॥ २५॥

◆ आभ्यन्तर के नाम

तीन वेद क्रोधादि चउ रति अरति मिथ्यात्व।
हास्य शोक भय ग्लानि ये, अंतर ग्रंथ विख्यात॥ २६॥

अर्थ – तीन वेद अर्थात् स्त्री वेद, पुरुषवेद एवं नपुंसक वेद, क्रोध-मान-माया एवं लोभ ये चार कषाय। रति, अरति, मिथ्यात्व, हास्य, शोक, भय एवं ग्लानि ये चौदह प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

भावार्थ – आत्मा के कषायरूप वैभाविक भाव को अभ्यन्तर परिग्रह कहते हैं अर्थात् ''ममेदं रूप'' यह मेरा है यह तेरा है इस रूप जो आत्मा का मोहरूप परिणाम है उसी का नाम अभ्यन्तर परिग्रह है। इस परिग्रह में सभी

---

२५. अति संक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यंतरश्च बाह्यश्च। प्रथमश्च चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु।

अर्थ – संक्षेप से परिग्रह के दो भेद हैं – १. आभ्यन्तर और २ बाह्य भेद से। प्रथम आभ्यन्तर परिग्रह से चौदह भेद हैं – हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, क्रोध, मान, माया, लोभ और राग, द्वेष एवं मिथ्यात्व।

बाह्य परिग्रह सचित्त और अचित्त पदार्थों की अपेक्षा दो प्रकार का है। दोनो सामान्य से १० प्रकार का होता है। उमास्वामी ने लिखा है १. क्षेत्र, २. वास्तु, ३. हिरण्य-जाति, ४. सुवर्ण, ५. धन, ६. धान्य, ७. दासी, ८. दास, ९. कुप्य, १०. भाण्ड ये १० प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं॥ २५॥

कषायभाव और मिथ्यात्व गर्भित हो जाता है। दर्शन मोहनीय और चारित्र-मोहनीय ही अंतरंग परिग्रह है उसी के चौदह भेद हैं।

मिथ्यात्व में सम्यक् प्रकृति और सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति इन दोनों का अंतर्भाव हो जाता है इसलिए मिथ्यात्व कहने से समस्त दर्शनमोहनीय के भेदों का ग्रहण हो जाता है। चारित्र मोहनीय के २४ भेद हैं वह संक्षेप से १३ भेदों में आ जाते हैं। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानुबन्धी, प्रत्याख्यानुबंधी और संज्वलन (इन्हीं के क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार भेद करने से १६ भेद हो जाते हैं) तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये ६ भेद और स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद तीन थे इस प्रकार १३ प्रकार चारित्र मोहनीय और १ मिथ्यात्व कुल १४ प्रकार का अभ्यन्तर परिग्रह है।

जो आत्मा के सम्यक्त्व गुण को घाते वह दर्शन मोहनीय हैं। उसके तीन भेद हैं - १. मिथ्यात्व, २. सम्यक्मिथ्यात्व, ३. सम्यक्प्रकृति।

१. जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थ श्रद्धान करने में निरुत्सुक, हिताहित विचार करने में असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है वह मिथ्यात्व है।

२. वह मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेष के कारण क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदों के समान अर्द्धशुद्ध स्वरस (विपाक) वाला होने पर सम्यक् मिथ्यात्व कहा जाता है।

३. जिस प्रकृति के उदय से आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण में चल-मल अगाढ़ दोष लगता है वह "सम्यक् प्रकृति" है। वही मिथ्यात्व जब शुभ परिणामों के कारण अपने विपाक को रोक देता है और उदासीन रूप से अवस्थित रहकर आत्मा के श्रद्धा को नहीं रोकता है तब सम्यक्त्व होता है। इसका वेदन करने वाला पुरुष सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

जो आत्मा के चारित्र गुण को घाते वह चारित्र मोहनीय हैं। इसके संक्षेप में १३ भेद हैं। चार कषाय, हास्यादि ६ अकषाय एवं ३ वेद।

(१) १. गुस्सा करने को क्रोध कहते हैं। २. मान-अहंकार अभिमान को कहते हैं। ३. छल कपट को माया कहते हैं। ४. लालच को लोभ कहते हैं। बहुत इच्छा भी लोभ है।

(२) हास्यादि ६ अकषाय का स्वरूप- १. जिस कर्म के उदय से हँसी आती है वह हास्य कर्म है। २. जिस कर्म के उदय से देश आदि में उत्सुकता होती है वह रति कर्म है। ३. रति से विपरीत अरति कर्म है। ४. जिसके उदय से शोक उत्पन्न होता हो वह शोक कर्म है। ५. जिसके उदय से उद्वेग होता है वह भय कर्म है। ६. जिसके उदय से आत्मदोषों का संवरण और परदोषों का आविष्करण होता है वह जुगुप्सा कर्म है।

(३) वेद कर्म का स्वरूप- १. स्त्रीवेद - जिस कर्म के उदय से स्त्री संबंधी भावों को प्राप्त होता है वह स्त्री वेद है। योनि, कोमलता, भयशील होना, मुग्धपना, पुरुषार्थ शून्यता स्तन और पुरुष भोग की इच्छा ये स्त्रीवेदके सात लक्षण हैं।

२. पुरुष वेद - जिसके उदय से पुरुष सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह पुरुष वेद है। लिंग, कठोरता, स्तब्धता, शौण्डीरता, दाढ़ी-मूंछ, जबर्दस्तपना और स्त्री भोग इच्छा ये सात पुंवेद के सूचक लक्षण हैं।

३. नपुंसक वेद - जिस कर्म के उदय से नपुंसक संबंधी भावों को प्राप्त होता है वह नपुंसकवेद है। स्त्रीवेद और पुरुषवेद के सूचक १४ चिह्न मिश्रित रूप में नपुंसकवेद के लक्षण हैं॥ २६॥

---

२६. मिथ्यात्व वेद रागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः चत्वारश्च कषायाश्च चतुर्दशाभ्यंतरा ग्रन्थाः।

२७. क्षेत्रवास्तु हिरण्य सुवर्ण धन-धान्य दासी-दास कुप्य प्रमाणाति क्रमाः।

अर्थ - खेत तथा रहने के घरों के प्रमाण का, चांदी और सोने के प्रमाण का, पशु

◆ बाह्य के नाम-

अन्न वस्त्र घर खेत पुनि, सोना चांदी धात।

दासी-दास पशु बाह्य ये, बाह्य ग्रन्थ विख्यात॥ २७॥

अर्थ - अनाज, वस्त्र, घर (मकान), खेत, सोना, चांदी, दासी-दास, पशु एवं बर्तन ये दस बाह्य परिग्रह के भेद हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ में बाह्य परिग्रह के भेद इस प्रकार बतलाये हैं -

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।

नैषः कदापि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसां॥ ११७॥ पु. सि. उ.

अर्थ - बाह्य परिग्रह के दो भेद हैं १. अचेतन, २. सचेतन।

१. **अचेतन** - रूपया-पैसा, बर्तन-वस्त्र, मकान-जमीन, सोना-चाँदी आदि जो कुछ जड़ संपत्ति है वह अचेतन परिग्रह है।

२. **सचेतन** - गोधन, हाथी, घोड़ा, बैल, दासी-दास, स्त्री, सोना आदि सभी सचेतन परिग्रह हैं। जिन जीवों से अपना संबंध है उन्हें अपना मानता है वह उसका सचेतन परिग्रह है। इन दोनों प्रकार के परिग्रहों में हिंसा नियम से होती है॥ २७॥

◆ बाह्य के दोष

लोभ अगिनि की वृद्धिहित, घृत आहुति सम ग्रन्थ।

लोभी दुर्गति गमन को परिग्रह सीधा पंथ॥ २८॥

अर्थ - जिस प्रकार हवन में अग्नि की वृद्धि के लिए घृत की आहुति दी

...तथा अनाज के प्रमाण का, नौकर-नौकरानियों के प्रमाण का तथा वस्त्र और बर्तन आदि के प्रमाण का उल्लंघन करना ये पांच परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार हैं॥ २७॥

जाती है ठीक उसी प्रकार लोभ रूपी अग्नि की बृद्धि के लिए यह परिग्रह रूपी घृत आहुति का काम करती है। परिग्रह रूपी पिशाच मनुष्य को दुर्गति में ले जाता है अर्थात् परिग्रह से मनुष्य सीधा नरक जाता है। परिग्रह की ममता कारण भी लोभ है कहा भी है कि -

लोभ लानि पापानि रसमूलानि व्याधयः।
स्नेह मूलानि शोकानि भीणि त्यक्त्या सुखी भवेत् ॥

अर्थ - पाप का मूल लोभ है, व्याधि की जड़ गरिष्ठ पदार्थों का सेवन है और शोक संताप का कारण स्नेह है। इन तीनों को छोड़ने वाला व्यक्ति सुखी होता है। अतः आत्मा को मलिन करने वाले लोभ का परित्याग करने से समस्त पापों का स्वतः त्याग हो जाता है एवं आत्मा निर्मल उज्ज्वल बनती है ॥ २८ ॥

◆ परिग्रह में हिंसा–

मिथ्यात्व आदि चौदह कहे, हिंसा के पर्याय।
बाह्य परिग्रह ममत्व भी, हिंसा हेतु कहाय ॥ २९ ॥

अर्थ - मिथ्यात्व आदि अन्तरङ्ग परिग्रह के जो चौदह भेद बताये हैं वह

---

२८. अविश्वास तमो नक्तं, लोभानल घृता हुतिः। आरम्भ मकरांभोधिरहो श्रेयः परिग्रहः। २. यद् घोषः क्षितौ वित्तंनिचखानमितं पचः। तदधोनिलयगंतुं चक्रे पंथानमग्रतः ॥

अर्थ - १. परिग्रह का प्रकरण है - समस्त प्रकार का परिग्रह लालसा दिन में ही अविश्वासरूपी घोर अंधकार है, लोभ कषाय अग्नि में डालने वाली हव्य-हवन करने के घी समान है। अर्थात् लोभ अग्नि है और परिग्रह हव्य है। आरम्भ रूपी सागर मे डालने के समान है भला ऐसा परिग्रह क्या कल्याणकारक हो सकता है ? कदाऽपि नहीं। २. जो मूढ़ धन को पृथ्वी के अन्दर गाड़कर रखता है, अर्थात् भूमि रूपी खान को भरने की चेष्टा करता है, वह अधोलोक-नरकबिलों में प्रवेश करने के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। अर्थात् नरक की यात्रा के लिए पाथेय तैयार करता है ॥ २८ ॥

सभी हिंसा की ही पर्याय है। तथा बाह्य परिग्रह में ममत्वरूप परिणाम होना भी हिंसा का कारण है।

भावार्थ - अन्तरङ्ग परिग्रह मिथ्यात्व और कषायभाव हैं वे तो स्वयं हिंसा स्वरूप हैं ही, कारण हिंसा उसे ही कहते हैं कि जहाँ प्रमाद योग से या कषायभावों से प्राणों का अपहरण हो। जहाँ कषायभाव है या मिथ्यात्व है वहाँ आत्मा के शुद्ध भावों का नाश एवं प्रमाद परिणाम है इसलिए अन्तरङ्ग परिग्रह तो स्वयं हिंसा स्वरूप है। बहिरङ्ग परिग्रह स्वयं हिंसारूप नहीं है किन्तु उनमें ममत्व परिणाम होता है इसलिए वे भी हिंसाजनक नहीं हैं किन्तु उनमें ममत्व परिणाम होता है इसलिए वे भी हिंसाजनक हैं यह भावहिंसा का कथन है। बहिरङ्ग परिग्रहों से होने वाली द्रव्यहिंसा को दृष्टि में लेने से द्रव्यहिंसा भी उनसे नियमित है। इसलिए वास्तव में हिंसा स्वरूप, हिंसा का उत्पादक, हिंसा का फल, हिंसा का कारण परिग्रह ही है। यदि उसका संबंध छोड़ दिया जाय तो फिर न कभी किसी निमित्त से ममत्व परिणाम उत्पन्न हों, न किसी प्रकार का आरंभ हो और न आत्मीय परिणाम ही विकार रूप धारण करें॥ २९॥

◆ परिग्रही का लक्षण–

धन-वस्त्रादिक त्यागि भी, नग्नरूप धरि लेय।
जब तक मम ममता वसे, परिग्रही ताहि गिनेय॥ ३०॥

अर्थ - जिन्होंने धन-धान्य वस्त्रादि बाह्य परिग्रहों का त्याग कर नग्नरूप

---

२९. हिंसा पर्यायत्वात्सिद्धा हिंसाऽन्तरंग संगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयतु मूर्च्छैव हिंसात्वं॥ ११९॥ पु. सि.

अर्थ - अंतरंग परिग्रहों में हिंसा के पर्याय होने से हिंसा सिद्ध है। बहिरंग परिग्रहों में तो नियम से मूर्च्छा ही हिंसापने को सिद्ध करती है। हिंसा से भयभीत श्रावक को परिग्रह का यथाशक्ति त्याग करना चाहिए।

धारण कर लिया है किन्तु जब तक उनके हृदय में बाह्याभ्यंतर परिग्रह के प्रति ममत्व परिणाम हैं तो वह मनुष्य परिग्रही ही है। अतः ममत्व भाव ही परिग्रह है ॥ ३० ॥

◆ अपरिग्रही की पहचान–

विषय चाह जिस मन नहीं, परिग्रह आरंभ हीन।
ज्ञान ध्यान-तप मगन तो, श्रेष्ठ साधु वह चीन ॥ ३१ ॥

अर्थ – जो पञ्चेन्द्रिय विषयों की लालसा के वश नहीं है, आरंभ और चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित हैं, निरन्तर ज्ञान-स्वाध्याय, ध्यान और व्रत उपवास आदि तप के पालन में तत्पर रहते हैं वे ही श्रेष्ठ साधु हैं ऐसा जानो ॥ ३१ ॥

---

३०. मूर्च्छा लक्षण करणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनाऽपि किल शेषसंगेभ्यः ॥ ११२ ॥ पु. सि.

अर्थ – *परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा करने से, दोनों बाह्याभ्यंतर परिग्रहों के साथ हिंसा की व्याप्ति सम्यक् प्रकार घटित हो जाती है। जहाँ-जहाँ मूर्च्छा है वहाँ-वहाँ परिग्रह अवश्य है। अतः स्पष्ट है जितना परिग्रह उसके मूर्च्छावान के पास, है उसके अतिरिक्त भी अन्य में मूर्च्छा होने से वह भी परिग्रह ही है। अर्थात् परिग्रह नहीं रहने पर मूर्च्छावान परिग्रही ही है ॥ ३० ॥*

३१. विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥ र. श्रा. ॥

अर्थ – *जो साधु दिगम्बर मुनि पंचेन्द्रिय विषयों की आशा से सर्वथा विहीन है, आरम्भ और परिग्रहों का त्यागी है सर्वथा त्याग भाव सम्पन्न है तथा ज्ञान-आगम अध्ययन-स्वाध्याय, स्वात्म चिन्तन रूप शुभ ध्यान तथा बारह प्रकार के तपों के आचरण में यथाशक्ति प्रयत्नशील रहता है। वही साधु रत्न प्रशंसा के योग्य स्व-पर कल्याण कर्ता है ॥ ३१ ॥*

◆ पंचम अध्याय का सारांश–

अहिंसादि अणुव्रतनि का लिखा जिनोक्त स्वरूप।
महावीर जिनभक्त ने, छन्द रचे अनुरूप ॥ ३२ ॥

अर्थ – अहिंसादि अणुव्रत का लक्षण स्वरूप उसका फल इत्यादि जो जिनेन्द्र भगवान ने जैसा स्वरूप बताया है वैसा ही महावीर स्वामी के भक्त ने छन्द के द्वारा सुन्दर रूप से निरूपण किया है।

परमाराध्य भगवान महावीर स्वामी के अनुयायी परमागम भक्त परम पूज्य आचार्य परमेष्ठी श्री महावीरकीर्ति जी महाराज द्वारा निरूपण किया गया ॥ ३२ ॥

इति पंचम अध्याय

---

३२. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ र. श्रा. ॥

अर्थ – मोह मिथ्यात्व का पर्यायवाची है। मिथ्यात्व पूर्वक द्रव्यलिंगी मोही साधु की अपेक्षा निर्मोही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ उत्तम है। क्योंकि बाह्य वेष मात्र से कर्म कालिमा नहीं कटती न संसार भ्रमण ही टलता है। संसार भ्रमण का हेतु मिथ्यात्व मोह है। अतः सम्यक् तप तपना चाहिए ॥ ३२ ॥

❋ अथ षष्ठाध्याय ❋

• गुणव्रतों के नाम–

पांच अणुव्रत गुणनि के, रक्षक बाढ़ समान।
गुणव्रत त्रय दिगदेश पुनि, अनरथ दंड पिछान ॥ १ ॥

अर्थ – जिस प्रकार नगरों की रक्षा के लिए परकोटा का होना आवश्यक है। क्योंकि बिना परकोट के पर राष्ट्र से नगर की रक्षा अशक्य है। उसी प्रकार अहिंसादि अणुव्रतों की रक्षा के लिये सप्त शीलों के पालने की भी नितांत आवश्यकता है। बिना शीलों के पालन किये व्रतों का पालन निर्विघ्न एवं निर्दोष रीति से नहीं बन सकता सात शीलों में तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत लिये गये हैं। उनमें दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत होते हैं। तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगप्रमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। इन्हीं सातों को शीलव्रत भी कहते हैं। अर्थात् पांचों अणुव्रतों की हर प्रकार से रक्षा करना ही इनका स्वभाव है ॥ १ ॥

---

१. १. पंचाणु व्रत रक्षणार्थं पाल्यते शील सप्तकं।
शस्यवत् क्षेत्र वृद्ध्यर्थं क्रियते महतीवृत्तिः ॥
२. गुणाय चोपकारायऽहिंसादीनां व्रतानितत्।
गुण व्रतानि त्रींणप्याहुदिनकरत्यादि।

अर्थ – श्रावकों के अहिंसादि पाँच अणुव्रत होते हैं। इनके धारक अणुव्रती इनको सुरक्षित, निरतिचार पालन करने के लिए सात शीलव्रतों का भी सम्यक् रीति से पालन करना चाहिए। ये चार शिक्षाव्रत और तीन दिग्व्रत कहलाते हैं, सातों शीलव्रत कहे जाते हैं। जिस प्रकार क्षेत्र में निष्पन्न फसल की रक्षार्थ उसके चारों ओर दृढ़ बाउंडरी-बाड़ लगाना आवश्यक है, उसी प्रकार अणुव्रतों को फलवान बनाने के लिए इनका पालन अनिवार्य है। २. जो अणुव्रतों के गुणों की वृद्धि कराने में सहायक होते हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं। ये संख्या में तीन हैं ॥ १ ॥

◆ दिग्व्रत का लक्षण—

पूर्वादिकदशदिशन की गमन प्रतिज्ञालेय।
प्रसिद्ध प्रसिद्ध हद बांधकर, दिग्व्रत नियम करेय ॥ २ ॥

अर्थ – जीवन पर्यन्त सूक्ष्म पापों से बचने के लिए दशों दिशाओं का परिमाण करके इतने क्षेत्र के बाहर मैं नहीं जाऊँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना। तथा जो स्थान सदा रहने वाले होते हैं और प्रसिद्ध होते हैं। उन्हीं स्थानों को वह अपनी मर्यादा का चिह्न बना लेता है। ऐसे चिह्न हर एक दिशा में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध चीजों के बना लिये जाते हैं। जैसे - मैं उत्तर में काश्मीर तक, दक्षिण में मद्रास तथा पूर्व में कलकत्ता व पश्चिम में मुंबई तक ही जाऊँगा और न उससे आगे के स्थानादि किसी वस्तु से किसी प्रकार का संबंध ही रक्खूँगा इस प्रकार की दृढ़ प्रतिज्ञा करना ही दिग्व्रत है ॥ २ ॥

◆ इसका फल—

जीतेजी कृत हद से बाहर कबहूँ न जाय।
बाह्य क्षेत्र कृत पाप से दिग्व्रति अवश्य बचाय ॥ ३ ॥

अर्थ – दिग्व्रतधारी श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि मैंने जो दशों दिशाओं के क्षेत्रों की जो मर्यादा की है, उसके बाहर मैं कभी भी नहीं जाऊँगा। इस प्रकार उस सीमा के बाहर स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार के पापों से वह विरत हो जाता है ॥ ३ ॥

---

२. दश दिक्ष्वपि संख्यानं कृत्वा यास्यामि नो वहिः।
तिष्ठेत्यादित्यामृतेर्यक्षतत्स्याद्दिग्विरतिर्व्रतम् ॥

अर्थ - दशों दिशाओं - चार दिशा-चार विदिशा उर्ध्व और अधो दिशाओं मे गमनागमन, आने-जाने की यथेच्छ सीमा कर आजीवन उससे बाहर नहीं जाना दिग्व्रत कहलाता है ॥ २ ॥

◆ देशव्रत का लक्षण

दिग्व्रत भीतर भी करे, नियम समय तक त्याग।
गली गृहादिक क्षेत्र का देशव्रत में पाग ॥ ४ ॥

अर्थ – दिग्व्रत में जीवन भर के लिए गमनागमन का जो प्रमाण किया था उस विशाल देश, काल की मर्यादा को घड़ी, घंटा, दिन, महीना रूप काल तथा गली, मोहल्ला, नगर रूप क्षेत्र पर्यन्त मर्यादा करके उससे बाहर जाने का त्याग करना देशव्रत है।

जैसे – मैं आज दो घण्टे तक मकान के बाहर नहीं जाऊँगा अथवा एक माह तक इस नगर, गली, बगीचा तक गमन करूँगा।

भावार्थ – दिग्व्रत व्यापक होता है, देशव्रत व्याप्य होता है अर्थात् दिग्व्रत की मर्यादा का क्षेत्र विशाल होता है, देश व्रत की मर्यादा का क्षेत्र उसके भीतर ही होता है, बाहर नहीं ॥ ४ ॥

---

३. इति नियमित दिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।
सकलासंयम विरहाद् भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥ १३८ ॥ पु. सि.

अर्थ – दिग्व्रत धारण करने का लाभ क्या है ? इसका समाधान यहाँ उद्धृत है। दिग्व्रती अपने मर्यादित क्षेत्र से बाहर आवागमन नहीं करता, नव कोटि से सीमा से बाहर क्षेत्र का त्यागी होने से वहाँ से उत्पन्न असंयम का वह सर्वथा त्यागी होता है। अतः उस क्षेत्र अपेक्षा वह सकल संयमी सदृश होता है ॥ ३ ॥

४. देशावधिमपि कृत्वा यो नाक्रामति सदा पुनस्त्रेधा।
देशविरतिर्द्वितीयं गुणव्रतं तस्य जायते ॥

अर्थ – समय की मर्यादा लेकर दशों दिशाओं में गमनागमन का प्रमाण करते हुए समय यापन वाले व्रती के दिग्व्रत में संक्षेप करने से देशव्रती कहा जाता है। जीवन भर की कृत मर्यादा में ही घंटा, घड़ी, दिन, क्षेत्र को कम कर मर्यादाबद्ध होना देशव्रत नामका दूसरा गुणव्रत कहलाता है ॥ ४ ॥

◆ इसका फल–

इमि बहु क्षेत्र के त्यागन से, होय न हिंसा पाप।
देशव्रत नित करन से पले अहिंसा आप ॥ ५ ॥

अर्थ – इस देशव्रत के पालने से अहिंसाव्रत का पालन अच्छी तरह से होता है, कारण दिग्व्रत में जितनी मर्यादा की जाती है उसके भीतर तो दिग्व्रती त्रस स्थावर हिंसा का आरंभादिक करता ही रहता है परन्तु देशव्रत में उस दिग्व्रत के भीतर भी नियतकाल तक मर्यादा लेकर देशव्रती हिंसा से बच जाता है। तथा अहिंसा व्रत का पालन भी विशेष रूप से होता है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थ को इस प्रकार के व्रत धारण करके रात-दिन के हिंसा जनित पापों से बचना चाहिए॥ ५ ॥

◆ अनर्थदण्ड त्याग का लक्षण

दिग्व्रत भीतर होय जे, वे मतलब के पाप।
उन सब के तारण तजे, अनरथ त्यागी आप ॥ ६ ॥

अर्थ – दिग्व्रत में बिना प्रयोजन जो हिंसा तथा कषाय वर्धक जो कार्य किया जाता है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। ऐसे जो पापोत्पादक क्रियाओं का त्याग कर देना ही व्रत है॥ ६ ॥

---

५. इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थ हिंसा विशेष परिहारात्।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥ १४० ॥ पु. सि.

अर्थ – इस प्रकार बहुदेश से विरक्त हो जाने पर उस बहुदेश प्रदेश में होने वाली हिंसा विशेष का त्यागी हो जाने से उस समय पर्यन्त

वह निर्मल परिणामी बुद्धि का धारी देशव्रती विशेष रूप से अहिंसा को पालता है॥ ५ ॥

६. अभ्यंतरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः स पापयोगेभ्यः।
विरमणनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥ ७४ ॥ र. श्रा. ।...

◆ इनके भेद नाम–

अघोपदेशरूदु:श्रुती हिंसादान अपध्यान।

प्रमाद चर्या पाँच ये, अनरथ भेद पिछान॥ ७॥

अर्थ – अशुभोपयोग रूप दण्ड को नहीं धारण करने वाले गणधरादिक देव ने अनर्थदण्ड के पाँच भेद कहे हैं। १. पापोपदेश, २. हिंसादान, ३. अपध्यान, ४. दुःश्रुती, ५. प्रमादचर्या॥ ७॥

◆ पापोपदेश–

छहों कर्म जीवीनि को, अघ आरंभ उपदेश।

देवें जिसमें व्यर्थ ही पावे, निवल कलेश॥ ८॥

अर्थ– बिना प्रयोजन किसी पुरुष को आजीविका के कारण विद्या, वाणिज्य, लेखनकला, खेती, नौकरी और शिल्प इन छह प्रकार के पाप रूप व्यापार का उपदेश देना पापोपदेश अनर्थदण्ड कहलाता है।

१. विद्या – जो लोग मंत्र-तंत्र-यंत्रों द्वारा व्यवसाय करते फिरते हैं वे विद्या व्यवसायी है।

...अर्थ – दिग्व्रत की सीमा के अन्दर भी निष्प्रयोजनीय अनावश्यक कार्यों का त्याग करने को गणधराचार्य अनर्थदण्ड व्रत कहते हैं॥ ६॥

७. पापोपदेश हिंसादानापध्यान दुःश्रुतीः पंच।

प्राहु प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः॥

अर्थ – अनर्थदण्ड व्रतधारी आचार्य कहते हैं कि अनर्थदण्ड के पाँच भेद हैं – १. पाप का उपदेश देना, २. हिंसा के उपकरणों छुरी, असि आदि का दान देना, ३. अपध्यान मन से पर का अहित चिन्तन करना, ४. कुमार्ग प्रतिपादक ग्रन्थों या बातों का श्रवण करना और ५. प्रमाद से गमनादि क्रियाओं को करना ये पाँच अनर्थदण्ड हैं, हिंसादि पाप वर्द्धक हैं। इनका त्याग करना चाहिए॥ ७॥

२. **वाणिज्य-** स्वल्प मूल्य में कोई वस्तु खरीदी जाय और अधिक मूल्य में बेच दी जाये। उसे वाणिज्य व्यवसाय कहते हैं।

३. **लेखन कला-** जो स्याही के द्वारा आजीविका की जाती है उसे लेखन वाणिज्य कहते हैं जैसे - मुनीमी करना, दफ्तरों में क्लर्की करना।

४. **खेती-** जहाँ पर खेती के द्वारा आजीविका की जाती है, उसे खेती व्यवसाय कहते हैं।

५. **नौकरी-** किसी का वेतन लेकर टहल-चाकरी, सेवा आदि करना नौकरी व्यवसाय है।

६. **शिल्पकला-** नाना तरह की कारीगरी से आजीविका चलाना शिल्पवृत्ति है। जैसे - सुनार, लुहार आदि करते हैं॥ ८॥

◆ आजीविका के नाम

विद्या वाणिज्य कृषिमषी, सेवा शिल्प सुजान।
कर्मभूमि आदि में कहे, आदिश्वर भगवान्॥ ९॥

अर्थ - कर्मभूमि के प्रारम्भ में आदिनाथ भगवान् ने विद्या, वाणिज्य, कृषि, मषि, सेवा और शिल्प इन षट् कर्मों का उपदेश दिया था॥ ९॥

---

८. विद्यावाणिज्य मषी कृषि सेवा शिल्प जीविनां पुंसां।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम्॥ १४२॥ पु. सि.।

अर्थ - *विद्या, ज्ञान, वाणिज्य, व्यापार, मषी लेखन क्रिया - स्याही, कृषि - खेती, सेवा दासता-नौकरी, सेवा-चाकरी, शिल्प-कला-कौशल, इन छह प्रकार के उद्योगों द्वारा आजीविका करने वाले पुरुषों के लिए पाप रूप उपदेश का दान कभी भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि इसके द्वारा हिंसादि पापार्जन होता है। अपने व्रतों को निर्मल-निर्दोष पालनार्थ आगम विरुद्ध उत्सूत्र और पापवर्द्धक शिक्षा का त्याग करना चाहिए॥ ८॥*

• दुःश्रुति–

रागद्वेष विषयादि के, वर्धक जितने शास्त्र।
श्रवण पठन उन चिंतवन, दुःश्रुति कहिये भ्रात्र ॥ १० ॥

अर्थ - जो शास्त्र, आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अहंकार व पंचेन्द्रियों के विषयों की वासना से मन को संक्लेशित करते हैं, उन शास्त्रों का श्रवण करना दुःश्रुति नाम का अनर्थदण्ड कहलाता है ॥ १० ॥

---

९. १. असि मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवन हेतवे ॥
२. तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवानमति कौशलात्।
उपादिशत सरागो हि सतदासीत् जगद् गुप्तः ॥

अर्थ - कर्म भूमि के प्रारम्भ में कल्पवृक्ष लुप्त प्रायः होने लगे। प्रजा उदरपूर्ति करने में असमर्थ हो गई। भगवान आदिश्वर राजा से प्रार्थना की। उस समय ऋषभदेव ने असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षट् कर्मों के करने का उपदेश देकर प्रजा का जीवन रक्षित किया।

भगवान ऋषभदेव राजा ने अपनी मति बुद्धि की कुशलता तीक्ष्ण दृष्टि से सराग चर्या का उपदेश दे प्रजा को गृहाश्रम की शिक्षा देकर उन्हें निर्भय सुरक्षित किया। इस प्रकार प्रभु "जगद्गुप्त" नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ९ ॥

१०. रागादि वर्द्धनानां दुष्ट कथानामबोध बहुलानां।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जन शिक्षणादीनि ॥ १४५ ॥ पु. सि.

अर्थ - राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, निन्दा, चुगली आदि के बढ़ाने वाली तथा अज्ञान बहुल दुष्ट कथाओं का सुनना, संग्रह करना, सीखना आदि कभी भी नहीं करना चाहिए। नॉवेल, अखबार, स्त्रीकथा, राजकथादि विकथा युक्त साहित्य के पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। न करे और न सुने। दुःश्रुति अनर्थदण्ड से बचना चाहिए ॥ १० ॥

• **हिंसादान–**

असि विष आदिक वस्तु को भाड़े मांगे मोल।
देन से हिंसा दान अघ लागत उसे अतोल॥ ११ ॥

अर्थ - बहुत से पुरूष तलवार आदि वस्तुओं को दूसरों को देते फिरते हैं, बहुत से पशुओं को मारने बांधने वाली चीजें - पिंजरा, कैठरा आदि बांटते हैं ये सब चीजें दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाने के किसी काम में नहीं आ सकती, इसलिए इन मारने बांधने वाले हिंसा के उपकरण हिंसा की सामग्री को दूसरों को दे देने से व्यर्थ ही उनसे की जाने वाली हिंसा का भागीदार बनना पड़ता है। बहुत से लोग चूहों को पकड़ने वाले पिंजरों को घर-२ पहुँचाते हैं। बहुत से मक्खी मच्छर जुआ बिच्छु बर्र आदि विषैले जीवों को मारने वाले विषैले पदार्थों का प्रयोग करते हैं। बहुत से लोग किन्हीं जीवों को ध्वंस करने के लिए अपने यहाँ अग्नि का प्रयोग करते हैं। इत्यादि रूप जो प्रवर्तन है, वह सब हिंसा नाम का अनर्थदण्ड है॥ ११ ॥

---

११. १. असिधेनुविष हुताशन लांगल करवाल कार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्॥ १४४ ॥ पु. सि.

अर्थ - छुरी, विष-जहर, अग्नि, हल, तलवार-असि, धनुष, बाण आदि अन्य भी हिंसाकर्म साधक वस्तुओं का दान नहीं करना चाहिए। क्योंकि इससे हिंसादान अनर्थदण्ड होता है अतः त्यागने ही योग्य हैं॥ १ ॥

२. परशु कृपाण खनित्र ज्वलनायुध श्रृंगि श्रृंखलादीनाम्।
वध हेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः॥ ७७ ॥ र. क. श्रा.॥

अर्थ - फरसा, तलवार, कुदाली, खुरफी, अग्नि, शस्त्र, सींग लौह बेड़ी आदि हिंसा के साधक उपकरणों का दान करना हिंसादान कहलाता है ऐसा बुधजन ज्ञानी आचार्य महाराज कहते हैं। २॥॥११॥

◆ अपध्यान–

पर की हार जयादि युत पुत्र धनादिक हान।
शाप कोसना चिन्तवन अपध्यान पहचान ॥ १२ ॥

अर्थ – जो बिना प्रयोजन खोटा चिंतवन किया जाता है वह अपध्यान कहलाता है। जैसे - किसी की जय और किसी की पराजय की चिंता करना, दो पहलवानों को लड़ते हुये देखकर अपना उनसे कोई संबंध न होने पर भी चिंतवन करना अमुक हार जाये अमुक जीत जाये तो अच्छा होगा। इसी प्रकार परस्त्री के संबंध में चिंतवन करना पर पूजादिक का खोटा चिंतवन करना, किसी के मारे जाने, बांधे जाने, किसी के सर्वस्व हरण की चिंतवन करना, इत्यादि अनेक बुरे विचार मन में लाना अपध्यान कहलाता है ॥ १२ ॥

◆ प्रमादचर्या–

भू जल अगिनी वनस्पति वायुकायिक जीव।
आलसी व्यर्थ विनाशते इन पांचौ न सदीव ॥ १३ ॥

---

१२. १. वध बंधच्छेदादे र्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिन शासने विशदाः ॥ ७८ ॥ र. क. श्रा.।
२. परदारगमन चौर्याद्याः। न कदाचिन्नपि चिंत्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥

अर्थ - पर स्त्री आदि के मारने, पीटने, बंधन डालने, छेदन-भेदन का राग-द्वेष वश हो चिन्तन करना, विचार करना अपध्यान है। जिन शासन में विशेष ज्ञानी वीतरागी आचार्यों ने यह अपध्यान का लक्षण बतलाया है। अतएव पापवर्द्धक होने से त्यागना चाहिए।

२. आचार्य कहते हैं, हे भव्यजनों !, पाप वर्द्धक कार्यों को कदाऽपि चिन्तवन नहीं करना चाहिए। जैसे किसी की जीत-हार-जय-पराजय, परिग्रह संचय, परस्त्री गमन, चोरी आदि क्योंकि इस प्रकार के अनर्थ कारी कार्य केवल पाप के ही उत्पादक होते हैं ॥ १२ ॥

अर्थ - बिना प्रयोजन पृथ्वी, जल, अग्नि वायु का आरम्भ करना, अर्थात् बिना प्रयोजन पृथ्वी खोजना, कुरेदना, जल उछालना, तथा छिड़कना आवश्यकता से अधिक जल ढोलना आदि। अग्नि को जलाना, बुझाना, पवन करना, बिना प्रयोजन पंखा चलाना, व्यर्थ में वनस्पति तोड़ना, वृक्ष पर पत्थर फेंकना और व्यर्थ में घूमना-फिरना तथा दूसरों को घुमना फिराना आदि अप्रयोजनीय कार्यों को आचार्य ने प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड कहा है ॥ १३ ॥

◆ इनका फल

मन वच तन से लगत जो वे मतलब के पाप।
इनके त्याग से गुणव्रती, पुण्य उपाजें आप ॥ १४ ॥

अर्थ - जो दिग्व्रतधारी श्रावक मन वचन काय से होने वाला निष्प्रयोजन पाप को त्याग देता है। उस त्याग से वह पुण्य उपार्जन करता है ॥ १४ ॥

---

१३. १. क्षिति सलिल दहन पवनारम्भ विफलं वनस्पतिच्छेदं।
सरणं सारणमपि च प्रमाद चर्यां प्रभाषन्ते ॥ ८० ॥ र. श्रा.।

२. भूखनन वृक्ष मोट्टन शाड्वल दलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दल फल कुसुमोच्चयानपि ॥ १४३ ॥ पु. सि.।

अर्थ - १. भूमि खोदना निष्प्रयोजन जल बिखेरना, अग्नि जलाना, पंखा चलाना, आरम्भ करना, वनस्पति छेदन, भेदन, दलन-मलन करना व कराना प्रमादचर्या नामका अनर्थदण्ड है॥ और भी -

२. बिना प्रयोजन ही भूमि को खोदना, वृक्षों को काटना, दूर्वांकुर-शैवाल दलना-रौंदना, कुचलना, नीर सींचना, पत्ते, फल, सुमन चयन करना अदि कार्य करना अनर्थदण्ड है सत्पुरुषों को नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये कार्य अनर्थदण्ड पाप है॥ १३ ॥

१४. एवं विधमपरमपि ज्ञात्वा मुंचत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसा व्रतं लभते ॥ १४७ ॥ पु. सि...

◆ षष्ठाध्याय का सारांश–

अणुव्रत रक्षक भेदत्रय गुणव्रत के पहचान।
महावीर गुरु भक्त ने लिखे शास्त्र परमान॥ १५॥

अर्थ – पाँचों अणुव्रतों की हर प्रकार से रक्षा करना ही इनका स्वभाव है। इसलिए इनका नाम शीलव्रत है। जिस समय आत्मा दिशा आदि की मर्यादा कर लेता है। बिना प्रयोजन हिंसा के कारणों में नहीं प्रवृत्त होता है। सामायिक आदि द्वारा मन को पवित्र बना लेता है। भोग उपभोगादिकों का परिणाम कर तृष्णा को घटा डालता है। उस समय प्रवृत्ति ''सुतरा'' ऐसी बन जाती है कि हिंसा झूठ यदि पाप उस आत्मा से बनता ही नहीं। प्रत्युत अहिंसा सत्य आदि व्रतों में हटता हो जाती है। इसलिए व्रतों का पालन करने वालों को शीलों का पालन आवश्यक है। ऐसा महावीर भगवान् के भक्त आचार्य परमेष्ठी महावीर कीर्ति जी महाराज ने लिखा है॥ १५॥

इति षष्ठाध्याय

..*अर्थ – उपर्युक्त पंच प्रकार के अनर्थदण्डों तथा अन्य भी इसी प्रकार व्यर्थ निष्प्रयोजक कार्यों को अवगत कर जो उनका त्याग करता है उसका अहिंसाव्रत निरंतर जयवंत रहता है। अर्थात् अनर्थदण्ड त्यागी का अहिंसा परम धर्म सतत् निर्दोष, निरतिचार पालन होता है॥ १४॥*

१५. ''अणुव्रतोऽगारी॥'' त. सू. २० अ. ७

***अर्थ** – पंच अणुव्रतों का पालन करने वाला आगारी, गृहस्थ कहलाता है॥ १५॥*

❋ अथ सप्तम अध्याय ❋

◆ **शिक्षाव्रत का लक्षण–**

शुद्ध आतम अभ्यास के शिक्षक शिक्षाव्रत।
जप, प्रोषध भोगादि पुनि अतिथि दान करि नित्त ॥ १ ॥

अर्थ – जिनके प्रभाव से शुद्ध आत्म के अभ्यास की शिक्षा तथा विशेष श्रुतज्ञान का अभ्यास और जिनसे मुनिव्रत पालन करने की शिक्षा मिले उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। ये शिक्षाव्रत चार प्रकार के कहे गये हैं। १. सामायिक, २. प्रोषधोपवास, ३. भोगोपभोग, ४. अतिथि सत्कार ॥ १ ॥

◆ **सामायिक का लक्षण–**

राग द्वेष तज सबन से धरि उर समताभाव।
शुद्ध ध्यान की प्राप्ति हित, सामायिक मन लाव ॥ २ ॥

अर्थ – सम् उपसर्ग पूर्वक इण धातु से समय बनता है, सम का अर्थ एकी भाव है, अय का अर्थ गमन है, जो एकी भाव रूप से गमन किया जाय उसे समय कहते हैं उसका जो भाव है उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक करने

---

१. १. यस्माच्छिक्षा प्रधानानि तानि शिक्षा व्रतानि वै।

२. दिग्देशानर्थदण्ड विरति सामायिक प्रोषधोपवासोपभोग परिभोग परिणामातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥ त. सू. २१ अ. ७ ॥

अर्थ – जिनके द्वारा अणुव्रतों के पालन करने की शिक्षा प्राप्त हो वे प्रधान रूप से शिक्षाप्रदायी होने से शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

२. पञ्चाणुव्रत ग्रहण कर गृहस्थ दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड त्याग व्रती और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण, एवं अतिथि संविभाग व्रतों से सम्पन्न होता है। अर्थात् ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत इन सप्त शीलव्रतों को भी धारण करता है ॥ १ ॥

वाला पुरूष मन, वचन, काय को वश करके राग-द्वेष रूप परिणामों का अभाव करके उर में समता भाव धर कर शुद्ध ध्यान की प्राप्ति के लिये सामायिक करता है ॥ २ ॥

◆ **इसकी प्रतिज्ञा–**

अब से इतनी देर तक, करूँ अन्य सब त्याग।
यह कहि आत्म ध्यान में, सुस्थिर चित से पाग ॥ ३ ॥

अर्थ – सामायिक करने वाला काल की मर्यादा लेकर समस्त पापों का त्याग कर तथा अपने सिर के केशों को अच्छी तरह बांधकर मुष्टि बंधन करके, आसन बंधन करके, जब तक ये नहीं खुलेंगे तब तक की मर्यादा लेकर अपने चित्त को स्थिर कर आत्मा का ध्यान करें ॥ ३ ॥

---

२. रागद्वेष त्यागानिखिल द्रव्येषु साम्यावलंब्य। तत्त्वोपलब्धि मूलं बहुशः सामायिक कार्यं।

अर्थ – सामायिक करने के पूर्व सम्पूर्ण राग-द्वेष का परित्याग कर अशेष द्रव्यो में साम्यभाव समताभाव स्थापित करना चाहिए, क्योंकि कहा है – ''समता सामायियं नाम'' अर्थात् साम्य ही सामायिक है। सामायिक का प्रयोजन क्या ? तत्त्वोपलब्धि अर्थात् तत्त्वपरिज्ञान, आत्मा भी तत्त्व है, आत्म स्वरूप का परिज्ञान सामायिक से होता है। अतएव आत्मार्थियों को अधिक से अधिक सामायिक करना चाहिए। राग-द्वेष का त्याग-परिहार करना चाहिए ॥ २ ॥

३. मूर्धरुहमुष्टि वासो बन्धं, पर्य्यङ्कबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥ ९८ ॥ र. क. श्रा. ॥

अर्थ – आगम के अध्येता, ज्ञाता पुरूष साधक जितने समय तक निम्न क्रियाएँ रहे उतने काल तक एकाग्र चिन्तन को सामायिक कहते हैं यथा जैसे – केशबंधन-चोटी मे गांठ लगाना, मुष्टिबंध – अपने हाथ की मुट्ठी करना-बांधना, वस्त्र बांधना, पद्मासन, खड्गासन-खड़े होना आदि क्रिया कर यह नियम करना कि जब तक ये बंधे रहेंगे, आसन स्थिर रहेंगे तब तक मैं निर्विकल्प, निराकुल रहकर साम्यभाव से सामायिक करूंगा ॥ ३ ॥

◆ इसकी विधि–

उत्तर वा पूरब खड़े णमोकार नवबार ।

भुविनत हो दंडवत करे खड़ा होय फिर सार ॥ ४ ॥

अर्थ – सामायिक करने वाला पहले पूरब या उत्तर दिशा में खड़े होकर नवबार णमोकार मंत्र पढ़े फिर जमीन में बैठे, फिर खड़ा हो इस प्रकार करें ॥ ४ ॥

◆ पुनः–

फिरि फिरि चारों दिशनि में नवत्रय वा नवकार ।

तीन-तीन आवर्त युत इक-इक शिरनति धार ॥ ५ ॥

अर्थ – सामायिक शुरु करने के पहले श्रावक एक दिशा में नवकार या तीन बार णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त कर एक शिरोनति करें। फिर दूसरी दिशा में भी इसी प्रकार चारों दिशाओं में करने के बाद सामायिक शुरु करें ॥ ५ ॥

◆ आसन ध्यान–

अचल योग एकांत में हर्षित ध्यान लगाय ।

जपे मंत्र शत आठ नित ओं आदि चित ध्याय ॥ ६ ॥

अर्थ – जिस स्थान में चित्त को विक्षेप करने के कारण नहीं हो बहुत असंमयी जनों का आना-जाना नहीं हो अनेक लोगों द्वारा वाद विवाद करके कोलाहल नहीं किया जा रहा हो। जहाँ स्त्री, पुरुष, नपुंसक का आना-जाना

---

४. द्वि नति, द्वादशावर्त शिरोनति चतुष्टये ।
तत्र योऽनादराभावः सा स्याद्विनय शुद्धिता ॥

अर्थ – दो नमस्कार, बारह आवर्त, चार नमस्कार करने में अनादर नहीं करना अर्थात् प्रमाद न कर आदर पूर्वक त्रियोग शुद्धि से करना यह सामायिक का विनय है। विनय पूर्वक करने से उत्तम फल की प्राप्ति होती है। अतः सावधानी से करना चाहिए ॥ ४ ॥

नहीं हो जहाँ तिर्यंचों का पक्षियों का संचार न हो, जहाँ पर सर्प, बिच्छू, कनसला इत्यादि जीवों द्वारा बाधा नहीं दी जा सके ऐसे विक्षेप रहित एकान्त स्थान में वह वन हो जीर्ण बाग या मकान हो, चैत्यालय हो, धर्मात्माओं का प्रोषधोपवास करने का स्थान हो ऐसे एकांत स्थान में प्रसन्न चित्त होकर सामायिक में १०८ बार णमोकार मन्त्र जपता हुआ अपनी आत्मा का ध्यान करें॥ ६ ॥

◆ **इसका फल**–

सामायिक करते समय अघ संचय नहीं होय।
परिषह उदये वस्त्रवत मुनि सम कहिये सोय॥ ७ ॥

अर्थ – सामायिक के समय गृहस्थ मुनि के समान किसी भी प्रकार का आरम्भ और परिग्रह नहीं होता तथा शरीर पर जो कपड़ा रहता है, उनसे भी

---

६. १. एकान्ते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया॥ ९९ ॥ र. श्रा. ॥

अर्थ - *सामायिक किसी एकान्त स्थान - जहाँ मनुष्य पशु आदि का विशेष संचार नहीं हो ऐसे स्थान में, वन प्रदेश, घर, चैत्यालय आदि शान्त प्रदेश में प्रसन्न चित्त से एकाग्रता से जहाँ चित्त चञ्चल न हो ऐसे निरापद स्थान में सामायिक करने का अभ्यास करें। अधिक से अधिक उत्तरोत्तर बढ़ावें॥ ५ ॥*

२. अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके॥

अर्थ – *श्रावक सामायिक में विचार करें- चिन्तन करें कि यह संसार शरण रहित है, कोई शरण दायी नहीं है, अशुभ है, क्षणभंगुर है, विनाशीक है, जीवन-मरण व अशेष पदार्थ नाशोत्पाद करने वाले हैं, आत्म स्वरूप से सर्वथा भिन्न हैं, मोक्ष इससे पूर्ण भिन्न हैं। यहाँ अनन्त दुःख हैं तो मोक्ष में अनन्त सुख, आनन्द है। ऐसे कष्टदायी संसार से रहित हो मुझे उसी अविनाशी, अनन्त आत्मोत्थ सुख प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए॥ ६ ॥*

सामायिक काल में, सामायिक करने वाले के मोह नहीं होता है। अतः मात्र सामायिक काल में गृहस्थ मुनि के समान अवस्था को प्राप्त होते हैं॥ ७॥

◆ प्रोषधोपवास का लक्षण--

आठे चौदशि पर्व दिन, विषय कषाय अहार।
तजे दोय इक भुक्ति युत, गहि उपास व्रत सार॥ ८॥

अर्थ – एक माह में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी ये चार अनादि से ही पर्व कहलाते हैं। धर्म में अनुराग रखने वाला गृहस्थ एक माह में चार दिन तो सभी पाप के आरंभ और इंद्रियों के विषयों को त्याग करके, कषाय को नष्ट करके, सप्तमी और त्रयोदशी को एक बार भोजन करके चारों प्रकार के आहार का त्याग करके, व्रत शील संयम सहित उपवास धारण करे उसे ही प्रोषधोपवास जानो॥ ८॥

---

७. सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्ट मुनिरिवगृही, तदा याति यतिभावम्॥ १०२॥ र. श्रा. चा.।

अर्थ – श्रावक सामायिक के समय समस्त आरम्भ का त्याग होने से तथा शरीर पर वस्त्राभूषण के अतिरिक्त अन्य सर्व परिग्रह का त्याग कर देने से वह श्रावक वस्त्रलपेटा होने पर भी मुनि दिगम्बर साधु की समानता को प्राप्त होता है। अर्थात् उतने समय पर्यन्त निर्मल परिणामी होने से विशेष पुण्यार्जन और पापनाश करता है। अर्थात् उपसर्ग से ओढ़े हुए वस्त्र सहित मुनिराज की भाँति होता है॥ ७॥

८. १. पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्य्याणां, प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः॥ १०६॥ र. क. श्रा.

अर्थ – पर्वणि-चतुर्दशी और अष्टमी के दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना तथा अन्य भी दिनों में इच्छानुसार उपवास करना तथा पूर्व दिवस एवं अन्तिम दिन एक भुक्ति करना प्रोषधोपवास कहलाता है। प्रोषध का अर्थ है एकासन भोजन अर्थात् दिन में एक ही बार भोजन करना और चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। एकासन पूर्वक उपवास प्रोषधोपवास है। यथा सप्तमी को एक भुक्ति ...

• आहार के नाम–

स्वाद्य इलायची आदि गनि खाद्य कहे अनादि।
लेह्य रबड़ी इत्यादिक लखि, पेय दूध जल आदि ॥ ९ ॥

अर्थ – पर्व के दिनों में उपवास करने वाला श्रावक स्वाद्य अर्थात् स्वाद लेने वाले इलायची, सुपारी, लोंग औषधि आदि, खाद्य अर्थात् पेड़ा, लड्डू, पाक, आदि। लेह्य अर्थात् चटाने योग्य रबड़ी कलाकन्द आदि। पेय अर्थात् पीने योग्य जल, दूध, शरबत इत्यादि इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करते हैं ॥ ९ ॥

...अष्टमी को उपवास और नवमी को एक भुक्ति यह अष्टमी का प्रोषधोपवास हुआ। अन्यत्र भी इसी प्रकार समझना।

उपवास का विशेष स्वरूप-

२. कषायविषया हारो त्यागोयत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ॥

अर्थ – जहाँ चतुर्विध आहार के त्याग के साथ कषायों और भोगविषयों का भी त्याग होता है वह उपवास है। इसके अतिरिक्त केवल आहार का त्याग किया जाय वह उपवास नहीं, वह तो लंघन है। उदर रोगी को जैसे भोजन का त्याग कराकर लंघन कराया जाता है।

३. मुक्त समस्तारंभः प्रोषध दिन पूर्व वासरस्यार्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहायदेहादौ ॥

अर्थ – यहाँ प्रोषधोपवास ग्रहण की विधि बताई है। उपवास करने के पूर्व पहले दिन एक बार भोजन कर अगले दिन उपवास करने का नियम ग्रहण करे तथा शरीरादि से ममत्व त्यागे ॥ ८ ॥

९. मुद्गौदनाद्यमशनं क्षीर जलाद्यं जिनैः पेयम्।
ताम्बूल दाडिमाद्यं स्वाद्यं, खाद्यं च पूपाद्यम् ॥

अर्थ – मूंग, मूंग की दाल, भात आदि अशन है। दुग्ध, जल आदि पदार्थों को पेय कहते हैं। ताम्बूल-पान-सुपारी-इलायची आदि स्वाद्य कहे गये हैं जिनेन्द्र भगवान द्वारा इसी प्रकार पुआ-पपड़ी, पकौड़ी आदि को खाद्य नामक आहार कहा है ॥ ९ ॥

◆ प्रोषधोपवास में कर्तव्य–

प्रोषध दिन एकान्त थल जाप त्रिकाल कराय।
आलस निद्रा जीतकर, जिनपूजन स्वाध्याय ॥ १० ॥

अर्थ – उपवास करने वाला श्रावक किसी एकान्त स्थान में जाकर तीनों कालों में समता भाव रखता हुआ जाप करें तथा आलस और निद्रा को जीतकर पूरे दिन चैत्यालय या मंदिर में जाकर जिन पूजन और स्वाध्याय करें। अर्थात् धर्मामृत का पान स्वयं करें और दूसरों को करावें इस प्रकार धर्मध्यान पूर्वक अपना समय बितावें ॥ १० ॥

◆ इसका फल–

इस विधि वर सोलह पहर, पाप क्रिया सब त्याग।
अहिंसा व्रत का पूर्ण फल, पावत तव बड़भाग ॥ ११ ॥

अर्थ– जैसी विधि ऊपर बताई गई है, उसी के अनुसार जो श्रावक समस्त पाप और आरंभादि क्रियाओं का त्याग करके तथा तीनों योगों को वश में

---

१०. ताम्बूल गंध माल्या स्नानाभ्यंगादि सर्व संस्कारं।
ब्रह्मव्रतगत चित्तैः स्थातव्यमुपोषितैस्त्यक्ताः ॥

अर्थ – उपवास के दिन पान बीड़ा, गंध-उबटन, माला-फूलमाला, अभ्यंगस्नान अर्थात् तैलादि मर्दन आदि सर्व श्रृंगारों का त्याग करें, शुद्ध मन से ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर स्थिर चित्त रहना चाहिए ॥ तथा –

धर्मध्यानासक्तो वासरमंत बाह्य विहित सांध्य विधिं।
शुचि संस्तरे त्रियासंगमयेत् स्वाध्याय जितनिद्रः ॥

अर्थ – इसी प्रकार उपवास धारी धर्मध्यान में लीन होकर दिन को यापन कर अन्त में संध्या वन्दन विधि करके, पवित्र आसन पर आसीन हो बैठकर तीन प्रहर रात्रि को स्वाध्याय ध्यानादि से बिता अंतिम प्रहर में स्वल्प निद्रा ले। निद्रा को विजय करे ॥ १० ॥

करके ध्यान, पूजन, स्वाध्याय, धर्मचर्या आदि धर्म क्रियाओं में सोलह पहर व्यतीत करता है वही प्रोषधोपवास करने वाला श्रावक पूर्ण अहिंसा व्रत के फल को प्राप्त करता है, वही भाग्यशाली है ॥ ११ ॥

◆ भोगोपभोगपरिमाण का लक्षण–

भोग और उपभोग से राग घरावन हेत।
इन्द्रिय विषय का त्यागी नत व्रत यम नियम ग्रहेत ॥ १२ ॥

अर्थ – इन्द्रिय विषय का त्यागी गृहस्थ प्रतिदिन राग भाव को घटाने के लिये भोग और उपभोग की वस्तुओं का यम और नियम पूर्वक त्याग करता है, उसे भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत कहते हैं ॥ १२ ॥

---

११. इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्त सकल सावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसा व्रतं भवति ॥

अर्थ – उपर्युक्त विधि से विषय-कषाय-आरम्भादि का त्याग कर जो सोलह प्रहर का उपवास करता है, उसके उस काल में अहिंसाव्रत पूर्ण रूप से महाव्रत सदृश पूर्ण होता है। ऐसा ज्ञात कर विधिवत् प्रोषधोपवास करना चाहिए ॥ ११ ॥

१२. अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोग परिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ, रागरतीनां तनूकृतये ॥ ८२ ॥ र. क. श्रा.

अर्थ – दिग्व्रत में किये गये प्रमाण अर्थात् अवधि में भी प्रयोजनीय इन्द्रिय विषयो का भी प्रमाण करें, रागभाव को न्यून करना भोगोपभोग परिमाण नामका व्रत है।

भोगोपभोग त्याग व्रत में हिंसा क्यों ?

२. भोगोपभोग मूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तु तत्त्वं स्व शक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥

अर्थ – भोगोपभोग त्याग व्रत का धारी संयतासंयत नामक पंचम गुणस्थान का धारी होता है। इस गुणस्थान वर्ती त्रस हिंसा का त्यागी होता है इसलिए संयमी होता है, किन्तु स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग करने में असमर्थ होता है अतः इस अपेक्षा...

◆ **इसका निर्णय–**

भोजनादि इन्द्रिय विषय एक भोग सो भोग।
बार-बार के योग्य जो ताहि कहत उपभोग ॥ १३ ॥

अर्थ - जो पंचेन्द्रिय के विषय एक बार भोगने में आते हैं उन्हें भोग कहते हैं। जो वस्तु बार-बार भोगने में आवे उन्हें उपभोग कहते हैं ॥ १३ ॥

◆ **इसका दृष्टान्त–**

भोजनपान इलायची, इत्यादिक तो भोग।
वस्त्राभूषण आदि की वस्तु जानि उपभोग ॥ १४ ॥

अर्थ – भोजन, पान, इलायची इत्यादि वस्तु का एक बार ही सेवन किया जाता है इसलिए इसे भोग कहते हैं तथा वस्त्र, आभूषण, कुर्सी, कलम आदि वस्तुयें बार-बार भोगने में आती है इसलिए उनको उपभोग कहते हैं ॥ १४ ॥

.. में असंयत रहता है। इस प्रकार यह पाँचवां गुणस्थान संयता-संयत कहा है। इससे सिद्ध है कि स्थावर काय के जीवों की हिंसा का अवतार होने से पूर्ण अहिंसा नही होती। इस प्रकार आगम से वस्तु तत्त्व का यथार्थ स्वरूप अवगत कर शक्ति अनुसार त्रस स्थावर दोनों प्रकार की हिंसा के त्याग का प्रयत्न करना चाहिए। निष्प्रयोजन स्थावर हिंसा से भी बचे ॥ १२ ॥

१३. भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसन प्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः ॥ ८३ ॥ र. क. श्रा.

अर्थ – संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं - १. कुछ ऐसे हैं जिनका मनुष्य एक ही बार सेवन कर सकता है यथा भोजन, पान, तैल, उबटन आदि। दूसरे प्रकार के वे हैं जो बार-बार उपयुक्त हो सकते हैं यथा वस्त्र, शैया, स्त्री, आभूषण, मकान, दुकानादि। प्रथम प्रकार के पदार्थों को भोग और द्वितीय श्रेणी के पदार्थ उपभोग कहलाते हैं। अर्थात् जो पदार्थ एक बार भोगने में आवे वह भोग है और बार-बार भोगे त्यागे जाते हैं उसे उपभोग कहते हैं। यही दोनों में अन्तर है ॥ १३ ॥

◆ दैनिक नियम–

भोजन षट्रस लेप जल, पुष्प अरु गान।

ब्रह्मचर्य नृत्यादि अरु वस्त्राभूषण न्हान ॥ १५ ॥

अर्थ – भोगोपभोग परिमाण व्रत में नित्य ही इस प्रकार का नियम करना चाहिये, आज के दिन एक ही बार भोजन करूँगा या दो बार या तीन बार भोजन करने का परिमाण करना अथवा आज के दिन में षट् रसों में से एक या दो तीन चार रसों का सेवन करूँगा अर्थात् आज में चन्दन, केशर, कपूर आदि का लेप करूँगा या नहीं। मैं आज कितनी बार पानी पीऊँगा। रागवर्द्धक स्त्रियों के गीत आदि नहीं गाना। मैं कितने समय के लिए ब्रह्मचर्य व्रत धारण करूँगा तथा नृत्य देखने का भी नियम करना चाहिये। फूलों की माला आदि धारण करने का नियम करना चाहिये। पान खाने का भी नियम करना चाहिये। वस्त्राभूषण का नियम करना चाहिए आज में इतने वस्त्र आभूषण पहनूंगा अधिक नहीं। मैं आज एक बार या दो बार स्नान करूँगा या स्नान नहीं करूंगा इत्यादि नियम करना चाहिये। इस प्रकार अपने योग्य भोग उपभोग का भी नित्य नियम करने वाले के भोजन पानी करते हुए भी निरन्तर संवर होता है॥ १५॥

---

१४. ताम्बूल गंध लेपन मंजन भोजन पुरोगमो भोगः।
उपभोगो भूषा स्त्री शयनासन वस्त्र बाह्याद्याः॥

अर्थ – पान-बीड़ा, गंध-इत्रादि, लेपन-उबटनादि, मंजन-दांतुन, भोजन आदि पदार्थ भोग कहलाते हैं और स्त्री, आभूषण, पोषाक, शैया, आसन, वस्त्र, वाहनादि उपभोग कहे जाते हैं॥ १४॥

१५. भोजन षट्रसे पाने, कुंकुमादि विलेपने।
पुष्प, ताम्बूल गीतेषु नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके।
स्नान भूषण वस्त्रादौ वाहने शयनासने।
सचित्त वस्तु संख्यादौ प्रमाणं भज प्रत्यहं॥...

◆ अन्य भी–

वाहन शयनासन तथा, अन्य भी वस्तु सचित ।

भोगोपभोग प्रमाणि नित, त्यागे अन्य समस्त ॥ १६ ॥

अर्थ – इस प्रकार वाहन का भी नियम करना चाहिए कि मैं आज रेल, बस, हवाई जहाज, स्कूटर किसमें कितनी बार बैठूँगी या नहीं। मैं आज किसमें शयन करूँगी उसका नियम करना चाहिये। चटाई, पलंग, गद्दा, तकिया आदि का। और भी जो सचित्त वस्तुएँ हैं उनका भी नियम करना चाहिये। इस प्रकार भोगोपभोग व्रत का प्रतिदिन प्रमाण करके अन्य सभी वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिए ॥ १६ ॥

...अर्थ – श्रावकों को अपनी दैनिक चर्या शुद्धि के लिए प्रतिदिन कुछ नियमो का पालन करना आवश्यक है। वे नियम इस प्रकार हैं – १. भोजन कितनी बार करना, २. छहों रसों का अथवा एक, तीन, चार आदि का त्याग करना, ३. पान-शर्बत, ठंडाई, काढ़ा आदि पेय कितनी बार लेना-कितने लेना, ४. कुंकुम-चन्दनादि लगाना या नहीं, ५. उबटन-क्रीम-पाउडर का त्याग, ६. पुष्प या पुष्पमाला धारण करना अथवा नहीं व कितनी, ७. पान-बीड़ा चबाना व नहीं, ८. गीतादि गाना-सुनना के सम्बन्ध में नियम, ९. नृत्य कराना-करना, १०. ब्रह्मचर्य पालन व नहीं, १०. स्नान कितनी बार करना, ११. आभूषणों का प्रमाण, १२. वस्त्रों का प्रमाण, १३. वाहनो की सीमा, १४. शैया, १५. आसन प्रमाण, १६. सचित्त वस्तु, १७. संख्या गिनती करना। इस प्रकार ये १७ नियम प्रतिदिन प्रातः निश्चित कर दिन में दृढ़ता से पालन करना चाहिए। इसी प्रकार रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी उपदिष्ट हैं॥ १५ ॥

१६. नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोग संहारात् ।

नियमः परिमित कालो, यावज्जीवन यमो ध्रियते ॥ ८७ ॥ र. क. श्रा. ।

अर्थ – भोग और उपभोग की सामग्री सम्बन्धी व्रत विधान दो प्रकार से किया जाता है –१. नियम रूप से और २. यम रूप से। निश्चित काल की मर्यादा-घंटा, ..

◆ व्रत का लक्षण–

अनिष्ट अयोग्य असेव्य का त्याग आप ही होय।

पुनि इष्टादि का त्याग ही, वास्तव में व्रत जोय॥ १७॥

अर्थ – जो वस्तु है तो शुद्ध किन्तु जिसके खाने से अपने शरीर में वेदना हो जाती है वह वस्तु अनिष्ट है उसका त्याग करना चाहिए। जो वस्तु निंद्य है जिसका सेवन सत्पुरुष नहीं करते हैं। उसे असेव्य कहते हैं ऐसी वस्तु का भी त्याग करना चाहिए। लेकिन जो वस्तु हमको इष्ट है जिनका सेवन सभी सत्पुरुष लोग करते हैं ऐसी वस्तु का भी त्याग करना वास्तव में व्रत है॥ १७॥

◆ यम नियम का स्वरूप–

घंटे दिन पक्षादि युत त्याग नियमव्रत जोय।

जीवनांत किसी वस्तु का त्याग ही यम व्रत होय॥ १८॥

...प्रहर, दिन, माह, वर्ष आदि के लिए विषयभोग सामग्रियों के सेवन का त्याग करना नियम कहा जाता है और यावज्जीवन त्याग करना यम कहलाता है। अर्थात् जो व्रत काल की मर्यादा पूर्वक धारण किया जाता है वह नियम है और जीवन पर्यन्त के लिए धारण करना यम है॥ १६॥

१७. यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।

अभिसन्धि कृता विरतिर्विषयाद्योग्यात् व्रतं भवति॥ ८६॥

अर्थ – *१. जो अनिष्ट अर्थात् अपनी प्रकृति के विरुद्ध हों, अर्थात् भक्ष्य होने पर अपने स्वास्थ्य के प्रतिकूल पदार्थों का त्याग करना चाहिए क्योंकि अपना अनिष्ट करने वाले हैं। २. जो अनुपसेव्य हैं अर्थात् सेवन करने योग्य नहीं हैं उनका भी त्याग करना चाहिए। क्योंकि त्यागने योग्य विषयों का अभिप्राय पूर्वक त्याग करना ही व्रत कहलाता है॥ १७॥*

अर्थ - जिस भोग उपभोग का एक घंटे, एक दिन, १५ दिन इत्यादि समय की मर्यादा पूर्वक त्याग करना वह नियम नाम का परिमाण है। और जिस भोग उपभोग की वस्तु का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग किया जाता है उसे यम परिमाण कहते हैं॥ १८ ॥

◆ **इसका फल–**

इस विधि परमान करि, तजत भोग उपभोग
वह अघि के अघ से बचे, तृष्णा हेतु वियोग ॥ १९ ॥

अर्थ - ऊपर कही हुई विधि के अनुसार जो भोग और उपभोग का प्रमाण करके बाकी सभी वस्तुओं का त्याग कर देता है। वह श्रावक तृष्णा के बढ़ाने में जो कारण ऐसे परिग्रह के पाप से वह बच जाता है॥ १९ ॥

---

१८. विषय विषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषाऽनुभवौ।
भोगोपभोगपरिमा व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ ९० ॥ र. क. श्रा.।

अर्थ - १. विषयरूपी विष में आदर रखना, २. पूर्व भोगे भोगों का स्मरण करना, ३. वर्तमान विषय भोगों में तीव्र लोलुपता राग रखना, ४. विषयों की प्राप्ति के लिए आसक्ति पूर्वक प्रयत्नशील रहना और ५. विषयानुभव में अति आनन्द मानना ये भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार हैं, इनका त्याग करना चाहिए॥ १८ ॥

१९. इति यः परिमित भोगैः संतुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
समन्यतर सीमा प्रतिदिवस भवति कर्त्तव्यम् ॥

अर्थ - जो भव्य आत्म परिणाम निर्मल करने का अभिलाषी है उसे अपनी आवश्यकतानुसार भोगों की सीमा कर अन्य बहुत से भोगों का त्याग कर देना चाहिए। नियमबद्ध होने से उसका फल प्राप्त होता है अन्यथा उपभोग नहीं करने पर भी उनसे उत्पन्न होने वाले पाप का भागी होता रहता है। अतएव श्रावक को प्रतिदिन सीमा कर ही भोगोपभोग सामग्री का उपयोग करना चाहिए॥ १९ ॥

* **अतिथि संविभाग का लक्षण–**

गुण संयम नहीं नाशि जो विन तिथी आय।
उसे दान अशनादि दे संविभाजि नत काय ॥ २० ॥

अर्थ – जिस मुनि के २८ मूलगुण और १२ प्रकार के संयम का नाश नहीं हुआ ऐसा मुनि बिना तिथी के श्रावक के घर उसे नवधा भक्ति पूर्वक आहार दान देना ही अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है ॥ २० ॥

* **इसके भेद –**

मुनि श्रावक व्रती अव्रती, सम्यग्दृष्टीसुपात्र।
उत्तम मध्याधम अतिथी, कुपात्र अपात्र ॥ २१ ॥

अर्थ – जिस आत्मा में रत्नत्रय की प्रगटता हो चुकी है वही आत्मा पात्र कहा जाता है। पात्र के तीन भेद हैं। उत्तम पात्र, मध्यम पात्र, जघन्य पात्र। जो

---

२०. १. ज्ञानादि सिद्ध्यर्थं तनु स्थित्यर्थान्नाय यः स्वयम्।
यत्नेनातति गेहं वा न तिथियेस्य सोऽतिथिः ॥

अर्थ *– जो अपने ज्ञानादि की वृद्धि करने अर्थात् आगमाध्ययन के लक्ष्य से, शरीर की स्थिति रखने के लिए, संयम साधनार्थ, जिन शासन की प्रभावनार्थ, षट् कर्म पालन के लिए जो आगमानुसार यत्नेन श्रावक के घर आहार को जाता है उसे अतिथि कहते हैं अथवा जिसके आने की कोई तिथि निश्चित नहीं होती उसे अतिथि कहते हैं। अतिथि सेवक कौन ?*

२. अतिथिः प्रोच्यते पात्र दर्शन व्रत संयुतम्।
तस्मै दानं व्रतंतत्सादतिथि संविभागकः ॥

अर्थ *– दर्शन-सम्यग्दर्शन सम्पन्न अतिथि पात्र कहलाता है। जो श्रावक ऐसे अतिथियों को नियम से आहार दान प्रदान करता है, वह अतिथि संविभाग व्रत पालन करता है यही अतिथिसंविभाग व्रत कहा जाता है ॥ २० ॥*

सकलसंयमी आचार्य, उपाध्याय, साधु वे उत्तम पात्र कहे जाते हैं। जिनके एक देश चारित्र हो ऐसे पंचम गुण स्थान वर्ती श्रावक मध्यम पात्र कहे जाते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्र है। जो मनुष्य श्रावक के व्रतों को तो पालते हैं परन्तु देव, शास्त्र, गुरु में श्रद्धा नहीं रखते वे सब कुपात्र हैं। जो सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनों से रहित हों अर्थात् जैनों से भिन्न जितने भी हैं वे सब अपात्र हैं॥ २१ ॥

◆ **उत्तम दान–**

सुगुण ध्यान की वृद्धि का साधक उत्तमदान।
भोजन विद्या औषधी, चौथा अभयपिछान॥ २२ ॥

अर्थ – संसार में यदि हमको अच्छे गुणों की प्राप्ति करना है और उन गुणों से हमारे ज्ञान ध्यान की वृद्धि हो उसके लिए हमको दान देना चाहिए। वह दान चार प्रकार का है। १. आहार दान, २. ज्ञान दान, ३. औषध दान, ४. अभय दान॥ २२ ॥

---

२१. उत्कृष्ट पात्रमनगार मणुव्रताढ्यं मध्यमव्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यं।
निर्दर्शितं व्रतनिकाय युतं कुपात्रं, युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि॥

अर्थ – अनगार-निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज उत्तम पात्र हैं, अणुव्रतधारी, क्षुल्लक-क्षुल्लिका मध्यम पात्र हैं। व्रत रहित सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्र है। सम्यक्त्व रहित व्रत सहित कुपात्र हैं और सम्यग्दर्शन तथा व्रत दोनों से रहित अपात्र कहलाता है। श्रावकों को पात्रभेद ज्ञातकर दान देना चाहिए॥ २१ ॥

२२. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणो।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं विदुः॥

अर्थ – १. दान देना चाहिए क्योंकि यह श्रावक का कर्तव्य है। परन्तु कैसे देना? देश, काल-ऋतु व पात्र की स्थिति के अनुसार उनके अनुकूल अर्थात् पात्र ...

◆ आहार दान–

भू वे गुणी सुपात्र को नित दे भोजनदान।
भोगभूमि स्वर्गादि सुख इस जग लहे यशमान ॥ २३ ॥

अर्थ – जो गृहस्थ इस भूमि पर प्रतिदिन सुपात्र को आहार दान देता है उस गृहस्थ को उत्तम भोग भूमि के सुख प्राप्त होते हैं, फिर वहाँ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और इस जगत में यश भी मिलता है ॥ २३ ॥

...की प्रकृति, अवस्था, स्थिति का परिक्षण कर तद्नुसार पदार्थ देना चाहिए। वही सात्विक दान होगा।

२. "**अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गोदानं** ॥ मो. शा. सू. ३८ अ. ७।

अर्थ *– उपकार करने वाले अपने धन को प्रदान करना देना दान कहलाता है। अभिप्राय है कि जिन वस्तुओं के दान द्वारा दाता और पात्र दोनों का उपकार हो, आत्मकल्याण में सहायक हो वही यथार्थ दान है।*

३. **अभीतिरभयादाहुराहाराद्भोगवान् भवेत्।**
आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं शास्त्राद्धि श्रुतकेवली ॥

अर्थ *– अभयदान देने से निर्भयता प्राप्त होती है, योग्य शुद्ध प्रासुक आहार दान देने का फल भोगोपभोग की सामग्री का अधिकारी होता है, प्रासुक योग्य औषध दान दाता को नीरोग शरीर प्राप्त होगा अर्थात् आरोग्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार शास्त्रदान-ज्ञानदान से श्रुतकेवली होता है अर्थात् ज्ञानावरणी कर्म का प्रकृष्ट क्षयोपशम प्राप्त होता है। इस प्रकार चतुर्विध संघ को चार प्रकार के दान का फल चतुर्विध प्राप्त होता है। अतः दान भक्ति श्रद्धा से अवश्य देना चाहिए ॥ २२ ॥*

२३. तुरगशत सहस्रं गोकुलं भूमिदानं, कनक रजत पात्रं मेदिनीं सागरांता।
सुर युवति समाना कोटिकन्या प्रदानं, न भवति समानमन्नदानात्प्रधानम् ॥

अर्थ *– आहार दान की महिमा बताते हुए आचार्य कहते हैं, यदि कोई लाखों अश्व व गायों का दान दे, सागरांत भूमि दान में दे दे, सोने-रजत के अनेकों पात्र प्रदान..*

◆ विद्यादान–

शास्त्र सु विद्यादान से सुख लहे पात्र निकाय।
निज पर ज्ञान की वृद्धि से पूरण ज्ञान लहाय ॥ २४ ॥

अर्थ – जो दातार उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्र को शास्त्र का दान देता है। वह पर के ज्ञान की वृद्धि एवं अपने भी ज्ञान की वृद्धि करता हुआ उस दान से केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है ॥ २४ ॥

◆ औषधि दान–

तनहित औषधिदान से रोग जाय सब भाग।
परभव में तनमदन सम वह पावे बड़भाग ॥ २५ ॥

अर्थ – जिस प्रकार सूर्य के शरीर से अन्धकार दूर भागता है। और अग्नि के शरीर से शीत दूर भागता है। उसी प्रकार औषधिदान देने वाले गृहस्थ के शरीर से रोग दूर भाग जाता है। उस दान के प्रभाव से वह दातार परभव में कामदेव के समान सुन्दर शरीर को धारण करता है। वही भाग्यशाली है ॥ २५ ॥

...करदे, भूमिदान करे, देवांगनाओं के समान सुन्दर करोड़ों कन्या दान करे तथाऽपि अन्नदान-आहार दान इन सब दानों से बढ़कर फल देने वाला होता है। अभिप्राय यह है कि संसार में प्राण सर्व प्राणियों को प्रिय होते हैं उनका रक्षक अन्न-आहार है। अतः आहार दान जीवन दान है इसीलिए सर्वोपरि है ॥ २३ ॥

२४. १. अन्नदानं परमदानं विद्यादानमतः परम्।
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवं तु विद्यया ॥

२. विद्याधर्म सर्व धन प्रधानम् ॥

३. अन्यस्मिन्भवे जीवो बिभर्ति सकलं श्रुतम्।
मोक्ष सौख्यमवाप्नोति शास्त्रदान फलाक्षरः ॥

अर्थ – १. अन्नदान उत्तम दान है, तथाऽपि विद्यादान-ज्ञानदान उससे भी..

◆ **अभयदान**–

भीतदीन दुखियान के जो दुख करता दूर।
अभयदान उपकार से, वह हो निर्भय शूर ॥ २६ ॥

अर्थ – जो दातार संसार में दुखीजन है, उनका दुख दूर करते हैं अर्थात् जिनको रहने के लिए घर नहीं है उन्हें घर दिलवाना, जिनको खाने के लिए नहीं है उनके भोजन की व्यवस्था करना, जिनके पास व्यापार नहीं है उनको व्यापार करवाना इस प्रकार जो अपने साधर्मी भाई है उनको दानादि देकर जो उपकार करता है वह दातार निर्भय होकर शूरवीर होता है ॥ २६ ॥

...अधिकतर, श्रेष्ठतर है, क्योंकि अन्नदान-आहारदान शरीर जन्य बुभुक्षा शान्त होती है और वह भी कुछ समय के लिये ही तृप्ति होती है, पुनः वह पीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। ज्ञानदान से उपार्जित ज्ञानावरण कर्म का क्षायोपशम वृद्धिंगत होने से निर्मल सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होती है जो आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव स्वभावी से कभी पृथक् होता नहीं अतः वह ज्ञान भाव जीवन भर बना ही रहता है। और भी–

२. "विद्या धन सर्व सम्पदाओं में श्रेष्ठ है। उत्तमोत्तम है।" विशेष देखिये –

३. ज्ञान दाता – शास्त्रदान प्रदाता वर्तमान भव में ही समस्त श्रुत का धारी होता है अर्थात् श्रुतकेवली होता है। आगे कुछ ही भवों में शीघ्रातिशीघ्र अक्षय मोक्ष सुख प्राप्ति का साक्षात् कारण केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः निरंतर ज्ञान दान-विद्यादान-सम्यक् विद्या दान करना चाहिए। यह अमरत्व पाने का सरल उपाय है ॥ २४ ॥

२५. रोगिणो भैषजं देयं रोगो देह विनाशकः।
देहनाशे कुतोज्ञानं ज्ञानाभावे न निर्वृत्तिः ॥

***अर्थ** – औषध दान देने से पात्र का रोग नष्ट होता है। रोग शरीर का घातक है, मृत्यु का कारण है। शरीर के नाश होने पर ज्ञानाप्ति कहाँ ? ज्ञान के अभाव में मुक्ति असंभव है। इससे सिद्ध होता है कि औषधदान से आरोग्यदान, ज्ञानदान, अभयदान और मुक्तिदान भी दिया ऐसा समझना चाहिए। यह दान वैयावृत्ति अंतरंग तप भी है ॥ २५ ॥*

◆ **कुदान निषेध–**

कनक अश्व तिल नाग, रथ, दासी कन्यादान।

घर कपिला गऊ विषयद तज दश दान॥ २७॥

अर्थ – जिसके देने से जीव मारे जावे, जिससे रागभाव बढ़ें, जिससे भय उत्पन्न हो, जिससे आरम्भ बढ़े, दुःख उत्पन्न हो ऐसी वस्तु जैसे सोना, घोड़ा, तिल, सर्प, रथ, दासी, कन्यादान, गृह जमीन, कपिला गाय ये धर्म की दृष्टि से दान देने योग्य नहीं है॥ २७॥

◆ **नवधाभक्ति–**

पड़गाहे उच्चयान दे, पाद धोय अर्चिनाय।

---

२६. १. न भूदानं न सुवर्णदानं न गो प्रदानं न तथा प्रदानम्।
यथा वंदतीह महाप्रदानं सर्वेषु दानेष्वभय प्रदानम्॥

अर्थ – यहाँ बताते हैं कि समस्त दानों में श्रेष्ठ–प्रधान–सर्वोत्तम दान अभय दान है – भूमिदान, सुवर्णदान, गौदान तथा अन्य भी जितने दान संभव हैं उनमें महापुरुषों ने अभयदान कहा है।

२. गोदानं हिरण्यदानं च भूमिदानं तथैव च।
एकस्य जीवितं दद्यात्फलेन न समं भवेत्॥

अर्थ – गायों का दान, सुवर्ण के दान और विशाल भूमिदान सर्वदान एक और एक प्राणी को जीवन दान देना समान है। जीवन तीन लोक का सम्पदा से अधिक है। इसीलिए तो अहिंसा परमोधर्म कहा गया है॥ २६॥

२७. हिंसार्थत्वान्न भूगेह लोहनोऽश्वादि नैष्ठिकः।
दद्यान्न ग्रह संक्रान्ति श्राद्धादौ च सुदृढे गुहि॥

अर्थ – नैष्ठिक श्रावक हिंसाकर्म हेतु तलघर, तहखाना, लौह शृंखला अश्वादि नाल आदि दान में नहीं दे और ग्रहण संक्रान्ति पर्व, श्राद्धकर्म आदि में दान नहीं देना चाहिए। अर्थात् दान नहीं देवें॥ २७॥

योग शुद्धि से मुनिन को भोजन शुद्ध कराय ॥ २८ ॥

अर्थ - साधु को आता हुआ देखकर उनका पड़गाहन करें, उच्च स्थान पर बिठावें, पाद प्रक्षालन करें, पूजन करें, मन-वचन-काय इन तीनों की शुद्धि रखें और शुद्ध आहार देवें ॥ २८ ॥

◆ **इसका फल–**

अल्पदान भी समय पर, यदि सुपात्र को देय।
सुखकर वट के बीज सम छाया विभव फलेय ॥ २९ ॥

अर्थ - जिस प्रकार उत्तम क्षेत्र में बोया गया छोटा सा वट का बीज जीवों को समय पर बहुत छाया देता है उसी प्रकार सत्पात्र को समय पर दिया हुआ अल्पदान भी महान फल को देता है ॥ २९ ॥

---

२८. प्रतिग्रहोच्चस्थानांघ्रिक्षालनार्चनतो विदुः।
योगान्नशुद्धिश्च विधीन्नवादर विशेषतान् ॥

अर्थ - श्रावक नवधाभक्ति से मुनिराज व आर्यिका माताओं तो आहारदान देता है। वे इस प्रकार हैं - १. पड़गाहन करना, २. उच्चासन प्रदान करना, ३. चरण प्रक्षालन करना-धोना, ४. पूजा करना, ५. मन शुद्धि, ६. वचन शुद्धि, ७. काय शुद्धि, ८. अन्न या आहार शुद्धि बोलना तथा, ९. विशेष आदर-नमस्कार करना। ये नव प्रकार नवधाभक्ति जानना चाहिए ॥ २८ ॥

२९. सन्नरे योजितं कार्यं धनं च शतधा भवेत्।
सुक्षेत्रे चार्पितं यद्वत्सस्यं तद्वदसंशयं ॥

१. अर्थ - उत्तम - उपजाऊ भूमि में बोया हुआ बीज जिस प्रकार हजार गुणा फलदेता है उसी प्रकार सज्जन पुरुष को प्रदत्त कार्य तथा धन भी सैंकड़ों गुणित फल प्रदान करता है।

२. क्षितिगतमिव वट बीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छाया विभवं, बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ ११६ ॥ र. क. श्रा.।

◆ **कुपात्र अपात्र का लक्षण–**

सम्यग्दर्शन से रहित व्रत तपवान कुपात्र।
दोऊ बिन हिंसक दुर्व्यसीन जिद्दी दुष्ट अपात्र ॥ ३० ॥

अर्थ – जिनकी आत्मा में सम्यग्दर्शन तो न हो परन्तु जो चारित्र का पालन करते हों वे कुपात्र कहलाते हैं। जो निर्दय होकर प्राणियों को मारता है, परस्त्री का सेवन करता है जो मद्य को पीता है, बात-बात में जिद्दी स्वभाव का है, इन्द्रियों के विषयों का लोलुपी है ऐसे पुरुष को अपात्र कहते हैं ॥ ३० ॥

◆ **इसका फल–**

दान कुपात्र को देन से फल कुभोग भू होय।
ऊसर बोये बीज सम, अद्य अपात्र फल जोय ॥ ३१ ॥

अर्थ – कुपात्रों को दान देने से मनुष्य कुभोगभूमि में जाता है। जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोया गया बीज फलीभूत नहीं होता अर्थात् फल को देने वाला नहीं होता उसी प्रकार अपात्र को दिया गया दान पुण्यरूपी फल को देने वाला नहीं होता है ॥ ३१ ॥

---

*...**अर्थ** – जिस प्रकार पृथ्वी में बोया हुआ अत्यन्त छोटा सा भी वट का बीज गहन-सघन छाया प्रदान करने वाला विशाल वृक्ष फलता है उसी प्रकार यथा समय उत्तम, मध्यम, जघन्य सुपात्रों को अल्पदान भी महानफल को प्रदान करता है। अर्थात् दाता स्वर्गादि के मधुर फल पाता है क्रमशः मुक्ति ही पा लेता है। भोग भूमि का वैभव सुलभ प्राप्त होता ही है ॥ २१ ॥*

३०. अणुव्रतादि सम्पन्नं कुपात्रं दर्शनोज्झितं।
तद्दानेवाश्नुते दाता कुभोग भूमिभवं सुखम् ॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन विहीन अणुव्रत धारी कुपात्र कहलाता है। इसको (कुपात्र) दान देने वाले दाता को कुभोग भूमि जन्य सुख मिलता है अर्थात् बिना श्रम किये मधुर मिट्टी, कोमलाघासादि की प्राप्ति होती है ॥ ३० ॥

◆ **अतिथि संविभाग का फल–**

रूधिर सने जिमि वस्त्र को, स्वच्छ करे जलधार।
तिमि गृह संचित पाप को, अतिथि करे सब छार॥ ३२॥

अर्थ – जिस प्रकार खून से अपवित्र वस्त्र को निर्मल जल धोकर स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार गृह त्यागी देशव्रती, सकलव्रती अतिथियों के लिये दिया गया दान निश्चय करके अपने घर में उपार्जित पाप कर्मों को नष्ट कर देता है॥ ३२॥

◆ **व्रतों का उपसंहार–**

अणुव्रत रक्षण निमित जो, पालत सातो शील।
स्वर्गादिक सुख तासु ढिंग, आते करत न ढील॥ ३३॥

---

३१. अपात्रमाहुराचार्याः सम्यक्त्व व्रत वर्जितम्।
तद्दानं निष्फलं प्रोक्तमूषर क्षेत्रभूमि बीजवत्॥

अर्थ *– आचार्य कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शन और व्रत दोनों से रहित है वह अपात्र है, इस अपात्र को दिया हुआ दान निष्फल-व्यर्थ जाता है। जिस प्रकार ऊषर-बंजर भूमि में बोया उत्तमबीज भी व्यर्थ जाता है-नष्ट हो जाता है। अतः अपात्रदान नही देना चाहिए॥ ३१॥*

३२. १. गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृह विमुक्तानाम्।
अतिथिनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि॥ ११४॥ र. क. श्रा.।

अर्थ *– जिस प्रकार रक्त से लथ-पथ सने हुए वस्त्र को निर्मल नीर स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार गृहस्थ षट्कर्मों के पालन व पंचशूना - १. चक्की, २. चूल्हा, ३. ओखली, ४. बुहारी-झाडू और ५. परेण्डा-पानी रखने का स्थान से उत्पन्न पापों को सत्पात्रों को प्रदत्त दिया दान धो देता है। सत्पात्र दान पापनाशक और पुण्यवर्द्धक कहा है।*

२. हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्माद‍तिथि वितरणं हिंसा व्युपरमणमेवेष्टम्॥ १७२॥ पु. सि.

अर्थ *– दान देने में हिंसा का त्याग होता है, इस श्लोक में यही वर्णन किया है।..*

अर्थ - व्रती श्रावक अणुव्रतों के रक्षणार्थ तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार सात शील व्रतों का निरतिचार पूर्वक पालन करता है। वह श्रावक शीघ्र ही स्वर्गादिक सुखों को प्राप्त करते हुए अतिशीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। उसको मोक्ष प्राप्त करने में देर नहीं लगती है॥ ३३ ॥

◆ **इति सप्तम अध्याय का सारांश–**

शिक्षाव्रत आचार से, शुद्ध आतमा होय।

महावीर यह व्रत विधी, रचो शास्त्र लखि सोय॥ ३४ ॥

अर्थ - जो श्रावक निरतिचार पूर्वक शिक्षाव्रतों का पालन करता है, उस श्रावक के व्रत उपचार रूप से महाव्रत के समान हो जाते हैं एवं उसकी आत्मा परम्परा से शुद्ध हो जाती है। इस प्रकार आचार्य गुरूदेव महावीरकीर्ति जी महाराज ने यह व्रत विधि विधान का शास्त्र लिखा है॥ ३४ ॥

इति सप्तम अध्याय

...कारण कि लोभ हिंसा की पर्याय है, दाता इस लोभ का त्याग कर ही दान देता है- कृपण दान दे नहीं सकता। अस्तु अतिथियों-महाव्रतियों को दान देने में हिंसा का त्याग होता है। कहा भी है "यतः अत्र दाने हिंसा पर्यायः लोभः निरस्यते अतिथि वितरणं हिंसा व्युपरमणमेव इष्टम्"। दान में हिंसा का पर्याय लोभ नष्ट होता है इसलिए दान हिंसा से रहित ही होता है। पात्रदान अवश्य करना चाहिए॥ ३२ ॥

३३. पंचाणुव्रत पुष्ट्यर्थं पाति यः शील सप्तकं।

व्यतीचार सद्दृष्टिः सव्रतिकः श्रावकोत्तमः।

अर्थ *- जो भव्य, संसार भीरू अपने पाँच अणुव्रतों को पुष्ट करने के लिए सात शीलों, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का भी निरतिचार पालन करता है वह सम्यग्दृष्टि उत्तम व्रती श्रावक-द्वितीय व्रत प्रतिमाधारी कहलाता है। अर्थात् बारह व्रतों का निरतिचार पालक श्रावक व्रती श्रावक है॥ ३३ ॥*

❀ अथ अष्टम अध्याय ❀

◆ **सल्लेखना का लक्षण–**

तन कषाय कृष करन का है सल्लेखन नाम।

मृत्यु समय श्रावक करें, विधिवत् शुभ परिणाम॥ १॥

अर्थ – तन को और कषाय को कृष करने का नाम सल्लेखना है। मृत्यु के समय श्रावक निरन्तर शुभ परिणामों के हो जाने से सल्लेखना की भावना भानी चाहिए।

भावार्थ - सत्+लेखना = सल्लेखना। सत् = सम्यक् प्रकारेण - 'स्वर्गादिफल निरपेक्षत्वेन' = लेखना = काय कषाययोः कृषीकरणं इति सल्लेखना अर्थात् स्वर्गादि फल की इच्छा से रहित होकर समताभाव पूर्वक कषाय और शरीर के क्षीण करने को सल्लेखना कहते हैं। 'सल्लेखना के दो भेद' काय सल्लेखना और कषाय सल्लेखना।

१. उपवास आदि एवं काय क्लेश के द्वारा शरीर मात्र को कृष करना काय सल्लेखना है। २. कषायों का कृश करना कषाय सल्लेखना है। मोक्षमार्ग में दोनों ही सल्लेखना आवश्यक व हितकारी है। कारण शरीर के त्याग के साथ-साथ कषायों का त्याग भी अत्यन्त आवश्यक है, कषायों के त्याग के बिना कभी भी समता भाव जागृत नहीं हो सकता और समता भाव के बिना समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती है॥ १॥

---

१. "मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता।" २२॥ सू. अ. ७.॥

अर्थ – *व्रती उदासीन श्रावक अपने मरणकाल आने पर प्रीतिपूर्वक सल्लेखना समाधिमरण करता है।*

-उपुर्युक्त सूत्र की व्याख्या - स्व परिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां..

◆ **इसका समय**–

यत्नरहित उपसर्ग रुज, जरा भीति दुष्काल।
लखि सविधि धर्मार्थ तव, सल्लेखन व्रत पाल॥ २॥

अर्थ – यत्न रहित उपसर्ग आने पर, असाध्य रोग होने पर, वृद्धावस्था आने पर, भयंकर दुष्काल पड़ने पर धर्म के लिये विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से सल्लेखना व्रत पालना चाहिए।

भावार्थ – प्रतिकार रहित देव, मनुष्य, तिर्यंच व अचेतन कृत कोई घोर उपसर्ग आ जाने पर जिसका कोई इलाज नहीं ऐसा रोग हो जाने पर जब अपने आवश्यक कर्त्तव्य एवं चर्या का सही तरह से पालन नहीं हो पा रहा हो ऐसी

...च कारणवशात् संक्षयः मरणं। मरणान्तः प्रयोजनमस्य इति मारणान्तिकीं। सम्यक्काय कषाय लेखना सल्लेखना। राग-द्वेष मोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरण प्रयोग वशादात्मानं घ्नतः स्वघातो (अपघातो) भवति। न च सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति इति ततो न तस्य स्वात्मवध दोषः॥

अर्थ – *अपने परिणाम विशेष से प्राप्त आयु इन्द्रियाँ और बल का कारण वशात् क्षय होना मरण कहलाता है। इन्द्रियाँ पाँच और मन, वचन, काय ये तीन बल आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण हैं, इनका वियोग होना मरण है। मरण के साथ 'अन्त' पद क्यों है? मरण-उसी भव में मरण का ज्ञात करना अन्त का प्रयोजन है, मरण ही उसका प्रयोजन हो वह मारणान्तिकीं है। सल्लेखना क्या है? सम्यक् प्रकार से शरीर और कषायों को कृश-क्षीण करना सल्लेखना है। यदि स्वयं शरीर को क्षीण करना है तो यह आत्मघात हुआ? इस प्रश्न का उत्तर है - आत्मघात में राग-द्वेष, मोह के वशीभूत होकर कटु अभिप्राय से प्राण त्याग करता है। सल्लेखना में न राग है, न द्वेष व मोह न कोई आवेश अपितु हर्ष, आनन्द एवं स्वेच्छा से आत्मसिद्धि का उद्देश्य रहता है। अतः सल्लेखना आत्मघात हत्या नहीं अपितु आत्म स्वरूप प्राप्ति का आह्वान है जो अवश्य करणीय कर्त्तव्य समझना चाहिए॥ १॥*

वृद्धावस्था आ जाने पर किसी प्रकार भी जिनका निवारण न हो सके और जो मृत्यु का ही कारण जान पड़े ऐसा दुष्काल पड़ जाने पर, रत्नत्रय धर्म की रक्षा के लिये भले प्रकार विधि सहित सल्लेखना व्रत धारण करना चाहिए।

यहाँ शंका हो सकती है कि - क्या सल्लेखना आत्महत्या नहीं है ?

आचार्य कहते हैं - नहीं है। क्योंकि मरण के साथ आचार्यों ने यहाँ समाधि विशेषण अधिक जोड़ा है। मरण तो आयु का अन्त आने पर शरीर का छूटना है और समाधिमरण - समाधिपूर्वक मरण में आत्मा की प्रायः पूर्ण सावधानी रहती है। मोह व क्रोधादि कषायों को जीता जाता है, इंद्रियों को वश में कर चित्त की शुद्धि की जाती है। अतः इन सब कारणों से सल्लेखना या समाधि आत्महत्या नहीं अपितु कायादि विकारी भावों पर प्राप्त की गई विजय है। और आत्महत्या - आयु का अन्त नहीं आने पर भी क्रोधादि कषाय के आवेश में या मोह के वशीभूत होकर, विष खाकर, छुरी भोंककर, जल में कूदकर, अग्नि में जलकर, शस्त्र चलाकर स्वयं मरता है वह नियम से आत्महत्या है। इसलिये जिसके तीव्र कषाय और प्रमाद योग है वही आत्मघाती है। सल्लेखना मरण करने वाला न तो मरण चाहता है और न मरने की चेष्टा ही करता है। वह तो केवल मरण समय निश्चित जानकर कषाय एवं शरीर को शांत भावों से कृष करता हुआ सल्लेखना धारण करता है। अतः वह आत्महत्या नहीं है ॥ २ ॥

---

२. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निः प्रतीकारे।
धर्माय तनु विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ १२२ ॥ र. क. श्रा.।

अर्थ - गणधर देव भगवन्त घोर उपसर्ग आने पर, अत्यन्त वृद्धावस्था जो संयम में घातक हो आ जाये और असाध्य रोग - जिसका उपचार असंभव हो उस समय संयम धर्म की रक्षा करने के हेतु से शरीर परित्याग करने को सल्लेखना कहते हैं। हर्ष और प्रसन्नता से इसमें आत्मतुष्टि पूर्वक शरीर त्याग किया जाता है। स्वाधीनता पूर्वक ॥ २ ॥

◆ **ऐसी निरंतर भावना–**

मृत्यु के पहले प्रतिदिवस, भाव सल्लेखन भाय।
विधिवत् कर सल्लेखना, करुं अंत सुख दाय ॥ ३ ॥

अर्थ – अन्तकाल अर्थात् वर्तमान पर्याय त्यागने के पूर्व प्रतिदिन समाधिमरण प्राप्ति के लिये भावना भानी चाहिए। अर्थात् अन्त समय शुद्ध, निर्भय मृत्यु का सामना करते हुए आत्मा व पंच परमेष्ठी का ध्यान करते हुए प्राण विसर्जन हो, इस लक्ष्य से निरन्तर चिन्तवन करना चाहिये। निष्प्रमाद समाधि का अभ्यास करें। अभ्यास से दुष्कर कार्य भी सुकर-सरल हो जाता है। अतः विषय कषाय, आहार त्याग का अभ्यास करना आवश्यक है। क्योंकि 'अन्त भला सो सब भला' इस शब्दों का प्रयोग मरण के लिये किया गया है। अतः सुन्दर सम्यक् समाधि मरण के इच्छुक जीव को प्रतिदिन समाधिमरण की भावना भानी चाहिये ॥ ३ ॥

◆ **पापों की आलोचना–**

मन वच तन कृत आदि से, जोयहं कीने पाप।
आलोचन करि उन हरुं अंत महाव्रत थाप ॥ ४ ॥

---

३. मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावना परिणतोऽनागतमपि पालयेदं शीलम् ॥

अर्थ – जीवन के साथ मरण अवश्यंभावी है। परन्तु उसका समय कोई निश्चित ज्ञात नहीं होता। इसका आयु आदि से भी अविनाभाव सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता क्योंकि मनुष्यगति में अकाल मरण भी संभव है। आत्मार्थी सन्त जन पूर्व से ही दृढ़ संकल्प करते हैं कि मैं अपने मरण काल में अवश्य ही समाधि सल्लेखना धारण कर ही मरण करूँगा। इस प्रकार का दृढ़ संकल्पी भावीकाल की अपेक्षा भी अपने शील स्वभाव से सल्लेखना व्रत का पालन करता है ॥ ३ ॥

अर्थ - जो मन से, वचन से, काय से तथा कृत, कारित, अनुमोदना से जितने भी पाप हमने किये हैं उनकी गुरु के सामने आलोचना करके अन्त समय में पंच महाव्रत धारण करना चाहिए।

भावार्थ - सल्लेखनाधारी श्रावक मन, वचन और काय की सरलता पूर्वक तथा कृत-कारित-अनुमोदना से किये गये समस्त पापों की कपट रहित अति विनय पूर्वक एवं स्पष्ट भाषा में पाँच स्थावर काय एवं त्रसकाय जीवों की विराधना सम्बन्धी दोषों को, आहार सम्बन्धी दोषों को अयोग्य उपकरण आदि ग्रहण सम्बन्धी सदोष वसतिका सम्बन्धी गृहस्थ सम्बन्धी आसन पुलक सिंहासन आदि का स्पर्श एवं उपयोग कर लेने से उत्पन्न होने वाले दोषों को विस्तार और निर्भयता पूर्वक कहें तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मूलगुण व उत्तरगुणों में लगे हुए अतिचारों की निंदा गर्हा करता हुआ आलोचना करके अपने हृदय को निर्मल बना लें ॥ ४ ॥

• सल्लेखना की विधि-

नेह वैर सबसे तजे परिग्रह दे सब छोड़।
छमै छमावे स्व पर जन, शुद्ध भाव कर जोड़॥ ५ ॥

अर्थ - सल्लेखना धारी, राग-द्वेष का त्याग कर तथा समस्त परिग्रह को छोड़कर शुद्ध परिणामों से अपने स्वजन एवं परजन को हाथ जोड़कर क्षमा करें और उनसे भी क्षमा करावें।

---

४. आलोच्य सर्वमेनः कृत कारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरण स्थायि निःशेषम् ॥ १२५ ॥

अर्थ - निम्न प्रकार आलोचना द्वारा परिणाम शुद्ध कर श्रावक भी मन, वचन, काय, कृत-कारित-अनुमोदना से नवकोटि से सम्पूर्ण पापों का पूर्णतः त्याग कर स्थायी रूप से अपने शेष जीवन में पूर्ण महाव्रत धारण करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ - पुण्य-पाप कर्म के उदय के आधीन जो बाह्य स्त्री-पुत्रादि इस पर्याय के उपकारक तथा अपकार द्रव्य प्राप्त हुए थे उनमें से जिन को इस पर्याय का उपकारक जाना उनसे दान-सम्मान आदि द्वारा राग किया तथा जो इस पर्याय के उपकारक द्रव्यों को नष्ट करने वाले थे उनसे वैर किया अतः क्षपक श्रावक राग-द्वेष का त्याग करें तथा समस्त बाह्य अभ्यन्तर जो परिग्रह हैं उनसे ममत्व भाव छोड़कर शुद्ध निर्मल भावों को धारणकर अन्तरंग में पश्चाताप करता हुआ अपने कुटुम्बी पुत्र-पुत्री पत्नि, माता-पिता भाई-बन्धु आदि एवं परजन नौकर-चाकर दास-दासी आदि से करबद्ध हो क्षमा माँगे और स्वयं भी सबको क्षमा करें॥ ५॥

◆ इसके परिणाम-

सब जीवन को छमहुं मैं, मुझें छमहुं सब जीव।
सब में मैत्री भाव सम, रहे न वैर कदीव॥ ६॥

अर्थ - सल्लेखना धारी क्षपक-साधक निरन्तर इस प्रकार भावना भाता है कि संसार के प्राणीमात्र को मैं क्षमा प्रदान करता हूँ तथा सभी जीवात्मा मुझे क्षमा करें। इस प्रकार अपने परिणामों को निर्मल उज्ज्वल व सरल बनाकर, समता रस पान में निर्मग्न रहता है। साम्य भाव ही तो समाधि, स्वास्थ्य एवं सल्लेखना मरण है॥ ६॥

---

५. स्नेहं वैरं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः॥ १२४॥

अर्थ - *आर्जवभाव से शुद्धमन करके प्रिय वचनों, मधुर वाणी से, राग-द्वेष, शत्रुता-मित्रता, आरम्भ-परिग्रह का सर्वथा त्याग कर पारिवारिक जनों से अपने सगे-सम्बन्धियों को क्षमा करें और उनसे क्षमा करावें। इस प्रकार प्रथम अपने परिणामों को निष्कपट-निश्छल शुद्ध करें। पुनः सल्लेखना धारण कर शान्ति पूर्वक प्राण विसर्जन करना चाहिए। और भी-॥ ५॥*

* **कलुषता का त्याग–**

मन कालुष्य विषाद भय गृह चिंता सब त्याग।

तब ही इस व्रत फल लहै, वह श्रावक बड़ भाग ॥ ७ ॥

अर्थ - सल्लेखना धारी श्रावक कालुषता, विषाद, भय, गृहचिंता का मन से त्याग करे तब ही उस श्रावक को इस सल्लेखना व्रत का उत्कृष्ट फल प्राप्त होता है और वह बड़ा भाग्यवान बनता है।

भावार्थ – क्षपक मन के परिणामों को स्वच्छ कर तथा क्रोधादि विकारी भावों को सात प्रकार के भय, धन, परिग्रह, स्त्री, पुत्र, मित्र, बांधव आदि गृहस्थ सम्बन्धी चिंता एवं विषाद राग-द्वेष सभी का त्याग करें तब ही वह भाग्यवान महा पुरुष सल्लेखना का फल प्राप्त करने में समर्थ होता है। क्योंकि विकारी परिणामों को त्याग किये बिना समता भाव नहीं आता और समता भाव के बिना सल्लेखना का फल नहीं मिल सकता ॥ ७ ॥

---

६. खम्मामि सव्व जीवाणां, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्व भूदेसु वैरं मज्झं ण केणवि ॥

अर्थ - सर्व प्राण, भूद, जीव व सत्वों से मैं जीवन में पूर्ण शुद्धि से क्षमा याचना करता हूँ, मैं भी सबको नवकोटि से क्षमा करता हूँ। प्राणी मात्र के प्रति मेरा मैत्री भाव है। किसी के भी साथ मेरा वैर-भाव नहीं है।

७. शोकं भयमवसादं, क्लेदं कालुष्य मरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥ १२६ ॥ र. क. श्रा.

अर्थ - शोक, भय, डर, विषाद, राग, द्वेष, अरति आदि को त्याग कर और अपने पूर्ण उत्साह, औदार्य, बल-पराक्रम से, प्रीति श्रद्धा से अमृत सदृश आगम-शास्त्र श्रवण द्वारा चिन्तन द्वारा मन को प्रसन्न करें, निर्मल बनावें, वीतराग भावना, समताभाव जाग्रत करें। क्रोधादि कषायों के शमन करने का एक मात्र उपाय तत्त्व चिन्तन है, तत्त्व परिज्ञान करने का साधन वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत आगम ॥ ७ ॥

◆ कायकृष की विधि–

क्रम-क्रम भोजन त्यागि रख दूध छाछि खरपान।

उष्ण तोय तजि शक्ति सम, कृषे काय शुभ ध्यान ॥ ८ ॥

अर्थ – कषाय आदि को कृष करने के बाद क्रम से भोजन छोड़कर दूध आदि बढ़ावें फिर दूध आदि छोड़कर छाछ को बढ़ावें फिर छाछ को छोड़कर गर्म जल बढ़ावें फिर जल को छोड़कर शक्ति के अनुसार उपवास करें तथा काय को कृष करता हुआ आत्म ध्यान में लीन होवे। क्योंकि आत्म स्वरूप चिन्तन व आत्मानुभव ही प्रथम सल्लेखना का उद्देश्य है।

भावार्थ – सल्लेखनाधारी काय को कृष करने के लिए प्रथम यह विचारें अब इस पर्याय में मुझे अल्प समय रहना, आयु समाप्त होने को है इसलिये रसों की गृद्धता छोड़कर रसना इन्द्रिय की लालसा छोड़कर यदि आहार का त्याग करने में उद्यत नहीं होऊँगा तो व्रत, संयम, धर्म, यश परलोक इनको बिगाड़कर कुमरण करने संसार में ही परिभ्रमण करूँगा। ऐसा निश्चय करके अतृप्ति करने वाला आहार का त्याग करने के लिये कभी उपवास कभी बेला-तेला कभी नीरस आहार करना, कभी अल्प आहार करना फिर क्रम से आहार का त्याग कर दूध आदि पीना, फिर दूध का त्याग कर छाछ ग्रहण करना फिर छाछ छोड़कर गर्म जल ग्रहण करना फिर गर्म जलादि का त्याग कर शक्ति अनुसार उपवास करते हुये शुभ धर्मध्यान रूप होकर कायकृश कर शरीर को त्यागना सल्लेखना है। इस प्रकार कायकृश सल्लेखना की विधि हुई ॥ ८ ॥

---

८. आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥ १२७ ॥
खरपान हापनामपि, कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्च नमस्कार मनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥ १२८ ॥ र. क. श्रा. ।..

◆ **मृत्यु का सत्कार-**

जीर्ण दुःखद तन गृह तजो लहु नवीन सुखदाय।

इससे आत्मन् हर्ष से देहुं मृत्यु को सत्कार ॥ ९ ॥

अर्थ - कोई मनुष्य जीर्ण दुःखदायी शरीर रूपी गृह का त्याग कर सुख देने वाला नया मकान ग्रहण करता है। इसलिये हे आत्मन् ! हर्ष से इस शरीर का त्याग कर मरण का सत्कार करना चाहिये।

भावार्थ - यह मनुष्यों का शरीर भोजन करते हुए भी नित्य ही पल-पल जीर्ण होता जाता है, दिन-दिन बल घटता जाता है कान्ति व रूप मलिन होता जाता है सभी नशों के हड्डियों के जोड़ ढीले होते जाते हैं झुर्रियों युक्त हो जाता है, नेत्रों की ज्योति मंद हो जाती है, कानों की श्रवण शक्ति घटती जाती है, हाथों-पैरों में दिन-दिन कमजोरी बढ़ती जाती है, चलने की शक्ति धीमी होती जाती है, उठने-बैठने में श्वांस बढ़ने लगती है। कफ बढ़ने लग जाता है। अनेक रोग बढ़ते जाते हैं। अतः मृत्यु के आने पर बड़े हर्ष से व्रत, संयम, त्याग, शील में सावधान होकर ऐसा प्रयास करना कि फिर ऐसी दुःख की भरी देह को धारण ही न करना पड़े। और बड़े हर्ष के साथ मृत्यु रूपी मेहमान का आदर करना चाहिए॥ ९ ॥

---

*...**अर्थ-** सल्लेखनाधारी श्रावक क्रम-क्रम से आहार का त्याग करके दुग्ध, रस, पानी आदि पेय पदार्थों को भोजन में ग्रहण करें, पुनः क्रमशः दुग्धादि का त्याग कर मात्र गर्म-उष्ण जल ही ग्रहण करें। पश्चात् मट्ठा-छाछ, पानी-उष्ण जल को भी त्याग दे और शक्ति के अनुसार उपवास धारण करें। पुनः पूर्ण प्रयत्न से पञ्चमहामंत्र णमोकार का जाप करते हुए प्रसन्न चित्त से शरीर को तृण समान त्याग दें। इस प्रकार सर्वानन्द की साधक काय सल्लेखना करे ॥ ८ ॥*

९. जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः।

मृत्यु किं न मोदाय सतां सातोत्थतिर्यथा ॥...

◆ और भी–

तन पिंजर में कैद तुम, जनमत से मरणांत।
मृत्यु मित्र बिन को तुम्हें छुटवें तन और अंत ॥ १० ॥

अर्थ – जन्म से लेकर मरण तक यह आत्मा शरीर रूपी कारागृह में कैद है अतः इस शरीर रूप पिंजरे से मृत्यु रूपी मित्र के बिना और तुम्हें कौन छुड़ावेगा ?

भावार्थ – यह जीव गर्भ से लेकर मरण अवस्था तक शरीर रूपी पिंजरे में कैद रहा और सदा ही क्षुधा, तृषा रोगों की वेदना सहता रहा इन्द्रियों के आधीन हुआ अनेक कष्ट सह रहा है, अनेक प्रकार के रोगों का दुःख भोगना, दुष्टों द्वारा ताड़न-मारन, कुवचन अपमान आदि सहना, स्त्री-पुत्रादि के आधीन रहना, इस देह को कहाँ तक ढोता। यह शरीर आत्मा को अनेक कष्ट देता है अतः ऐसे कृतघ्न देहरूपी पिंजरे से मृत्यु रूपी मित्र के अलावा और कोई नहीं छुड़ाने में समर्थ हो सकता है॥ १० ॥

---

*...**अर्थ** - जीव को मृत्यु परमोपकारी है क्योंकि यह जीर्ण-शीर्ण, रूग्ण, गलित शरीर से निकाल कर सुन्दर स्वस्थ नवीन शरीर प्राप्त करा देती है। जिस प्रकार असाता वेदनीय कर्म का पराभव कर सातावेदनीय का उदय आनन्दकारी होता है। ऐसे उपकारी मरण के आने पर सत्पुरुषों को मरण प्रमोदकारी क्यों नहीं होगा ? होगा ही, होता ही है। वे कायरों के समान भीत नहीं होते अपितु निर्भयता से उसका स्वागत करते हैं॥ ९ ॥*

१०. १. सर्वं दुःखप्रद पिण्ड दूरी कृत्यात्मदर्शिभिः।
मृत्युमित्र प्रसादेन प्राप्यन्ते सुख सम्पदा॥
२. आगर्माद्दुःख संतप्तः प्रक्षिप्तो देह पंजरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन मृत्युभूमिं पतिं विना॥

__अर्थ__ - आत्म स्वरूप परिज्ञानी, आत्मदर्शी मृत्यु को मित्र समान समझते हैं। कारण समस्त दुःख समूह का मूल कारण शरीर है, जितनी भी आधि-व्याधि रोग सन्ताप हैं सभी शरीराश्रित ही हैं। यही नहीं कुटुम्ब, परिवार सभी शरीर से ही सम्बन्ध..

• **शुद्ध ध्यान–**

मेरा आतम नित्य इक, निर्मल ज्ञान स्वरूप।

बाकी बाह्य पदार्थ जग, सब संयोगज रूप ॥ ११ ॥

अर्थ – मेरा आत्मा ही सदा एक निर्मल स्वरूप है बाकी जग के सभी बाह्य पदार्थ संयोग रूप है।

भावार्थ – मेरी आत्मा एकाकी ही सदा शाश्वत और नित्य स्वरूप है तथा वह कर्म मल से रहित और ज्ञान स्वभावी है, इसके अलावा जितने भी संसार के बाहरी पदार्थ राग द्वेषादि हैं वे सब कर्म जनित हैं एवं नश्वर विनाशीक है तथा संयोगज स्वरूप हैं ॥ ११ ॥

...रखते हैं। इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए शरीर से छुटकारा पाना अनिवार्य है और शरीर से छुटकारा दिलाने वाली मृत्यु देवी है, अतः सत्पुरुष सुखसम्पदा दाता मृत्यु को मित्र ही स्वीकार करते हैं।

२. गर्भादि के घोर दुःखों से संतप्त प्राणी शरीर रूपी पिंजरे के अन्दर कैदी बना जीवन भर अनेक दुःखों को सहता रहता है। इस दुःखद देह–पिंजड़े से निकाल कर स्वतंत्र बनाने वाला मृत्यु रूपी ही भूमिपति राजा है ॥ १० ॥

११. एकः सदाः शाश्वति को ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।

बहिर्भवाः संत्यपरे समस्ता न शाश्वतः कर्म भवाः स्वकीयाः ॥ २६ ॥

द्वा. त्रि. ॥

अर्थ – संसार में अनन्त पदार्थ खचाखच भरे हैं, परन्तु ये सभी आत्मभाव से भिन्न हैं आत्मार्थी विचार करता है, मेरा तो एक आत्मा ही है, यह अमर है, सतत रहने वाली है, अत्यन्त शुद्ध निर्मल है, समाधिगम्य है अर्थात् एकाग्र स्वभाव में स्थिर होने पर प्राप्त है। बाह्य समस्त पदार्थ नश्वर है, क्षणभंगुर हैं, वे मेरे कैसे हो सकते हैं जबकि मेरे स्वभाव से वे सर्वथा भिन्न ही हैं। सर्व सम्बन्ध जो बाह्य में दिखता है वह कर्म जन्य है। इस प्रकार विचार कर स्व-स्वभाव में रहना चाहिए ॥ ११ ॥

◆ **और भी–**

पर संयोग से जीवन पाये दुःख हमेश।
इससे पर तन आदि को तजि निज हरुं कलेश ॥ १२ ॥

अर्थ – दूसरे के संयोग से इस जीव ने नित्य ही दुःख प्राप्त किया है। इसलिए पर शरीर आदि का त्याग करके अपनी आत्मा से क्लेश का हरण करो।

भावार्थ – जीव संसार रूपी वन में पर पदार्थों के संयोग के कारण उनमें ममत्व भाव स्थापित करने से ही संसार में अनेक प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है। इसलिए समाधिस्थ क्षपक जो पुद्‌गल आदि पर पदार्थों से क्लेश होता है अतः इसका त्याग करो। अपनी आत्मा में लीन होओ ॥ १२ ॥

◆ **और भी–**

संयोगज सब भाव को, त्यागि संस्तरा धार।
मृत्यु समय परमेष्ठी गुण, ध्यावत तज तन भार ॥ १३ ॥

अर्थ – इस प्रकार क्षपक संयोगज रूप सभी भावों का त्याग करें एवं संस्तर को धारण करें तथा मरण के समय पंच परमेष्ठी के गुणों का ध्यान करता हुआ इस भार स्वरूप शरीर का त्याग करें।

भावार्थ – सल्लेखना व्रत धारी श्रावक जितने भी भव वन में भ्रमण कराने वाले संयोगज रूपी विकारी भाव हैं उनका त्याग करें तथा पाषाण, भूमि, तृण, काष्ठ अर्थात् पलक इन संस्तरों में से किसी एक संस्तर को धारण

---

१२. संयोगतो दुःखमनेकभेदंयतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधा सो परिवर्जनीयो पिपासुना निवृतिमात्मनीनां ॥ २८ ॥

अर्थ – जन्म संसार रूपी वन में पर संयोग अर्थात् कर्म संयोग से नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त करता है। अतएव संसार सागर के कष्टों से त्राण-रक्षण पाने की इच्छा करने वाले भव्यात्माओं को मन, वचन, काय से पर पदार्थ जो कर्मार्जन के हेतु है सम्बन्ध त्याग देना चाहिए ॥ १२ ॥

करें एवं मरण का समय आने पर पंच परमेष्ठी के गुणों का स्वरूप ध्याता हुआ भार रूपी इस नाशवान शरीर का त्याग करें ॥ १३ ॥

• **इसका फल**–

सबहि कहत सन्यास में, मृत्यु समय चित देय।
सब कषाय के त्याग से, पर भव तप फललेय ॥ १४ ॥

अर्थ – सभी कषायों का त्याग करके मरण के समय सन्यास व्रत में चित्त को लगाना ही पर भव में तपस्या का फल प्राप्त करना है ऐसा सभी ने कहा है।

भावार्थ – जीवन भर किये गये तप रूपी मन्दिर का शिखर सन्यास या सल्लेखना है जैसे मंदिर की शोभा शिखर है, राजा की शोभा मन्त्री से है, तालाब की शोभा कमल से हैं, नारी की शोभा शील से हैं वैसे ही तप की शोभा सल्लेखना रूपी शरीर से है। यदि सन्यास पूर्वक मरण होता है, तो तप का फल भी प्राप्त होता है अन्यथा तप का फल प्राप्त नहीं होता। अतः मरण के अंत समय में परिणामों को बहुत सम्हालकर रखना चाहिये अन्यथा जिंदगी भर किये गये व्रत तप पर पानी फिर जाता है एवं वह अनंत संसारी बन जाता है। इसलिए मरण के समय अपने चित्त को सल्लेखना में लगाते हुए तपस्या का फल प्राप्त करें ॥ १४ ॥

---

१३. पंच नमस्कार मनास्तु तं त्यजेत् सर्व यत्नेन।

अर्थ – जो निरंतर पंच परमेष्ठी के वाचक अपराजित मंत्र णमोकार मंत्र का ध्यान करने के इच्छुक हैं उन्हें पर संयोग का सर्व प्रकार उपाय कर त्यागने का प्रयत्न करना चाहिए ॥ १३ ॥

१४. १. अन्तः क्रियाधिकरणं तपः फलं सकल दर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यं ॥ १२३ ॥ र. श्रा. चा. ॥

२. नीयन्तेऽत्र कषायाहिंसाया हेतवो यतस्तनुतां।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसा प्रसिद्ध्यर्थं ॥...

◆ अष्टमाध्याय का सारांश–

सल्लेखन व्रतकरण से, शुद्ध आतमा होय।
महावीर मरते समय पालहुं बुध सब कोय ॥ १५ ॥

अर्थ – सल्लेखना व्रत को करने से आत्मा शुद्ध निरंजन, निराकार, अविनाशी मोक्ष पद को पाता है अतः प्रत्येक विवेकी प्राणी को मरण के समय इस व्रत का मन, वचन, काय से पालन करना चाहिये ऐसा आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज ने कहा है ॥ १५ ॥

इति अष्टम अध्याय

---

*...**अर्थ** – १. महाव्रत धारण कर अनेक वर्षों पर्यन्त घोर तप करने का अन्तिम मरण समय सम्यक् सल्लेखना करना है। सर्वज्ञ वीतराग प्रभु का यही उपदेश है। अतएव जब तक शरीर अवयव स्वस्थ हैं, इन्द्रियाँ अपने कार्य में समर्थ हैं, आत्मशक्ति धैर्य रूप वैभव है तब तक निरंतर शक्ति अनुसार समाधि मरण का प्रयत्न करना चाहिए।*

२. समस्त कषायें हिंसा की पर्याय हैं अर्थात् जहाँ कषाय हैं वहाँ हिंसा अवश्य होती ही है। इसलिये अहिंसाधर्म का निरतिचार पालन करने के इच्छुक पुरूषों को कषायों को कृश-क्षीण करने का प्रयत्न करना चाहिए। सल्लेखना सिद्धि में कषायों को कृश करने का उपदेश का उद्देश्य भी अहिंसा धर्म के रक्षण का ही है। अतः धर्म अहिंसा सिद्धयर्थ कषायों का परिहार करना ही चाहिए ॥ १४ ॥

१५. इति यो व्रत रक्षार्थं सततं पालयति सकल शीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सका शिवपद श्रीः ॥ १८० ॥ पु. सि. उ. ॥

***अर्थ** – जो इन पाँच अणुव्रतों की रक्षा करना चाहता है उसे इन सातशील तीन दिग्व्रतादि गुणव्रतों का और सामायिकादि चार शिक्षाव्रतों का भी प्रयत्न पूर्वक पालन करना चाहिए। इस व्रत पालक श्रावक को मोक्ष रूपी लक्ष्मी अतिशय उत्कण्ठित होकर स्वयंवर की कन्या के समान स्वयं ही स्वीकार कर लेती है। अर्थात् जिस प्रकार स्वयंवर मण्डप में कन्या अपने योग्य वर को चुनकर उसके गले में वरमाला डाल देती है उसी प्रकार व्रती श्रावक को मुक्ति लक्ष्मी कन्या प्राप्त होती है ॥ १५ ॥*

❊ अथ नवम अध्याय ❊

◆ **व्रतों की रक्षा–**

दूषित चारित कीलवत, बुधमन चुभत अपार।

जानि व्रती गुणव्रतनि, किमि पाले सह अतिचार ॥ १ ॥

अर्थ – दोष युक्त चारित्र कील के समान बुद्धिमानों के मन को अपार कष्ट पहुँचाता है ऐसा जानकर क्या गुणवान व्रती पुरुष अतिचार सहित व्रत पालेगा अर्थात् नहीं पालेगा।

भावार्थ – जिस प्रकार कील चुभने पर या कांटा लग जाने पर उसका घाव बहुत भारी कष्ट देता है। उसी प्रकार व्रती पुरुष व्रतों को धारण करके यदि उसका अतिचार सहित पालन करता है, तो निरन्तर किये गये दोष उसको बार-बार अनुभव में आते हैं और पापास्रव का कारण बनते रहते हैं। अन्ततः दुर्गति में ले जाते हैं, अतः विवेकी प्राणी का यही कर्त्तव्य है कि वह गुण, दोष का भली प्रकार ज्ञानकर निरतिचार व्रतों का पालन करें ॥ १ ॥

◆ **अतिचार का लक्षण–**

व्रत गुण दूषित अंश ही कहलावे अतिचार।

श्रावक व्रत में लगत जों पन-पन उन्हें निवार ॥ २ ॥

अर्थ – व्रतों में थोड़ा दूषण लगने का नाम ही अतिचार कहलाता है,

---

१. "सागारो वा यनिः शल्योव्रतीष्यते"

अर्थ – जो गृहस्थ माया, मिथ्यात्व व निदान से रहित निःशल्य रहता है वही श्रावक व्रती कहलाता है। शल्य का अर्थ कांटा (कंटक) है। जैसे कांटा पांव में चुभकर पीड़ा देता है उसी प्रकार ये तीनों शल्य व्रतों की घातक हो व्रती नहीं बनने देती। अतः इनका त्यागी ही व्रती होता है ॥ १ ॥

श्रावक व्रत में प्रत्येक के पांच-पांच अतिचार हैं, अतः उनका निवारण करो।

भावार्थ – सम्यक्त्व में या व्रतों में अंश रूप से दूषण आना ही अतिचार है। इसी बात को पंडित श्री आशाधर जी ने सागार धर्मामृत में कहा है - **"सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंश भजनं"** कोई पुरूष किसी विषय की मर्यादा रूप से प्रतिज्ञा ले चुका है उसके व्रत में एकदेश भंग होना अतिचार कहलाता है। एक देश व्रत का भंग क्या कहलाता है तो इसका समाधान इस प्रकार है कि व्रतों का पालन बहिरंग-अन्तरंग दोनों रूप से होता है, यदि केवल अंतरंग में व्रत भाव हो बहिरंग में उसके अनुकूल आचरण न हो तो भी व्रत की रक्षा नहीं हो सकती है और न वह व्रत रूप ही प्रवृत्ति ही कहलाती है। तथा यदि बाह्य में व्रताचरण हो और अन्तरंग में मर्यादित प्रवृत्ति न हो तो उसे व्रत नहीं कहा जा सकता, अतः अन्तरंग-बहिरंग रूप से जो पाला जाता है वही व्रत कहलाता है।

व्रत में या तो अन्तरंग भावों में कुछ दूषण आता है अथवा बहिरंग प्रवृत्ति में कुछ दूषण आता है तो वह अतिचार कहलाता है और जहाँ पर अन्तरंग बहिरंग दोनों में व्रत रक्षा का भाव नहीं रहता वहाँ उसे अनाचार कहा गया है।

व्रत भंग के सहायक परिणाम चार हैं – अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार।

कहा भी है -

क्षतिं मनः शुद्धि विधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शील व्रतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥ ९॥

सामायिक पाठ

अर्थ – मन की शुद्धि की क्षति होना अतिक्रम है। व्रत का उल्लंघन होना व्यतिक्रम है। विषयों में एक बार प्रवृत्ति होना अतिचार है। बार-बार विषयों में प्रवृत्ति होना अनाचार है।

यहाँ अनाचार में व्रत सर्वथा भंग हो जाता है परन्तु अतिचार में व्रत का भंग नहीं होता किन्तु किसी कारणवश उसके व्रतों में थोड़ा दूषण लगता है। प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचार बतलाये हैं। बारह व्रतों के पांच-पांच अतः १२ x ५ = ६० अतिचार तथा सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार और सल्लेखना के पांच अतिचार सबका जोड़ ६० + ५ + ५ = ७० होते हैं।

इस प्रकार श्रावक व्रतों में ७० अतिचार होते हैं। अतः व्रत की जैसी पूर्ण शुद्धि कही गई है उसमें ये अतिचार विघात करते हैं, शुद्धि को रोकते हैं। पूर्ण रूप से व्रत को नहीं पालने देते हैं। इसलिए प्रत्येक विवेकी व्रती श्रावक का कर्त्तव्य है कि प्रमाद को छोड़कर भली प्रकार अतिचारों का परित्याग कर पूर्ण रूप से व्रत रक्षा करें ॥ २ ॥

◆ सम्यग्दर्शन के अतिचार–

शंका कांक्षा ग्लानि पुनि, मिथ्यातिन थुति वैन।
चित्त सराहन भी तथा, समकित दूषण एन ॥ ३ ॥

अर्थ – शंका – जिनेन्द्र भगवान के वचनों पर शंका करना। कांक्षा – भोगों की चाह करना। ग्लानि अर्थात् विचिकित्सा - मुनि आदि के मलिन

---

(२) १. सापेक्षस्य व्रते हिंस्यादतिचारोंऽश भंजनं।

२. अतिक्रमो मानसंशुद्धि हानि, व्यतिक्रमो विषयाभिलाषो तथातिचारं करणालसत्वं भंगो ह्यनाचारमिह व्रतानाम् ॥

अर्थ – ग्रहण किये व्रतों में उसके अंश एक भाग का नाश होना अतिचार कहा जाता है। व्रतों के दोष–

२. मन की विशुद्धि में क्षति होना अतिक्रम है, विषयों की अभिलाषा करना व्यतिक्रम है, व्रत पालन में अनुत्साह-प्रमाद होना अतिचार है और व्रत का सर्वथा भंग करना अनाचार है ॥ २ ॥

शरीर को देखकर ग्लानि करना। मिथ्या स्तुति - मिथ्यादृष्टियों की स्तुति करना। चित्त सराहन- मन से मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना। ये सम्यक्त्व में दूषण उत्पन्न करने वाले पांच अतिचार हैं।

१. शंका - जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये सूक्ष्म पदार्थों में संदेह करना शंका है। अथवा चारित्र निरूपण आगम में कहा गया है वह सत्य है या नहीं, जैसे निर्ग्रंथों के मुक्ति कही है वैसे क्या सग्रन्थ और गृहस्थ अवस्था में भी मुक्ति होती है इस प्रकार चित्त में सन्देह लाना यह शंका नाम का अतिचार है। यह अतिचार सबसे प्रबल है, सम्यक्त्व का सबसे बड़ा अतिचार है। सम्यक्त्व धारण करने वालों को, देव-शास्त्र-गुरू पर विश्वास रखने वालों को इस अतिचार को नहीं लगाना चाहिए।

२.कांक्षा - सांसारिक सुखों की इच्छा करना मुझे सम्यग्दर्शन के फल से स्वर्गादि सामग्री प्राप्त हो जाय अथवा इस लोक में मेरे धन-धान्य पुत्रादिक की विभूति मिल जाय इस प्रकार आकांक्षा रखना सम्यक्त्व का दूसरा अतिचार है।

३. ग्लानि या विचिकित्सा - घृणा करने का नाम है। रत्नत्रय से मंडित पर बाह्य में पसीना एवं उस पर लगी हुई धूलि से आई हुई ऊपरी मलिनता से ग्लानि करना 'ये स्नान नहीं करते' इत्यादि रूप से दूषित करना विचिकित्सा नामक अतिचार है।

४. मिथ्या स्तुति - मिथ्यादृष्टियों की स्तुति करना उनके चारित्र एवं ज्ञानादि गुणों का तथा उनकी क्रियाओं का वचन द्वारा कथन करना मिथ्या स्तुति नामक अतिचार है।

५. चित्त सराहन अर्थात् मन प्रशंसा - मन से मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और चारित्र की प्रशंसा करना, उनके विद्यमान और अविद्यमान गुणों का हृदय में आदर करना, उनकी क्रियाओं को मन में भला मानना यह सब मन प्रशंसा नामका पांचवाँ अतिचार हैं।

यहाँ शंका हो सकती है कि स्तुति और प्रशंसा में क्या अन्तर हैं ? इसका उत्तर यह है स्तुति वचनात्मक होती है और प्रशंसा मन से होती है।

इस प्रकार ये सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार हैं इनसे सम्यक्त्व में मलिनता आती है अतः इन्हें नहीं लगने देना चाहिये तभी सम्यक्त्व निर्दोष रह सकता है॥ ३॥

◆ अहिंसा अणुव्रत के अतिचार-

ताड़न, छेदन, बांधना, अधिक लादना भार।
खान-पान में त्रुटि करन, ये अहिंसा अतिचार॥ ४॥

अर्थ - (ताड़न)-लकड़ी, बेंत, अंकुश आदि से उन्हें मारना। (छेदन)-पशु-पक्षी आदि की नाक, कान, जीभ छेदना। (बांधना)- एक स्थान में बांधकर रखना। (अधिक भार लादना)-शक्ति से अधिक उन पर भार लादना।

---

३. शंका कांक्षा विचिकित्साऽन्यदृष्टि प्रशंसा संस्तवाः सम्यग्दृष्टे रतिचाराः ॥ मो. शा. अ. ७, सू. २३।

२. शंका तथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टिनां।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः॥ १८२॥ पु. सि.।

अर्थ - *१. यहाँ श्री उमास्वामी महाराज सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले दोषों अतिचारों का निरूपण करते हैं। वे पाँच हैं - १. शंका, २. कांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. सम्यक्त्व विहीन मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा, ५. मिथ्यात्व का स्तवन।*

१. शंका - सर्वज्ञ प्रणीत तत्त्व स्वरूप में सन्देह करना। २. कांक्षा - परलोक मे विषय-भोग सामग्री पाने की इच्छा से धर्मकार्य करना, ३. धर्म और धर्मात्माओं के प्रति ग्लानि करना विचिकित्सा है। ४. मिथ्याप्रभावनादि देखकर उनकी प्रशंसा करना और ५. मिथ्यादृष्टियों के चमत्कारादि देख उनकी स्तुति करना।

२. शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि की वचन से स्तुति करना तथा मन से संस्तवन करना प्रशंसा कहलाता है। विशेष अर्थ में लिखा जाता है॥ ३॥

खान-पान में त्रुटि करना - समय पर भोजन नहीं देना इस प्रकार अहिंसाव्रत के पांच अतिचार हैं।

भावार्थ - जो घर में पशुओं को रखते हैं उन्हें कभी-कभी सताया करते हैं यह सताना ही अहिंसा व्रत में अतिचार लगाना हैं। वे पांच कहे गये हैं।

१. ताड़न - डंडा, चाबुक, बेंत आदि से प्राणियों को मारना, ताड़न नामक अतिचार है।

२. छेदन - कान, नाक आदि शरीर के अवयवों को परहित की विरोधिनी दृष्टि से छेदना-भेदना ये छेदन नामका अतिचार है।

यहाँ शंका हो सकती है कि माता अपने बच्चों के नाक-कान में छेदन करवाती हैं, शरीर में टीका लगवाती है, तो क्या यह दोष नहीं है ?

इसका समाधान इस प्रकार है कि माता का लक्ष्य बच्चों के श्रृंगार सौंदर्य की रक्षा करने का है अतः वह संसार सुख के हितार्थ हैं। और बच्चों को रोगों से शरीर की सुरक्षा का लक्ष्य होने के लिए चेचक आदि की टीका लगवाना, छेदन-भेदन में दोष नहीं है।

३. बांधना - किसी को अपने इष्ट स्थान पर जाने से रोकना उन्हें इच्छित प्रदेश में घूमने न देना अथवा रस्सी जंजीर व अन्य किसी प्रतिबन्धक पदार्थ के द्वारा शरीर और वचन पर अनुचित रोकथाम लगाना बांधना नामक अतिचार है।

४. अधिक भार लादना - किसी भी प्राणी पर उनकी सामर्थ्य से अधिक बोझा लादना। जैसे किसी पशु की चार बोरी भार वहन करने की शक्ति है उस पर चार बोरी से अधिक भार लादना इसी प्रकार नौकर-चाकर आदि से न्याय नीति से अधिक कार्य भार लेना। यह अधिक भार लादना अतिचार हैं।

५. खान-पान में त्रुटि करना- पशु-पक्षी, नौकर-चाकर, आदि के भूख-प्यास की फिकर नहीं कर पशुओं को चारा, बांटा, पानी आदि समय पर

खाना नहीं देना नौकर को पेट भर भोजन न देकर खाने पीने में कमी करना खान-पान त्रुटि नामका अतिचार है।

इस प्रकार अहिंसाणुव्रत का पालन करने वाले दयालुओं को इन अतिचारों से अवश्य बचना चाहिये ये परिणामों को मलिन करने वाले हैं ॥ ४ ॥

◆ **सत्याणुव्रत के अतिचार-**

मिथ्यासिख गोपित प्रकट, न्यास द्रव्य अपहार।

मंत्र भेद कर कूट लिख पांच सत्य अतिचार ॥ ५ ॥

अर्थ - मिथ्या अर्थात् झूठा उपदेश देना किसी की गुप्त बात प्रकट करना, किसी का द्रव्य अपहरण करना, किसी के अभिप्राय को प्रकट करना झूठे लेख लिखना इस प्रकार सत्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

भावार्थ - **मिथ्यासीख** - जो धार्मिक क्रियायें आगमानुसार प्रसिद्ध हैं, उसके विषय में झूठा उपदेश देना कि अमुक क्रिया ठीक नहीं है अमुक क्रिया इस रीति से होना चाहिये एवं धर्म का स्वरूप ऐसा नहीं ऐसा है इस प्रकार असत्य कथन करके विपरीत मार्ग में लगाना मिथ्या सीख नामका अतिचार है।

२. **गोपित प्रकट** - एकान्त में जो बात स्त्री-पुरुष करते हैं उन्हें छिपकर

---

४. छेदन बंधन पीड़नमतिभारारोपणं व्यतिचाराः।

आहारवारणापि च स्थूल वधाद्व्युपरतेः पञ्च ॥ २३४ ॥ श्लो. ५४, र. श्रा.।

अर्थ - स्थूल अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं - १. छेदना-नाक, कानादि अवयवों का छेदना, छिदवाना। २. बंधन - गाय, भैंस, बिडाल, कुत्ते मनुष्यादि को रस्सी-बेड़ी आदि से बांध रखना, बंध है। ३. पीड़न - कोड़े, बेंत आदि से पीटना-मारना, ४. अतिभारारोपण - शक्त से अधिक भार लादना। ५. आहारवारण - पालित पशु, नौकर, दास-दासियों के समयानुसार आहार-पानी नहीं देना। ये अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं ॥ ४ ॥

सुन लेना और सबके सामने प्रकट कर देना गोपित प्रकट अतिचार है।

३. न्यास द्रव्य अपहार – कोई कुछ द्रव्य रख जाय तो उसे धरोहर कहते हैं। यदि किसी ने किसी के पास धरोहर रूप ५०० रुपये रखे हैं। लेकिन कुछ दिनों पश्चात् रुपये रखने वाला ५०० रुपये रक्खें हैं भूलकर ४०० रूपये मांगता हैं। तो ठीक हैं आप अपने ४०० रुपये ले जाओ। ऐसी अवस्था में १०० रुपये अपहरण करने के लिए झूठ बोल उसे स्वीकार कर लिया यह न्यास द्रव्य अपहरण अतिचार हुआ।

४. मंत्र भेद – किसी अर्थवश प्रकरणवश, शरीर के अंग विकार वश या भृकुटी क्षेप आदि के कारण दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्याभाव से दूसरे के सामने प्रकट कर देना मंत्र भेद अतिचार है।

५. कूट लेख – दूसरे ने न तो कुछ कहा हो और कुछ किया हो तो भी अन्य किसी की प्रेरणा से अर्थात् द्वेष के वशीभूत इसने ऐसा कहा है, ऐसा किया है इस प्रकार झूठे दस्तावेज आदि लिखना कूट लेख क्रिया नामका अतिचार है।

यह पांचों सत्याणुव्रत के अतिचार हैं इनसे सत्य व्रत में दूषण लगता है अतः निरतिचार पालन करें॥ ५॥

---

५. न्यासापहारः परमंत्रभेदो मिथ्योपदेशः परकूट लेखः।
प्रकाशना गुह्य विचेष्टितानां पंचातिचाराः कथिता द्वितीये॥

अर्थ – सत्याणुव्रत के भी पाँच अतिचार हैं – १. न्यासापहार-किसी की धरोहर का हरण करना यथा भद्रमित्र के पाँच रत्न जो सत्यघोष के यहाँ यथाकाल के लिए रख दिये थे, मांगने पर कह दिया मेरे यहाँ नहीं रखे। २. परममंत्रभेद – किसी की गुप्त मंत्र योजना को ज्ञात कर प्रकट करना। ३. मिथ्योपदेश – आगम विरुद्ध तत्त्वोपदेश देना। ४. परकूट लेख – झूठे दस्तावेजादि लिखना और। ५. गुह्य विचेष्टा प्रकाशन – पति-पत्नी आदि की गुप्त योजना ज्ञात कर प्रकट करना इन कार्यों से अपने ग्रहीत सत्याणुव्रत में दोष लगता है। अतः ये अतिचार कहलाते हैं॥ ५॥

• अचौर्य व्रत के अतिचार–

चोरित धन ले मदद दे, राजाज्ञा उलंघेय।

खोट मिलावे घाटि दे अतिचार अस्तेय ॥ ६ ॥

अर्थ - चोरी का अपहरण किया हुआ द्रव्य ग्रहण करना, चोरी का उपाय बताना, राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना, असली वस्तु में नकली मिलाना, थोड़ा देना अधिक लेना ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ - चोर जो चुराकर द्रव्य वर्तन आदि वस्तुएँ लाता है उन्हें थोड़ा मूल्य देकर खरीद लेना यह चोरित धन ले अतिचार हैं।

२. स्वयं तो चोरी का त्याग है परन्तु चोरों को चोरी करने का उपाय बतलाना, किसी दूसरे से चोर को चोरी का मार्ग भीतरी खोज आदि कहलवाना, चोरी करने वाले की अनुमोदना करना उनकी प्रवृत्ति में सहायक बनना चोरित मदद नामका अतिचार है।

३. जो बात राज्य से विरुद्ध समझी जाती है जिनके करने से राज्य की आज्ञा का उल्लंघन होता है, नियम टूटता है उन बातों को करना जैसे - चार साल के बच्चे का आधा टिकट लगता है और ग्यारह साल से ऊपर के बच्चे का पूरा टिकट लगता है ऐसा नियम होने पर चार वर्ष के ऊपर के बच्चे को तीन साल का बताना और ग्यारह साल से ऊपर वाले बच्चे को दस साल का बताना यह राजाज्ञा उल्लंघन नामका अतिचार है।

४. दूध में पानी मिलाकर बेचना, बहुमूल्य वस्तु में अल्पमूल्य की वस्तु मिलाकर असली कीमत में बेचना चांदी में रांगा, सोने में तांबा मिलाकर बेचना शुद्ध घी में डालडा, काली मिर्च में पपीता के बीज आदि अनेक मिश्रणों द्वारा बेचना खोट मिलावे नामक अतिचार है।

५. बेचते समय ऐसे माप तराजू से देना जिससे लेने वाले पर थोड़ी वस्तु

जाय और स्वयं लेते समय ऐसे बांट-तराजू से लेना जिससे अधिक वस्तु आ जाय यह घाटि दे नामका अतिचार है।

इस प्रकार इन अतिचारों से व्रत में कुछ दूषण होने से चोरी का अंश रूप से प्रयोग होता है। अतः इस व्रत में दृढ़ता लाने के लिये नीति पूर्वक कमाये गये द्रव्य से अपनी आय के भीतर ही आजीविका चलाने का संकल्प अवश्य करें॥ ६॥

◆ **ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार–**

अधिक चाह क्रीड़ा अनंग, अनव्याहित से प्यार।
पर विवहा कुलटा गमन, ब्रह्मचर्य अतिचार॥ ७॥

अर्थ - काम की अधिक लालसा रखना, काम सेवन से भिन्न अंगों के द्वारा काम क्रीड़ा करना, जिसका किसी से विवाह नहीं हुआ उससे प्यार करना, दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करवाना, व्यभिचारिणी स्त्रियों से सम्बन्ध रखना ये पांच अतिचार ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ - १. अधिक चाह - काम की तीव्र लालसा रखना, निरन्तर उसी के चिन्तन में लगे रहना, स्वदारसंतोष व्रत होने पर भी स्वस्त्री के साथ रमण करने की तीव्र वांछा होना, काम उत्तेजक निमित्तों की संयोजना करना अधिक चाह अतिचार हैं।

---

६. चौर प्रयोग चौरार्था, दान विलोप सदृश सन्मिश्राः।
हीनाधिक विनिमानं, पञ्चास्तेये व्यतिपाताः॥ ५८॥ र. श्रा.।

अर्थ - १. चोर को चोरी करने के प्रयोग सिखाना - चौर प्रयोग है। २. दान देकर या चोरी की वस्तु को अल्प मूल्य देकर खरीदना चौरार्थादान है। ३. राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना विलोप है। ४. सदृशसन्मिश्राः - अल्पमूल्य की वस्तु को बहमूल्य वस्तु में मिश्रण कर क्रय-विक्रय करना सदृश सन्मिश्र है और तौलने के बाट आदि माप कम-अधिक रखना हीनाधिक विनिमान है ये ५ अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं। इनका त्याग करना चाहिए॥ ६॥

२. अनंग क्रीड़ा - उन अंगों में काम सेवन करने का निषेध किया गया है जो मानवों के लिये मैथुन सेवन योग्य नहीं कहे गये हैं। जैसे - हस्त, मुख, कुचादि अंगों में रमण करना अनंग क्रीड़ा अतिचार है।

३. अन ब्याहित से प्यार - जिसका विवाह नहीं हुआ, ऐसी वेश्या कँवारी कन्या अर्थात् जिसका कोई स्वामी नियत नहीं हुआ उससे सम्बन्ध रखना अन ब्याहित से प्यार अतिचार है।

४. पर विवाह - अपने पुत्रादिक से भिन्न दूसरों के पुत्र-पुत्री आदि का विवाह कराने का व्यवसाय करना दिन-रात उसी से संलग्न रहना पर विवाह अतिचार है।

५. कुलटा गमन - जिसका कोई पुरूष है ऐसी स्त्री के यहाँ आना-जाना अर्थात् व्यभिचारिणी चरित्रहीन स्त्री-पुरूषों की संगति में रहना पत्नि का चरित्र आदि दूषित हो गया हो तथा पति यदि व्यभिचारी हो गया हो तब भी उसके साथ दाम्पत्य सम्बन्ध बनाये रखना ऐसे कुस्त्री-पुरुष के यहाँ गमन करने रहना कुलटा गमन अतिचार हैं।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के संकल्प को पुष्ट करने के लिये कुछ भावनाएँ हैं - काम विकार उत्पन्न करने वाला अश्लील साहित्य नहीं पढ़ना। महिलाओं की ओर विकारी दृष्टि से देखना। पूर्वकल में भोगे हुए भोग-विलास का स्मरण नहीं करना, इन्द्रिय-लालसा उपजाने वाले कामोद्दीपक पदार्थों का सेवन नहीं करना। शरीर का विलासिता पूर्ण श्रृंगार नहीं करना, अंग-प्रदर्शन करने वाले वस्त्र आभूषण नहीं पहनना।

इसी प्रकार के अतिचारों से ब्रह्मचर्य व्रत पालक श्रावकों को अपने व्रत की पूर्ण रक्षार्थ दूर रहना चाहियें ॥ ७ ॥

---

७. स्मरतीव्रभिनिवेशोऽनंगक्रीड़ान्यपरिणयन करणम् ।
अपरिग्रहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥ १८६ ॥ पु. सि.

◆ परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार–

धन-धान्यादिक भेद दश, तिनके युगल विचार।

मित से अधिक बढ़ावना हो, परिग्रह अतिचार ॥ ८ ॥

अर्थ – धन-धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, क्षेत्र-वास्तु के प्रमाण का अतिक्रम हिरण्य सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम दासी-दास के प्रमाण का अतिक्रम कुप्य-भांड के प्रमाण का अतिक्रम इस प्रकार परिग्रह परिमाण के पांच अतिचार हैं।

भावार्थ – १. धन – गाय, बैल, हाथी आदि पशु। धान्य – गेहूँ, चना, मूँग, उड़द आदि।

२. **क्षेत्र** – धान बोने का खेत, वास्तु-घर आदि।

३. **हिरण्य** – चाँदी आदि, **सुवर्ण** – सोना आदि।

४. **दासी** – नौकरानी आदि, दास- नौकर-चाकर आदि।

५. **कुप्य के दो भेद हैं** – क्षाम और कौशेय अर्थात् रेशमी वस्त्र और सूती वस्त्र बरतन आदि इस प्रकार इसके विषय में मेरा इतना ही प्रमाण है इससे अधिक नहीं ऐसा प्रमाण निश्चित करके लोभवश प्रमाण को बढ़ा लेना ये सब परिग्रह परिमाणुव्रत के अतिचार हैं।

अधिक वस्तुओं का उपयोग करने से अधिक आरंभ बढ़ता है उससे अधिक हिंसा होती है। अतः जहाँ तक हो व्रत की रक्षा के लिये इन सब अतिचारों को छोड़ना चाहिये ॥ ८ ॥

अर्थ – *१. कामसेवन की तीव्र लालसा होना-कुत्ते के समान। २. कामसेवन योग्य अंगों से भिन्न अंगों से काम सेवन करना, ३. अपनी संतान भिन्न अन्य का विवाह करना, ४. कुमारी या विवाहिता व्यभिचारिणीयों के यहाँ जाना-सम्पर्क रखना और ५. वेश्यादि के साथ लेन-देन रखना, आना-जाना ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं ॥ ७ ॥*

• दिग्व्रत के अतिचार–

तिरछी उपरी नीचली, दिक सीमा व्यतिकार।
क्षेत्र वृद्धि हद भलना, दिग्व्रत के अतिचार॥ ९॥

अर्थ - तिरछी, ऊपर नीचे दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना, क्षेत्र को बढ़ा लेना, की हुई मर्यादा को भूल जाना ये पाँच दिग्व्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ - १. तिरछी व्यतिकार - समान भूतल में जितना योजन क्षेत्र रखा है या जिस नगर या नदी पर्वत तक दिशा विदिशा में रक्खा है उनसे कुछ आगे बढ़ जाना तिरछी व्यतिकार है।

२. ऊपर व्यतिकार - पर्वत पर ऊँचे जितनी ऊर्ध्व दिशा की मर्यादा रक्खी थी उससे ऊपर चढ़ जाना ऊपर व्यतिकार है।

३. नीचे व्यतिकार - कुएँ में बावड़ी में कोयलों आदि की ज़मीन के भीतर खानों में प्रवेश करने आदि से नीचे की मर्यादा का उल्लंघन करना नीचे व्यतिकार अतिचार है।

४. क्षेत्रवृद्धि - जितना क्षेत्र मर्यादित हैं उससे कुछ अधिक क्षेत्र लोभ के वशीभूत कार्य में ले लेना यह क्षेत्र वृद्धि अतिचार है।

५. हद भूलना - दिशाओं में की गई मर्यादा को भूलकर कुछ अधिक क्षेत्र को उपयोग में ले लेना हद भूल नामका अतिचार है।

---

८. वास्तुक्षेत्राष्टापद हिरण्य धन-धान्य दासदासीनाम्।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रमाः पञ्च॥ १८७॥ पु. सि.।

अर्थ - गृह, भूमि-क्षेत्र, सुवर्ण, चाँदी, धन, धान्य, दास, दासी और वस्त्रादि ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं इनका प्रमाण कर उसका उल्लंघन करना अतिचार है। इन भेदों के पाँच युगल होते हैं यथा गृहक्षेत्र, सोना-चाँदी, धन-धान्य, दासी-दास और वस्त्रादि इनके प्रमाण का अतिक्रमण करना पाँच अतिचार कहलाते हैं॥ ८॥

इन अतिचारों से मर्यादित क्षेत्र से बाहर आरम्भ होने से त्रस स्थावर जीवों की हिंसा होती है। अतः अतिचारों से बचना चाहिए॥ ९॥

◆ देशव्रत के अतिचार-

सीमा बाहर क्षेत्र में, भेजे कहे मंगाय।

देशव्रत अतिचार ये, फेंके रूप दिखाय॥ १०॥

अर्थ - सीमा से बाहर क्षेत्र में किसी को भेजना, शब्द करना, बाहर से कोई वस्तु मंगाना मर्यादा के बार कंकर आदि फेंकना, रूप दिखाना। इस प्रकार पांच देशव्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ - १. जो समय विशेष के लिये मर्यादा रक्खी हो उसके बाहर स्वयं तो नहीं जाना परन्तु अपने काम की सिद्धि हेतु किसी दूसरे आदमी को भेजना ये पहला अतिचार है।

२. मर्यादा से बाहर तो जाना नहीं परन्तु खासकर ताली बजाकर आदि शब्दों के संकेत से अपना अभिप्राय यहीं बैठे-बैठे प्रकट कर देना यह दूसरा अतिचार है।

३. मर्यादा के बाहर स्वयं आज्ञा देकर कोई वस्तु मंगा लेना यह तीसरा अतिचार है।

४. मर्यादा से बाहर कंकड़, पत्थर आदि फेंककर अपने कार्य की सिद्धि करना चौथा अतिचार है।

५. मर्यादा के बाहर स्थित एवं जाने वाले पुरूषों को अपने शरीर रूप आदि दिखाकर किसी प्रयोजन का स्मरण दिलाना यह पाँचवां अतिचार है।

इन सब क्रियाओं से व्रत में एकदेश दूषण आता है अतः देशव्रत पालने वाले पुरुष को इनसे बचना चाहिये॥ १०॥

---

९. ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः-क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरते रत्याशाः पञ्च मन्यन्ते॥ ७३॥ र. श्रा...

• अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार–

भण्ड वचन तन कुक्रिया, कारज बिना विचार।

भोग वृद्धि बकवासपन, अनर्थ दण्ड अतिचार॥ ११ ॥

अर्थ – हास्यादि सहित भंड वचन बोलना, काय से कुचेष्टा करना, बिना प्रयोजन मन-वचन-काय के व्यापार को बढ़ाते जाना, प्रयोजन से अधिक भोगों का उपार्जन ग्रहण करना और लड़ाई-झगड़ा वाले वचन बोलना ये अनर्थदण्ड व्रत के पाँच अतिचार हैं।

भावार्थ – कुछ पुरुष बिना प्रयोजन बात करते-करते हँसी करने के साथ-साथ बुरे वीभत्स श्रृंगारिक आदि शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं प्रत्येक बात में गाली निकाल बैठते हैं। इस प्रकार हास्य सहित भंड वचन बोलने से

---

*..**अर्थ** – दसों दिशाओं में जीवन पर्यन्त के लिए गमनागमन की सीमा की जाती है। उसका उल्लंघन करना अर्थात् कम-अधिक करना अतिचार है। अतः ये पाँच हैं – १. प्रमाद से ऊपर – ऊर्ध्वदिशा में की हुई मर्यादा का उल्लंघन करना, २. अधोगति की सीमा कम-अधिक करना, ३. तिर्यक्-तिरछे गमनागमन सीमा का उल्लंघन करना, ४. क्षेत्र की वृद्धि करना लोभवश और ५. की हुई मर्यादा को प्रमादवश भूलना-विस्मृत करना ये पाँच दिग्व्रत के अतिचार हैं ॥ ९ ॥*

१०. प्रेषण शब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति पुद्गलक्षेपौ।

देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥ ९६ ॥ र. क. श्रा. ॥

***अर्थ** – देशव्रत में की हुई मर्यादा के बाहर किसी व्यक्ति या वस्तु को भेजना, २. की हुई मर्यादा के बाहर की वस्तु मंगाना, ३. मर्यादा के बाहर किसी को संकेत करने को खखारना, खांसना आदि शब्द करना, ४. मर्यादा के बाहर रहने वाले को अपना रूप आकृति दिखलाकर अपना अभिप्राय जताना और ५. मर्यादा के बाहर कंकड़, पत्थर आदि फेंककर अपना अभिप्राय प्रकट करना ये पांच देशावकाश व्रत के अतिचार हैं। इनका त्याग करना चाहिए ॥ १० ॥*

कभी-कभी बड़े दुष्परिणाम निकल बैठते हैं। बड़े-बड़े झगड़े भी हो जाते हैं, इसलिए हास्य मिश्रित भंड वचन बोलना पहला अतिचार है।

२. **तन कुक्रिया**- हास्य सहित भंड वचन बोलना, साथ ही शरीर से हाथ-पैर मुख आदि से कुक्रिया करना, जैसे बात करते-करते दूसरे के शरीर पर हाथ पटकते जाना, हँसते-हँसते लात मारना, घूँसा लगाना, किसी पर आँख चलाना, मुँह से उसे डराना, शरीर का किसी में धक्का देना आदि तन कुक्रिया अतिचार है।

३. **बिना कारज विचार** - जैसे बैठे-बैठे किसी का मन में चिंतवन करना बिना प्रयोन किसी के लिये दुःखदायी वचन बोलना जिस क्रिया से अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है उसे करना जैसे - रास्ता चलते-चलते वनस्पति रोंदना, पानी में पत्थर आदि फेंकना, पशु के लकड़ी आदि मार देना बिना कारज विचार तीसरा अतिचार है।

४. **भोग वृद्ध** - बिना प्रयोजन के वस्तुओं का संग्रह कर लेना बिना प्रयोजन भोग्य उपभोग्य पदार्थों को व्यवहार में लाते जाना भोगवृद्ध अतिचार है।

५. **बकवासपन** – व्यर्थ का बकवास करना, कुछ पुरुष ऐसा करते देखे जाते हैं कि वे राग-द्वेष वश बहुत धृष्टता के साथ अधिक बोलते हैं और बिना विचारे कुछ न कुछ बोलते जाते हैं, बिना प्रयोजन दूसरों के झगड़े में घुस पड़ते और वहाँ पर बड़बड़ाते हैं। इस प्रकार बिना प्रयोजन बोलना बकवासपन अतिचार है।

जिनसे किसी इष्ट की सिद्धि नहीं होती और व्यर्थ कर्मबंध बंधता है ऐसे अतिचारों से अनर्थदण्डव्रतियों को दूर रहना चाहिए॥ ११॥

---

११. कंदर्प कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः॥ ८१॥ र. क. श्रा.।

अर्थ - *अनर्थदण्ड व्रत के पाँच अतिचार हैं - १. कंदर्प, २. कौत्कुच्य, ...*

• **सामायिक व्रत के अतिचार–**

मन वच तन दुःसंचलन, अप माने वेगार।

पाठ सामायिक भूलना, सामायिक अतिचार ॥ १२ ॥

अर्थ - मन, वचन और शरीर इनका दुरुपयोग करना, सामायिक में अनादर करना, सामायिक का समय सामायिक पाठ भूल जाना इस प्रकार ये पाँच अतिचार सामायिक व्रत के हैं।

भावार्थ - १. मन दुःसंचलन - सामायिक करते-करते मन को वश में नहीं रखना, अशुभ संकल्प-विकल्प करना, दुष्ट परिणाम करना, इधर-उधर ध्येय से भिन्न पदार्थों में उसे चले जाने देना आदि मन की अशुभ भावनाएँ मन दुःसंचलन अतिचार हैं।

२. वचन दुःसंचलन - सामायिक पाठ बोलते-बोलते कुछ का कुछ कह जाना जल्दी-जल्दी बोलना एवं अशुद्ध बोलना जिस छन्दादि को जिस लय में पढ़ना है, वैसे न पढ़कर मनमाने तरीके से पढ़ना ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व पढ़ना इत्यादि वचन दुःसंचलन है।

३. इसी प्रकार शरीर व अंगोपागों को चालित करना काय दुःचलन है। इस प्रकार की प्रक्रिया में प्रमाद स्पष्ट है इसलिए सामायिक में मलोत्पन्न करने से अतिचार कहे हैं। जिस कार्य की जो विधि है उसे उसी विधि से करने पर ही उसका यथार्थ फल प्राप्त होता है।

...३. मौखर्य, ४. अतिप्रसाधन और ५. असमीक्ष्य अधिकरण।

रागोद्रेक से असभ्य, हास्य भरे वचन बोलना कन्दर्प है। हास्य और असभ्य वचनों के साथ कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है। धृष्टतापूर्वक प्रलाप करना - मौखर्य है। आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग सामग्री रखना और बिना विचारे कार्य करना ये पाँचों का स्वरूप है ॥ ११ ॥

४. सामायिक में उपेक्षा – उत्साह रहित हो मात्र नियम की पूर्ति के लिए कैसे भी अनादर करते हुये सामायिक काल पूरा कर देना चौथा अतिचार है।

५. सामायिक का जो काल है उसकी अन्यान्य कार्यों की व्यग्रता से याद नहीं रहना और सामायिक पाठ भूल जाना पाँचवां अतिचार है।

इन अतिचारों के रहते सामायिक में चित्त नहीं लग सकता एवं आत्मा की निश्चलता नहीं हो सकती। अतः इन अतिचारों को नहीं लगाना ॥ १२ ॥

• प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार–

बिन शोधी लखी वस्तु को गेह बिछावे डार।
विधि भूले नहीं आदरे प्रोषध के अतिचार ॥ १३ ॥

अर्थ – बिना देखे, बिना झाड़े किसी वस्तु का ग्रहण करना, बिस्तर बिछा देना तथा किसी वस्तु को छोड़ देना प्रोषधोपवास को भूल जाना और उसमें आदर नहीं रखना ये पाँच प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ – १. जिस दिन प्रोषधोपवास किया जाता है उस दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग होने से शरीर में शिथिलता आ जाना स्वाभाविक है, ऐसी अवस्था में शरीर के ओढ़ने, पहने के वस्त्र आदि, पूजन सामग्री, पूजन के अन्य उपकरण, शास्त्रजी, चौकी आदि वस्तुओं को बिना देखे और बिना झाड़े-पोंछे ही उठाकर काम में ले लेना यह पहला अतिचार है।

२. शिथिलतावश सोने की चटाई, शीतल पट्टी आदि बिस्तर और बैठने

---

१२. वाक्काय मानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामायिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥ १०५ ॥ र. क. श्रा.।

अर्थ – सामायिक करने का नियम धारण कर मन, वचन, काय को चंचल करना – स्थिर नहीं रखना, प्रमादवश अनादर करना और की हुई समय की मर्यादा या पाठ को भूल जाना ये सामायिक शिक्षाव्रत के ५ अतिचार हैं ॥ १२ ॥

की आसन आदि वस्तुएँ बिना देखे शोधे बिछा देना दूसरा अतिचार है।

३. बिना देखी बिना शोधी जमीन पर मलमूत्र कफ, थूंक आदि का त्याग करना तीसरा अतिचार है।

४. प्रोषधोपवास के दिन को एवं उसकी विधि तथा करने योग्य क्रिया आदि को भूल जाना चौथा अतिचार है।

५. प्रोषधोपवास में भूख-प्यास से पीड़ित होने से एवं शिथिलता आ जाने से पूर्ण आदरभाव नहीं रखना परन्तु उपेक्षा भाव से उसे पालना व छः आवश्यकादि में अनादर करना पाँचवां अतिचार हैं।

इन पाँचों अतिचारों के नहीं लगाने से जीवरक्षा हो सकती है। और व्रत भी पूर्ण पल सकता है॥ १३॥

• भोगोपभोग परिमाण के अतिचार–

सम्बन्धित मिश्रित सचित्त वस्तु का आहार।
तथा पुष्टिकर अधपका भोगादिक अतिचार॥ १४॥

अर्थ – सचित्त से सम्बन्ध रखने वाला आहार, सचित्त से मिला आहार, सचित्त वस्तु का आहार, पुष्ट गरिष्ट आहार अच्छी तरह नहीं पकाया हुआ आहार ये भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ – सचित्त का अर्थ जीव यानि चित्त सहित है वह सचित्त कहलाता है।

---

१३. अनवेक्षिता प्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य॥ १९२॥ पु. सि.

अर्थ – बिना शोधे- देखे वस्तु का ग्रहण करना, चटाई आदि बिस्तर लगाना, बिनाभूमि शोधे मलमूत्र क्षेपण करना, उपवास की विधि भूल जाना और उपवास मे अनादर भाव करना ये पाँच अतिचार हैं॥ १३॥

१. सचित्त से सम्बन्ध हो अर्थात् जैसे हरी पत्तल में परोसा हुआ या हरी पत्तल से ढंका हुआ भोजन खा लेना। सचित्त सम्बन्धित अतिचार है।

२. सचित्त से एकमेक, सचित्त सम्मिलित सचित्त द्रव्याश्रित, सूक्ष्म प्राणियों से मिश्रित, जिसको पृथक करना शक्य नहीं है वह सचित्त मिश्रित अतिचार है।

३. जो पदार्थ सचित्त हैं। सचित्त से चेतना सहित द्रव्य लिया जाता है। अतः चेतना सहित आहार को ग्रहण करना सचित्त आहार अतिचार है।

४. गरिष्ठ पुष्ट पदार्थ जो इन्द्रिय तथा काम विकार को उत्तेजित करने वाला आहार चौथा अतिचार है.

५. जो ठीक तरह से पका नहीं है, अर्द्धपक्व है, जिनका अग्नि पर पूरा पाक नहीं हुआ है। जो जला हुआ है उसे भी दुःपक्व कहते हैं। ऐसी वस्तु का भक्षण करना अधपका अतिचार है।

इस प्रकार व्रत रक्षा के लिये इन उपर्युक्त अतिचारों को रोकना अत्यन्त आवश्यक हैं॥ १४॥

◆ अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार–

हरित ढका पर को कहा, सचित्त रखा आहार।
समय टाल ईर्षा करन, अतिथिव्रत अतिचार॥ १५॥

---

१४. सहचित्तं संबद्धं मिश्रं दुःपक्वमभिषवाहारः।
भोगोपभोग विरते रतीचारापंच परिवर्ज्या॥

अर्थ - निश्चय ही सचित्त - जीव सहित कच्ची हरी वस्तु का आहार करना, सचित्त पदार्थ से सम्बन्धित वस्तु का आहार करना, सचित्ताचित्त मिश्रित आहार करना, दुःपक्व - कम या अधिक पका भोजन - आहार करना और गरिष्ठ - कामोद्दीपक आहार करना ये पाँच भोगोपभोग व्रत के अतिचार हैं॥ १४॥

अर्थ - सचित्त में ढका हुआ देना, दूसरों को दान देने की कह देना, सचित्त पदार्थ में रखकर भोजन देना और ईर्ष्या भाव धारण कर देना इस प्रकार ये पाँच अतिचार अतिथि संविभाग व्रत के होते हैं।

भावार्थ - १. सचित्त वस्तु से ढंका हुआ अर्थात् कमलपत्र आदि से ढंका हुआ आहार देना यह पहला अतिचार है।

२. जिस समय अतिथि साधु तपस्वी भोजन के लिए घर आ जाय उस समय किसी कार्य की तीव्रता से स्वयं तो दूसरे कार्य में लग जाय और किसी अन्य दाता को कह दे कि इन्हें तुम दो मुझे कार्य है ऐसा कहना दूसरा अतिचार है। इस अतिचार से उपेक्षा भाव सिद्ध होता है।

३. सचित्त कमलपत्र केले के पत्ते आदि सचित्त वस्तु में रखकर आहार देना तीसरा अतिचार है।

४. भिक्षाकाल को छोड़कर दूसरा काल अकाल है, उस काल का उल्लंघन कर आहार देना चौथा अतिचार है। जैसे साधु का पड़गाहन कर घर ले आये और उन्हें आसन पर बिठाकर स्वयं बीच-बीच में दूसरे कार्य में लग जाने से आहार देने में विलम्ब कर लिया जिससे साधु का आहार का समय निकल गया ऐसी अवस्था में साधु नहीं ठहर सकता इसलिए यह अतिचार हुआ।

भिक्षाकाल सूर्योदय के तीन घड़ी पश्चात् और सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व का काल भिक्षाकाल है जिसे प्रथमबेला और द्वितीय बेला कहते हैं।

५. दूसरे दाता के गुणों की सराहना न करते हुए मन में ईर्ष्याभाव को धारण करते हुए अनादर पूर्वक दान देना पाँचवां अतिचार हैं।

यह सब दोष भक्ति में कमी एवं प्रमाद उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए अतिथि संविभाग व्रत धारण करने वाले गृहस्थ को इनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए॥ १५॥

◆ सल्लेखना के अतिचार–

जीवित मरन की आसमन याद करन परिवार।

सुख चिंतन पर सुख चहन, सल्लेखन अधिकार॥ १६॥

अर्थ - जीने-मरने की अभिलाषा, पुत्र-मित्रादिक का स्मरण, सुखों का चिंतवन करना पर भव में स्वर्गादिक सुखों की वांछा करना इस प्रकार ये पाँच अतिचार सल्लेखना के हैं।

भावार्थ – १. जिसने मरने के पूर्व सल्लेखना तो धारण कर ली हो परन्तु मन में यह भाव उसके हों कि अभी कुछ काल और जीता रहूँ तो अच्छा है ऐसी जीने की अभिलाषा रखना जीवित आसमन नामका पहला अतिचार है।

२. सल्लेखना धारण करने के पीछे कुछ वेदना होती हो, नग्न शरीर रखने से ठंड लगती हो या किसी प्रकार की पीड़ा उपस्थित हो गई हो तो ऐसी अवस्था में उसे शान्ति से सहन नहीं करके यह विचार मन में लाना कि जल्दी ही मरण हो जाय तो मैं इस बाधा से मुक्त हो जाऊँ ऐसा विचार आना मरण आसमन अतिचार है।

३. पूर्व में मित्रों के साथ की गई धूलिक्रीड़ा आदि क्रीड़ाओं का स्मरण

---

१५. परदातृव्यपदेशः सचित्त निक्षेप तत्पिधाने च।

कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चैत्यतिथि दाने॥ १९४॥ पु. सि.

अर्थ – १. स्वयं अपने हाथ से आहार न देकर अन्य से दिलवाना, २. आहार की सामग्री को हरित पत्रादि पर रखकर आहार देना, ३. हरित पत्रादि से ढके आहार को देना, ४. आहार बेला समय टालकर आहार देना, अनादर भाव से आहार देना अथवा अन्य दाता के साथ द्वेष कर आहार देना – ५. ईर्ष्या से आहार देना ये पाँच अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार हैं॥ १५॥

करना तथा पूर्व में मेरे मित्रों मे मुझे किस-किस प्रकार सुख-दुःख में सहायता दी थी एवं मन में अपने पुरातन एवं नवीन मित्रों की याद कर रहा है कि ये सब अब मुझसे छूट जायेंगे इस प्रकार का स्मरण करना तीसरा अतिचार है।

४. मरते हुए भी पहले भोगों की याद करना कि स्त्री, पुत्र, वैभव आदि पहले इसी पर्याय में अच्छे-अच्छे भोग भोगे हैं अब नहीं मालूम कैसी अवस्था प्राप्त होगी इस प्रकार पूर्व सुखों का पुनः-पुनः स्मरण करना चौथा अतिचार है।

५. सल्लेखना धारण करके उसका फल पर भव में स्वर्ग या भोगभूमि आदि के सुखों की चाहना करना पर सुख चहन नामका पाँचवां अतिचार है।

इस प्रकार पाँच अणुव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार, तीन गुणव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार, चार शिक्षाव्रतों के पाँच-पाँच और सल्लेखना के पाँच अतिचार तथा सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार कुल ७० होते हैं इनको बचाकर व्रतों की रक्षा करना श्रावक का प्रथम कर्त्तव्य है ॥ १६ ॥

◆ नवम अध्याय का सारांश–

जो श्रावक गुण व्रतनि को पाले सदा अदोष।
महावीर पुरुषार्थ बल लहे स्वर्ग शिवकोष ॥ १७ ॥

अर्थ – जो श्रावक बारह व्रतों को निरन्तर दोष रहित निरतिचार पालता

---

१६. जीवितमरणाशंसे, सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखना काले ॥ १९५ ॥ (पु. सि.)

अर्थ – सल्लेखना धारण कर जीने की इच्छा करना, २. शीघ्र मरण चाहना, ३. पूर्व के मित्रों का स्मरण करना, ४. पूर्व भोगे भोगों का स्मरण करना और ५. आगामी भव में भोगों की प्राप्ति के लिए निदान करना ये ५. सल्लेखना के अतिचार कहे है इनका त्याग करना चाहिए ॥ १६ ॥

है वह स्वर्ग में उत्पन्न होता है और वहाँ से चयकर मनुष्यभव धारण कर अपने पुरुषार्थ के बल से महाव्रतों को अंगीकार कर मोक्ष सुख प्राप्त करता है ऐसा आचार्य महावीरकीर्ति महाराज ने कहा है ॥ १७ ॥

इति नवम अध्याय

१७. इत्येतानतिचारानपरानपि, संप्रत्यर्क्य परिवर्ज्य ।

सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थ सिद्धिमेत्यचिरात् ॥ १९६ ॥ पु. सि. ।

अर्थ - उपर्युक्त समस्त अतिचारों तथा ओर भी इसी प्रकार अन्य भी अतिक्रम, व्यतिक्रमादिकों को त्याग कर जो अणुव्रतों पाँचों, चार शिक्षाव्रत और ३ गुणव्रतों का पालन करता है और निर्मल-निरतिचार सम्यक्त्व पालन व समाधि मरण पूर्वक मृत्यु का वरण करने वाला अतिशीघ्र सिद्धपद-मुक्तिपद को प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

❁ अथ दशम अध्याय ❁

◆ **प्रतिमा का लक्षण–**

पूर्वगुणों के साथ जह, बढ़त स्वगुण नित थान।
सूचक आतम शुद्धि की, ग्यारह प्रतिमा जान ॥ १ ॥

अर्थ – श्रावक जीवन विकास क्रम की ग्यारह श्रेणियाँ हैं। इन्हें आगम भाषा में प्रतिमा कहते हैं। क्रमशः पूर्व-पूर्व प्रतिमा के गुण-धर्म नियमों के साथ-साथ आगे की प्रतिमाओं के नियमों का पालन करते हुए श्रावक अपनी आत्मशुद्धि करता हुआ धारण कर मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होता है। प्रारम्भिक आठ मूलगुण, षट्कर्मों का पालन करता हुआ प्रथम दर्शन प्रतिमा धारी बनता है। इसी प्रकार अग्रगामी बनता जाता है ॥ १ ॥

◆ **१. दर्शन प्रतिमा का लक्षण–**

मूलगुणों युत समकिती, जग-तन-भोग विरक्त।
दर्शन प्रतिमा होत तिस, जो परमेष्ठी भक्त ॥ २ ॥

अर्थ – सप्त तत्त्व और सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का अकाट्य श्रद्धान करना, अष्ट मूलगुणों को धारण करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। निश्चय नय से स्व आत्म स्वरूप में रूचि व श्रद्धा होना सम्यक्त्व है। इस सम्यक्त्व का धारी

---

१. श्रावक पदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रम विवृद्धाः ॥ १३६ ॥ र. क. श्रा.।

अर्थ – वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु के द्वारा श्रावक की प्रतिमाएँ या पद ग्यारह कहे गये हैं। इन प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व की प्रतिमाओं का गुण, धर्म, व्रत सम्मिलित रहते हैं। इस प्रकार क्रम से बढ़ते गुण रहते हैं। श्रावक के चारित्र संयम का अन्तिम विकास है। इनके अनन्तर महाव्रत रूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर पद धारण करता है ॥ १ ॥

संसार-शरीर भोगों के प्रति विरक्त होता है। पञ्च परमेष्ठी - अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में अडिग भक्ति करता है, विशेष रूप जिन दर्शन व्रत अनुष्ठानादि के साथ श्रावक के षट् कर्मों -

देवपूजा गुरुपास्ति, स्वाध्याय संयमस्तपः।
दानश्चेति गृहस्थानां, षट् कर्माणि दिने-दिने ॥

१. देव - जिनेन्द्र भगवान की पूजा, २. निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राधारी गुरुओं की उपासना, ३. जिनागम का अध्ययन-वाचन, ४. संयम-षट्काय जीवों का यथासंभव रक्षण, पंचेन्द्रिय और मन को अशुभ क्रियाओं से रोकना, ५. तप - यथा समय यथायोग्य व्रत उपवासादि करना और ६. दान - योग्य काल में चतुर्विध संघ को चार प्रकार का दान देना। इस प्रकार नियम बद्ध कर्त्तव्य निष्ठ होना प्रथम दर्शन प्रतिमा कहलाती है। इसका धारी दार्शनिक श्रावक होता है॥ २॥

• २. व्रत प्रतिमा स्वरूप–

निरतिचार निःशल्य नित, बारह व्रत अभिराम।
इस श्रावक आचार का है, व्रत प्रतिमा नाम ॥ ३ ॥

अर्थ - उपर्युक्त दर्शन प्रतिमा के सम्पूर्ण व्रत-नियमों के पालन के साथ-साथ पाँच अणुव्रत, चार शिक्षाव्रत और तीन गुणव्रतों का पालन करना द्वितीय व्रत प्रतिमा है। यद्यपि प्रथम प्रतिमा में कुछ अंश में इनका पालन होता है परन्तु

---

२. सम्यग्दर्शन शुद्धः संसार शरीर भोग निर्विण्णः।
पञ्च गुरुचरण शरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥ १३७ ॥ र. क. श्रा.।

अर्थ - जो निरतिचार सम्यक्दर्शन का धारक है, संसार, शरीर और विषय भोगों से निरंतर विरक्त-उदासीन रहता है, तथा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँचों परमेष्ठियों की शरण में दत्तचित्त रहता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक कहलाता है॥ २॥

यहाँ निरतिचार, विशेष रूप से मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक देश-एकदेश पालन करना व्रत प्रतिमा कहलाती है। इसका धारी व्रती श्रावक कहलाता है। बारह व्रतों का वर्णन पूर्व में आ चुका है, अतः यहाँ नहीं लिखा ॥ ३ ॥

◆ ३. सामायिक प्रतिमा का लक्षण–

चारों दिशा आवर्तत्रय, चउ नति, परिग्रह टाल।
थिर आसन शुभयोग त्रय, जप प्रतिमा तिहुँकाल ॥ ४ ॥

अर्थ – प्रातः, मध्याह्न व सायंकाल २-२ घड़ी-अन्तमुहूर्त पर्यन्त सर्व सावद्य क्रिया, परिग्रहादि त्याग कर शुद्ध मन, वचन, काय से, चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त (दोनों हाथ मुकुलीकृत दायें से बायें तीन बार घुमाना) करना तथा एक-एक शिरोनति-नमस्कार करना। पुनः स्थिर आसन लगाकर आत्म चिन्तन करना अथवा पंच परमेष्ठी के स्वरूप का विचार करते हुए महामंत्र णमोकार का जाप करना चाहिए। यथाकाल अन्य भी आगमोक्त, गुरु प्रदत्त किसी भी मंत्र का जप व ध्यान करें। यह सामायिक प्रतिमा कहलाती है। इसमें सामायिकी विशेष रूप आत्म परिणाम शुद्धि को वृद्धिंगत करने का प्रयास करता है ॥ २५१ ॥ सामायिक के प्रारम्भ में जो क्रिया करे उसे ही विसर्जन समय में भी करना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक दिशा में तीन-तीन आवर्त व एक-एक शिरोनति करें ॥ ४ ॥

---

३. निरतिक्रमणमणुव्रत, पंचकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥ १३८ ॥ र. क. श्रा.।

अर्थ - ये श्रावक पाँचों अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों, इन बारह व्रतों का निरतिचार, निर्दोष पालन करता है वह व्रतियों में श्रेष्ठ व्रती कहलाता है। निरतिचार का अभिप्राय, माया, मिथ्या और निदान ये तीन शल्य हैं। इनसे रहित होकर त्याग कर व्रतों का पालन करना चाहिए। वही उत्तम व्रती श्रावक है ॥ ३ ॥

४. प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप–

निजबल को न छिपाकर, चउपर्व दिवस प्रतिमास।
ध्यान लीन तजे अशन चउ, प्रोषध प्रतिमा उसे जान॥ ५॥

अर्थ - प्रत्येक महीने में २ अष्टमी और दो चतुर्दशी आती हैं। इन्हें पर्व कहते हैं। पर्व का अर्थ पोरी या गांठ होता है, गन्ने या बांस में ये ग्रन्थियाँ अंकुर उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार ये चारों दिवस धर्मांकुर उत्पन्न करते हैं, इसीलिए पर्व के दिन कहलाते हैं। श्रावक अपने त्याग, व्रत, उपवास की भावना का स्मरण व व्यक्ति करण करते हैं। इन पर्वों में यथाशक्ति उपवास करना या प्रोषधोपवास करना प्रोषधोपवास प्रतिमा कहलाती है। इसमें प्रोषध और उपवास ये दो शब्द हैं। प्रोषध का अर्थ है दिन में एक भुक्ति-एक बार भोजन करना और उपवास का अर्थ है चारों प्रकार के (खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय) आहार का त्याग करना उपवास है। प्रोषध पूर्वक उपवास करना अर्थात् सोलह पहर का आहार-पान त्याग प्रोषधोपवास कहलाता है। यथा अष्टमी को प्रोषधोपवास

---

४. १. चतुरावर्त त्रितयश्चतुः प्रणामःस्थितो यथा जातः।
सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवंदी॥ १३९॥ र. क. श्रा.।

अर्थ - जो श्रावक प्रत्येक दिशा में तीन-तीन आवर्त एवं प्रत्येक आवर्तों के अनन्तर एक-एक नमस्कार कर बाह्याभ्यंतर परिग्रह रहित मुनि के समान अवस्थित-पद्मासन या खड्‌गासन से स्थित हो, मन, वचन, काय से शुद्ध हो तीनों संध्याओं-कालों में ध्यान करता है वह सामायिकी प्रतिमाधारी कहलाता है।

२. आर्त रौद्र परित्यक्त स्त्रिकालं विदधाति यः।
सामायिकं विशुद्धात्मा सामायिकवान मतः॥

अर्थ - चार प्रकार का आर्तध्यान और चारों प्रकार के रौद्रध्यान को त्याग कर, धर्मध्याननिष्ठ हो, मन-वचन-काय की शुद्धि पूर्वक त्रिकाल संध्याओं में सामायिक विधि धारण करता है, वह सामायिकवान धारी कहलाता है। यही सामयिक प्रतिमा है॥ ४॥

करना है तो सप्तमी को एकासन करे, नीरस आदि से भी शक्ति अनुसार करना, अष्टमी को उपवास करे तथा नवमी को पुनः एक भुक्ति करे यह प्रोषधोपवास कहा जाता है। इसे प्रोषधोपवास प्रतिमा कहते हैं। इन दिनों में यथाशक्ति आरंभ परिग्रह का त्याग कर जिन पूजा, भक्ति, स्तवन, दानादि धार्मिक क्रियाएँ करें। विषय-भोगों से विरक्त रहते हुए ध्यान-स्वाध्याय में समय यापन करना चाहिए ॥ ५ ॥

◆ ५. सचित्त त्याग प्रतिमा–

साग बीज फल फूल दल जल सचित्त तजि देय।
भर जीवन इन राग तजि, सचित्त त्याग प्रतिमा सेय ॥ ६ ॥

अर्थ – जो श्रावक आजन्म मूल, फल, पत्र, शाक, कोंपल, जल, बीज आदि को सचित्त अर्थात् बिना पकाये खाने का त्याग करता है उसके सचित्त त्याग प्रतिमा होती है। इससे दया, अहिंसा व्रत पालन होता है। जिह्वा इन्द्रिय-रसना की लोलुपता नष्ट होती है। उष्ण गरम सेवन करता है। अन्य भी फलादि जिन में बीज रहते हैं उन्हें कच्चे, बिना पकाये भक्षण नहीं करता। कारण बीज के अन्दर योनिभूत जीव होता है। इनका त्यागी दयामूर्ति कहलाता है ॥ ६ ॥

---

५. पर्वदिने चतुर्ष्वपि मासे-मासे स्वशक्ति मनिगुह्य।
प्रोषध नियम विधायी, प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः ॥ १४० ॥ र. श्रा.

अर्थ – जो श्रावक प्रत्येक मास के चारों पर्वों – अष्टमी – चतुर्दशी के दिन अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर प्रोषधोपवास करने का नियम पालन करता है वह प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी कहलाता है ॥ ५ ॥

६. १. मूल फल शाक शाखा, करीरकन्द प्रसून बीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥ १४१ ॥ र. श्रा.

२. सच्चित्तं पत्त फलं छल्ली मूल किसलयं बीजं।
जो णय भक्खहि प्राणी सचित्त विरओ हवे सोवि ॥...

• ६. रात्रि भुक्ति त्याग–

जीवदया हित नित तजे, निशि भोज सातिचार।
जघन्य कहे गृही दिन भोगन, षष्ठम प्रतिमा धार ॥ ७ ॥

अर्थ – यद्यपि सामान्य श्रावक को भी रात्रि भोजन का त्याग रखना ही चाहिए, रखता भी है। परन्तु रोगादि आपत्तिकाल में जल, फल, दुग्ध, औषधि आदि ग्रहण करता है। अन्य कुटुम्बादि पीड़ितों को करवा भी देता है। परन्तु इस प्रतिमा का पृथक् विधान करने का अभिप्राय है कि अब वह निरतिचार, निर्दोष शुद्ध रूप में चतुर्विध आहार का नवकोटि से त्याग करता है। अर्थात् न खाता है, और न ही अन्य को ही खिलाता है, न अनुमोदना ही करता है। यहाँ प्रश्न उठता है, यदि कोई सौभाग्यवती महिला छठवीं प्रतिमा के व्रत ग्रहण करती है और उसे सन्तान लाभ हो जाय तो बालक को रात्रि में दुग्ध-पान करायेगी या नहीं ? कराये तो दोष लगेगा और नहीं पिलाये तो बालमरण संभव है ? प्रश्न उत्तम और यथार्थ है परंतु सत्य के ऊपर तथ्य होता है। रात्रि भोजन त्याग का अर्थ अहिंसा धर्म पालन है। दयाधर्म में अदया को स्थान कहाँ ? अतएव सन्तान रक्षण-प्राणरक्षण के लिये उसे स्तनपान कराना परमावश्यक है अन्यथा अनिवार्य मरण हो सकता है। अस्तु आचार्यों ने स्तनपायी बालक को दुग्धपान कराने की अनुज्ञा प्रदान की है।

इस प्रतिमा को दिवामैथुनत्याग प्रतिमा भी कहते हैं। तथाऽपि उपर्युक्त विधि तो अवश्य पालन करना होगा ॥ ७ ॥

---

*...**अर्थ** – १. जो दयामूर्ति श्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, कोंपल, कन्द, बीज, प्रसून आदि का भक्षण नहीं करता वह सचित्तत्याग प्रतिमाधारी है।*

२. सचित्त – जीव सहित पत्रों-पत्तों, फल, छल्ली-अधपके, मूल, कोंपल, बीज आदि का भक्षण नहीं करता वह दयालु सचित्तत्याग पञ्चम प्रतिमाधारी है ॥ ६॥

◆ ७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा–

काम वासना विरत नित, तजत सकल त्रिया संग।
ब्रह्मचर्य प्रतिमा व्रती, पालत शील अभंग॥ ८॥

अर्थ – इस प्रतिमा के धारण करने के पूर्व प्रतिमाधारी स्वदार संतोष रूप ब्रह्मचर्य पालन करता था। अर्थात् पर स्त्री संभोग मात्र का त्यागी था। परन्तु सप्तमपद ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी नव कोटि से स्त्री मात्र संभोग का त्याग कर देता है। अर्थात् कामवासना से पूर्ण विरक्त हो जाता है। चेतन-अचेतन सभी प्रकार की स्त्रियों, हाव-भावों में विरक्त हो जाता है। शील नव बाड़ों को धारण करता है। अपने ब्रह्मचर्य व्रत में लगने वाले पाँच अतिचारों का त्याग कर निरतिचार व्रत पालन करता है। वह विचार करता है यह शरीर माता के रज व पिता के वीर्य से उत्पन्न होता है अतः इसका बीज ही मल है, निरन्तर नव द्वारों से मल प्रवाहित होता रहता है - अर्थात् मल ही इसकी योनि है, जिस प्रकार मल से निर्मित मल से भरा हो तो क्या कोई सत्पुरुष उसे ग्रहण करेगा? नहीं, स्पर्श भी

---

१. अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं, नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्ति विरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥ १४२॥ र. क. श्रा.।

अर्थ *– प्राणियों के प्रति दयालु चित्त हो जो श्रावक, नवकोटि से रात्रि में अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है वह रात्रि भोजन त्याग प्रतिमाधारी है। इसे दिवामैथुन प्रतिमा भी कहते हैं -*

२. रात्रावपि ऋतावेव सन्तानार्थं मृतावपि।
भजन्तिवास्वम कान्तां न तु पर्व दिनादिषु।

अर्थ *– दिन में मैथुन का त्यागी सन्तानाभाव में सन्तान की इच्छा से ऋतुकाल में अर्थात् रजस्वला अवस्था में रात्रि को भी अपनी विवाहित स्त्री का भी सेवन नहीं करते हैं और अष्टमी-चतुर्दशी पर्व के दिनों में भी सर्वथा मैथुन सेवन का त्याग कर ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। इसे दिवामैथुन त्याग प्रतिमा कहा है॥ ७॥*

नहीं कर सकता। उसी कोटि का यह शरीर है मल-मूत्र के साथ अनन्त सूक्ष्म निगोदिया जीवों से भरा है। एक बार संभोग (स्त्री संभोग) करने पर नव लक्ष कोटि जीवों का घात होता है। जिस प्रकार तिलों भरी नाली (नलिका) में तपती आग समान लोहे की गर्म सलाई घुसा दें तो वे तिल चट-चट झुलस जायेंगे, इसी प्रकार नारी के योनि स्थान में पुरुष लिंग प्रवेश संघट्टन से उपर्युक्त प्रमाण जन्तु समूह तत्काल यमलोक की यात्रा कर जाते हैं, मर जाते हैं झुलस-झुलस कर। वीभत्स स्थान तो है ही। अतः दयाधर्मी श्रावक घृणित कार्य का त्याग कर शान्ति मार्ग, दयामयी-अहिंसाधर्म का रक्षण करने हेतु सर्वथा सर्वदा के लिए मैथुन का सर्वथा त्याग कर धर्म की शरण ग्रहण करता है।

अपने व्रत के निर्दोषार्थ वह अपनी विवाहिता के साथ एक बिस्तर पर शयन नहीं करता, अतिनिकट वास नहीं करता, पूर्व भोगे भोगों का स्मरण नहीं करता, भोगों के सम्बन्धी, कामवासना जाग्रत करने वाली कथा-वार्ता-चर्चा नहीं करता, कामोद्दीपक पौष्टिक आहार नहीं करता। रागोत्पादक वस्त्राभरण-श्रृंगारादि का त्याग करता है। काम वासना जाग्रत करने वाले गीतादि नहीं सुनता, अश्लील उपन्यास, पत्र-पत्रिकाएँ आदि न पढ़ता है, न पढ़ाता है, न पढ़ाने की इच्छा ही करता है। कामोत्तेजक पुष्प, माला, इत्रादि वस्तुओं का उपयोग नहीं करता है। इस प्रकार काम भोग-वासना से सर्वथा विरक्त रहता है। अन्य का विवाह आदि न करता है न कराता है न अनुमोदना करता है। यदि स्वयं के पुत्र-पुत्रियाँ हों और स्वयं पर ही भार हो तो कर सकता है। परन्तु सतत् विरत भाव ही रखता है। परिवार पालन का भार हो तो यथा-योग्य वाणिज्यादि कर सकता है। आवश्यकतानुसार षट्कर्मों का अवश्य पालन करता है। पूजा-दानादि करता है॥ ८॥

---

८. १. ततो दृग् संयमाभ्यां स वशीकृत मनस्त्रिधा।
योषात्वशेषा नो योषां भजति ब्रह्मचर्य सः॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन और संयम के द्वारा जिसने मन, वचन, काय को वश कर..

◆ ८. आरम्भ त्याग प्रतिमा–

जीवहिंसा के कार्य जे, सेवा कृषि वाणिज्य।
तजत सकल आरंभ को, अष्टम प्रतिमा धार ॥ ९ ॥

अर्थ – जिन कार्यों में अर्थात् व्यापारादि में अधिक हिंसा-जीवघात होता है उनका सर्वशा त्याग करता है। धनैषणा रहित होना। मात्र अपनी आजीविका पालनार्थ, न्याय पूर्वक, सौजन्य के साथ वित्तार्जन करता है। जिन असि, मषि, शिल्पादि कार्यों में विशेष हिंसा संभवित है उनका सर्वथा त्याग करता है। आशा, तृष्णा को सम्पुट करता है। लोभ-वाञ्छा संकुचित करने का उत्तरोत्तर प्रयास करता है।

पूर्व संचित चल-अचल सम्पत्ति का अपने पुत्र-कलत्रादि को विभाजित कर स्वयं के लिए आवश्यकतानुसार कुछ अल्प भाग रख लेता है। पूजा, दान, औषधादि के लिए आवश्यक सम्पत्ति रखता है। लाभालाभ में समभाव रखता है। आवश्यकतानुसार अपना भोजनादि भी स्वयं तैयार कर सकता है। उतने पूर्ति मकान-कमरादि आवास स्थान रखता है। यह आठवीं आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है ॥ ९ ॥

... लिया है वह समस्त स्त्रियों का त्याग कर मैथुन सेवन नहीं करता वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

२. मल बीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगंधि बीभत्सम्।
पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥ १४३ ॥ र. क. श्रा.।

अर्थ *– जो श्रावक शरीर को मल से उत्पन्न हुआ, मल को उत्पन्न करने वाला मल को प्रवाहित करने वाला, दुर्गन्ध युक्त, ग्लानि जनक देखता हुआ काम सेवन से विरक्त होता है, सर्वथा स्त्री संभोग का त्याग करता है वह सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी कहलाता है ॥ ८ ॥*

९. १. सेवाकृषि वाणिज्य प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपात हेतोर्योऽसावारम्भ विनिवृत्तः ॥ १४४ ॥...

• ९. परिग्रह त्याग प्रतिमा–

सकल परिग्रह त्याग धरि, निर्ममता वैराग्य युत।

मध्यम श्रावक होय तव, नववीं प्रतिमा युक्त ।। १० ।।

अर्थ - संसार, शरीर, भोगों से विरक्त मोक्षेच्छु भव्य संवेग-वैराग्य भाव सम्पंन्न हो उपर्युक्त प्रतिमाओं के नियमों के पालन के अन्तर्बाह्य परिग्रहों का त्याग करता है। हाँ संयम के साधन उपकरण मात्र रखता है। उनमें शरीर आच्छादन योग्य अल्प मूल्य वाले कुछ वस्त्र और भोजन-पान, स्नानादि योग्य कुछ पात्र रखता है उनमें भी मूर्च्छा रहित रहता है। त्याग की भावना रखता है। सीमित ही वस्तुओं का उपयोग करता है।

घर, मन्दिर या अन्य एकान्त स्थान में ही निवास, शयनादि करता है। रोगादि होने पर औषधि सेवा सुश्रुषा के सम्बन्ध में कुटुम्बियों-पुत्रादि से कह देता है करें तो कराता है अन्यथा कलह-विसंवाद नहीं करता। भोजन भी पारिवारिक जन जो कुछ देते हैं कर लेता है, याचना नहीं करता। सन्तोष धारण करता है। इस प्रकार संसार से उदासीन रहने वाला परिग्रह त्याग नवमीं प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। यह घर में जल तें भिन्न पद्म (कमल) समान अलिप्त रहता है ।। १० ।।

...अर्थ - जो श्रावक जीव हिंसा के कारण नौकरी, खेती, व्यापारादिक हैं मुख्य जिनमें ऐसे आरम्भ से विरक्त होता है, वह आरम्भ त्यागी श्रावक अष्टम प्रतिमाधारी कहलाता है।

२. निरूढ़ सप्त निष्ठेंगि घातांगत्वात्करोति य,

न कारयति कृष्यादीनारंभ विरतस्त्रिधा।

अर्थ - जो श्रावक नैष्ठिक जीवों के घात से हेतुभूत कृषि-खेती आदि आरम्भ को न स्वयं करता है और न अन्य से करवाता है वह आरम्भत्यागी आठवीं प्रतिमा-धारी है ।। ९ ।।

• १०. अनुमति त्याग प्रतिमा स्वरूप–

आरम्भ परग्रिह में तथा, लौकिक कार्य मंझार।
निज अनुमति भी देय नहीं, दशवीं प्रतिमा धार ॥ ११ ॥

अर्थ – इस लोक व्यवहार सम्बन्धी, आरम्भ-परिग्रह के कार्यों में विवाह, गृह निर्माण, व्यापार, लेन-देनादि कार्यों में अनुमति नहीं देता। अपने पारिवारिक जनों के पूछने पर भी सलाह नहीं देता, वचन से कहता नहीं, किये जाने पर अनुमोदना भी नहीं करता। रागादि रहित सम बुद्धि रहता है। एकान्त मन्दिर, मठ आदि में रहता है। घरेलू जन अथवा अन्य श्रावक निमंत्रण से बुलाते हैं तो सन्तोष से भोजन कर आता है। खट्टा-मीठा, चरपरा, सरस-नीरस का विकल्प नहीं करता। अच्छे-बुरे, सुन्दर-असुन्दर के विकल्प राग-द्वेष नहीं करता। समचित्त रहकर धर्मध्यान में तत्पर, सावधान, संलग्न रहता है, इसे अनुमति त्याग श्रेणी धारी कहते हैं॥ ११ ॥

---

१०. बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्व रतः।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्त परिग्रहाद्विरतः ॥ १४५ ॥ र. क. श्रा.।

अर्थ – जो विवेकी श्रावक दश प्रकार के बाह्यपरिग्रहों से ममत्व त्याग कर संतुष्ट हुआ अपने स्वरूप में स्वस्थ-रत रहता है, वह सब ओर से चित्त में बसे सम्पूर्ण परिग्रहो से विरक्त होता है। इसे परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं॥ १० ॥

११. १. अनुमतिरारंभे वा परिग्रहेएहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलुयस्य समधी-रनुमति विरतः स मन्तव्यः ॥ १४६ ॥
र. क. श्रा.।

२. भव निष्ठा परः सोऽनुमति व्युपरतः सदा।
यो नानुमोदिते ग्रन्थमारम्भ कर्म चैहिकम् ॥

अर्थ *– १. जिस श्रावक को आरम्भ में तथा परिग्रह में और इस लोकसम्बन्धी कार्यों में अनुमति, अपनी राय-सलाह व अनुज्ञा नहीं देता है, वह अनुमतित्याग प्रतिमाधारी है।...*

• ११ वीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा–

घर तजि मुनि ढिंग व्रत गहै, छुल्लक ऐलक होय।
उद्दिष्टाशन तजि तपै, उत्तम श्रावक सोय ।। १२ ।।

अर्थ – जो गृह का सर्वथा त्याग कर मूर्च्छा रहित हो मुनिराजों, दिगम्बर साधुओं के निकट जाकर दीक्षा ग्रहण करता है। गुरु सान्निध्य में ही रहकर यथा योग्य क्षुल्लक अथवा ऐलक पद धारण कर तपश्चरण करता है। भिक्षावृत्ति से भोजन करता है। उद्दिष्ट भोजन का त्याग करता है। अर्थात् स्वयं कह कर नहीं बनवाता और न ही अपने उद्देश्य से बनाया ही ग्रहण करता है। बुलाने या नहीं बुलाने पर आहार को जाता है, सम्मान पूर्वक, विधिवत् आह्वान करने पर श्रावक के घर जाकर अपने पात्र में आहार करता है। रूखे-सूखे, ठंडा-गरम, चटपटा, नीरस-सरस जैसा भी प्रासुक भोजन हो सन्तोष से ग्रहण करता है। उसमें राग-द्वेष नहीं करता, इच्छानुसार उदरपूर्ति उद्देश्य से आहार लेता है।

इस पद के दो भेद हैं – १. क्षुल्लक और २ ऐलक। क्षुल्लक एक कौपीन-लंगोटी के साथ एक उत्तीर्य वस्त्र दुपट्टा रखता है, इसे खण्ड वस्त्र कहते हैं क्योंकि इसकी लम्बाई इतनी कम होती है कि शिर ढके तो पाँव नहीं और पाँव ढके तो सिर नहीं ढकता।

यह स्वाध्याय सामायिक, ध्यान आदि में निरत रहता है। वीर चर्या नहीं करता। सात घरों से लाकर किसी एक श्रावक के घर आग्रह करने पर भोजन करने का विधान है। वर्तमान में यह पद्धति प्रायः नहीं है।

ऐलक मात्र एक लंगोटी रखता है। बैठकर आहार लेता है यह करपात्र में

...२. अपने व्रत में निष्ठावान होता है वह आरम्भ परिग्रह से विरक्त होकर ऐहिक-इस लोक सम्बन्धी कार्यों-आरम्भ परिग्रह रूप कार्यों में अनुमति नहीं देता वह अनुमति त्याग प्रतिमाधारी है ।। ११ ।।

आहार करता है। हाथ ही से केशलौंच करता है। एकान्त में नग्न होकर ध्यान का अभ्यास भी कर सकता है। क्षुल्लक हाथ से या कैंची आदि से भी केशोत्पाटन कर सकता है। दोनों में इतना ही अन्तर है। श्रेणी-पद की अपेक्षा समान उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी हैं। यह श्रावक का सर्वोत्तम पद है।

प्रथम प्रतिमा से ५ वीं तक, जघन्य, ६ वीं ७, ८, ९ वीं वाला मध्यम और इसके ऊपर उत्तम श्रावक कहलाता है ॥ १२ ॥

◆ वानप्रस्थ श्रावक का कर्तव्य–

उत्तम श्रावक का कहा, वानप्रस्थ आचार।
क्षुल्लक ऐलक भेद इस, तृतीयाश्रम के सार ॥ १३ ॥

अर्थ – उत्तम श्रावक वानप्रस्थ कहलाता है। यह ग्रह त्यागी होता है। भिक्षावृत्ति से पात्र में आहार लेता है। विशेष आचार पूर्व में उल्लिखित है। विशेष आगम से ज्ञात करें ॥ १३ ॥ यहाँ पुनः उनका स्वरूप कहते हैं –

---

१२. १. गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्ट श्चेलखण्डधरः ॥ १४७ ॥ र. क. श्रा.।

अर्थ – जो साधक घर त्याग कर मुनि सान्निध्य में वन में जाकर धर्मगुरू के पास व्रतों को ग्रहण कर तप करता हुआ भिक्षा भोजन करने वाला और खण्डवस्त्रधारी उत्कृष्ट श्रावक उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा धारी है।

२. तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नवसन् मोहमहाभटः।
उद्दिष्टपिंडम्युज्झेदुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ॥

अर्थ – अपने योग्य पूर्वव्रत के साथ योग्य वस्त्र के अतिरिक्त समस्त का त्यागकर मोहभट को परास्त कर उद्दिष्ट भोजन का त्याग करने वाला अन्तिम ग्यारहवीं प्रतिमाधारी होता है ॥ १२ ॥

१३. उत्कृष्ट श्रावको यः प्राक् क्षुल्लकोऽत्रैव सूचितः।
स चापवाद लिंगी च वानप्रस्थोऽपि नामतः ॥...

◆ **क्षुल्लक का स्वरूप–**

इक सित पट कौपीन कटि, पींछी कमण्डलु पास।
यथासमय क्षुर कर्म चउ, करे पर्व उपवास ॥ १४ ॥

अर्थ – ग्यारहवीं प्रतिमा धारी सफेद वस्त्र (दुपट्टा) और कोपीन (लंगोटी) धारण करता है। पींछी (मयूर पंख की) और कमण्डलु रखता है। यथा समय दो महीने अथवा चार महीने में क्षौर कर्म करता है। अर्थात् कैंची, उस्तरा आदि से सिर, दाढ़ी-मूंछ के बालों को निकालता है। चारों पर्व अष्टमी, चतुर्दशी को उपवास करता है। विषय-कषायों से विरक्त उदासीन रहकर धर्मध्यान रत रहता है। कौपीन-दुपट्टा के त्याग की भावना रखता है ॥ १४ ॥

◆ **ऐलक के पूर्व क्षुल्लक का और भी–**

श्रावक आंगन जहि कहे, धर्म लाभ चुप होय।
निरुद्दिष्ट भोजन करे, क्षुल्लक श्रावक सोय ॥ १५ ॥

...अर्थ – उत्कृष्ट प्रतिमाधारी, अपवाद लिंग क्षुल्लक अवस्था धारण करता है। इसे ही "वानप्रस्थ श्रावकाश्रम" नाम वाला कहा जाता है ॥ १३ ॥

१४. स द्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्धजानपनयेत्।
सित कोपीनं संव्यानः कर्तया वा क्षुरेण वा ॥

अर्थ – वह दो प्रकार का है १. क्षुल्लक यह सिर, दाढ़ी, मूंछ के बालों को कैंची उस्तरादि से काटता है, कौपीन और उत्तरीय खण्ड वस्त्र रखता है।

श्रावक के घर पात्र में भोजन करता है। बैठकर भोजन करे। द्वितीय-

२. स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने। स श्रावक गृहं गत्वा पात्र पाणिस्तदंगणे ॥

अर्थ – ऐलक स्वयं बैठकर पाणिपात्र-हाथ में अथवा पात्र में भी श्रावक के घर जाकर आहार लेता है। एक कौपीन मात्र रखता है ॥ १४ ॥

अर्थ - आहार चर्या काल में समिति पूर्वक गमन करता श्रावक के आंगन में जाता है। शान्त भाव से "धर्मलाभ" इस प्रकार उच्चारण करता है। कह कर मौन हो जाता है। श्रावक द्वारा विनय से स्वीकृति देने पर सन्तोष से निरुद्दिष्ट अर्थात् जो कुछ श्रावक ने अपनी इच्छा से अपने लिये बनाया है उसी में से यथायोग्य आवश्यकतानुसार भोजन करे। राग-द्वेष न करें। अच्छे-बुरे का विकल्प त्यागे, इसे क्षुल्लक कहते हैं ॥ १५ ॥

◆ ऐलक का स्वरूप-

ऐलक ढिंग कौपीन कटि, पंछी कमण्डलु साथ।
पाणिपात्र बैठे अशन, केशलौंच निज हाथ ॥ १६ ॥

अर्थ - सप्तमुक्त, जन्म-मरण संतति से भयभीत उत्तम श्रावक जो एक कौपीन मात्र धारण करता है। पींछी, कमण्डलु रखता है। भिक्षावृत्ति से करपात्र में बैठकर आहार ग्रहण करता है। शुद्ध मौन से संतोषपूर्वक, धर्मध्यान हेतु शरीर स्थिति के योग्य शुद्ध श्रावकों के यहाँ शुद्ध आहार ग्रहण करता है। स्वयं दो, तीन या चार माह में अपने हाथों से ही केशलौंच करता है। यह भी ११ वीं प्रतिमा उत्तम श्रावक ऐलक कहलाता है ॥ १६ ॥

---

१५. स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत् वा।
मौनेन दर्शयित्वांगं लाभालाभे समेऽचिरात् ॥

अर्थ - श्रावक शुद्ध घर में जाकर आंगन में स्थित हो "धर्मलाभ" बोले अथवा मौन से शरीर मात्र दिखलाकर भिक्षा ग्रहण करें, नहीं मिले तो खेद न करें अर्थात् लाभालाभ में समचित्त रहें ॥ १५ ॥

१६. तद्वद् द्वितीयः किंत्वार्य संज्ञा लुंचत्यसौकचान्।
कोपीन मात्र युग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखने ॥

अर्थ - द्वितीय भेद वाले ऐलक को आर्य कहते हैं। यह हाथ से केशलौंच करता है। मुनिराज के समान पिच्छी-मयूर पिच्छी रखता है ॥ १६ ॥

• **सन्यास का कर्तव्य**–

अल्प अशन बच नींद युत, रत्नत्रय को धार।
सन्याश्रम में मुनी, वहै उभय गुण भार।। १७।।

अर्थ – सन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने वाला मुनि कहलाता है। यह अपने षट्कर्मों के निरतिपालनार्थ तथा छह उद्देश्यों - १. वैयावृत्ति करण, २. संयम पालन, ३. शरीर स्थिति अर्थ, ४. षट् कर्म पालन, ५. ध्यान करण, ६. प्राण धारण के निमित्त से अल्प शुद्ध ऐषणासमिति पूर्वक कालादि शुद्धि युत अल्प पाणिमात्र में नवधाभक्ति से आहार ग्रहण करता है। मित भाषण करता है, अर्थात् भाषा समिति पालन करता है, यथा काल मौन रहकर वचन गुप्ति साधना करता है। अल्प निद्रा लेता है शेष समय धर्मध्यान में लीन रहता है। प्रयत्न पूर्वक सावधान हो रत्नत्रय धारण करता है, वृद्धि करने में तत्पर रहता है। तप, ध्यानादि द्वारा रत्नत्रय साधना द्वारा आत्मा की प्रभावना करने में निरंतर संलग्न रहते हैं। अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार से आत्मशक्ति और जिन शासन प्रभावना करते हैं।। १७।।

१७.१. **अष्टविंशतिकान् मूलगुणान्ये पान्ति निर्मलान्।**
उत्सर्गलिंगिनो धीरो भिक्षवस्ते भवन्त्यहो।।

२. **भिक्षां चरन्ति येऽरण्ये वसन्त्यल्पं जिमन्ति च।**
बहुजल्पन्तिनो निद्रां कुर्वंते नोत्तमतपोधनाः।।

३. **जिनलिंग धराः सर्वे रत्नत्रयात्मकाः। भिक्षवस्त्वृषिमुख्यां ये तेभ्यो नित्यं नमोऽस्तु मे।**

अर्थ – १. जो परम दिगम्बर मुनिराज २८ मूलगुणों का विधिवत् पालन करते हैं, निर्मलता से धारण करते हैं, वे परम तपोनिधि उत्सर्गलिंगधारी भिक्षु कहलाते हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पंचेन्द्रिय निरोध, षट् आवश्यक और शेष ७ विशेष गुणों का पालन करते हैं। ये अट्ठाईस मूलगुण हैं।

• **व्रतभंग का दुष्परिणाम–**

गुरू देवादि की साक्षी से, गहिव्रत करे न भंग।

चाहे मृत्यु भी क्यों न हो, तीव्र दुखद व्रत भंग ॥ १८ ॥

अर्थ - व्रत का रक्ष है परिधि। अर्थात् बुरे कार्यों का त्याग करना, आत्म साधना के सहायक कार्यों के करने का व्रत-नियम लेना व्रत कहलाता है। "वृत्तति इति व्रतम्" अर्थात् जो धर्म आत्मा स्वभाव का चारों ओर से सुरक्षा करें उन्हें व्रत कहते हैं। जिस प्रकार नगर की रक्षा परकोटा करता है, राष्ट्र-राज्य की सुरक्षा किले से होती है उसी प्रकार मानव जीवन उपवन की रक्षा व्रतों नियमों के द्वारा होती है। इनकी महत्ता के लिए ये व्रत सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की साक्षी पूर्वक धारण किये जाते हैं। जिस प्रकार बीमा, राजीनामा पत्रों पर सरकारी मुहर लगने पर उनकी मान्यता होती है और दुरुपयोग किया तो राज्यद्रोही अपराधी माना जाता है। इसी प्रकार व्रत धारण कर यदि भंग करे तो वह धर्म की अदालत में महापापी अपराधी होता है।

इसीलिए परम दयालु भगवन्त व आचार्यों परमेष्ठियों ने सावधान करते हुए आज्ञा व आदेश दिया कि प्राण कण्ठ होने पर भी व्रत भंग नहीं करना चाहिए। प्राणनाश होने से एक भव ही बिगड़ेगा, दुःख होगा परन्तु व्रत भंग किया तो भव-भव में जन्म-मरण के भीषण दुःखों के साथ-साथ नरकादि

---

२. जो साधुराज भिक्षावृत्ति से आहार ग्रहण करते हैं, वन में निवास करते हैं, अल्प शुद्ध-छियालीस दोष और ३२ अंतरायों को टालकर आहार लेते हैं अधिक वार्तालाप नहीं करते और अल्प निद्रा लेते हैं वे तपोधन हैं।

३. जो नित्य ही जिनलिंग-निर्ग्रंथ मुद्रा धारण करते हैं, पूर्ण रत्नत्रय को धारण कर पालन करते हैं, भिक्षावृत्ति से निर्दोष शुद्ध आहार चर्या करते हैं उन ऋषियों में मुख्य श्रेष्ठ ऋषिराजों को मैं नित्य नमस्कार करता हूँ। नमन करता हूँ ॥ १७ ॥

दुर्गतियों के असह्य, अपरिमित दुःख सहने होंगे। अतः भव्यात्माओं "व्रतभंगी सर्वभंगी" वचन को ध्यान में रखना। ग्रहीत व्रतों को प्राणपण से पालन करना ही चाहिए ॥ १८ ॥

◆ **धर्मानन्द श्रावकाचार का फल–**

जो इस धर्मानन्द को, पढ़े सुने चित लाय।
श्रेष्ठ धर्म का मर्म वह, जाने सब सुखदाय ॥ १९ ॥

प्रथम से दशमाध्याय तक, व्रत गहे क्रम से जोय।
वह सुरगति के सुखभोग कर शिव सुख पावे सोय ॥ २० ॥

मिथ्या यह तज जब गहे, धर्मानन्द महान।
तब ही नर भव सफल होय, तथा स्व पर करे कल्याण ॥ २१ ॥

अर्थ – जो भव्य नर-नारी, आबाल वृद्ध इस ग्रन्थ को रूचि से सुनेगा तथा पढ़ेगा, पढ़ायेगा वह धर्म के मर्म अर्थात् सत्य और तथ्य को ज्ञात कर तत्त्व परिज्ञानजन्य आनन्द के परम सुखानन्द को प्राप्त कर सकेगा ॥ १९ ॥

तथा -प्रस्तुत ग्रन्थ दस अध्यायों में निबद्ध है। जो मानव प्रथम से अध्ययन

---

१८. प्राणान्तेऽपि न भंक्तव्यं गुरु साक्षीश्रितं व्रतम्।
प्राणान्तास्तद्क्षणे दुःखं व्रतभंगे भवे-भवे ॥

अर्थ – देव, गुरु, शास्त्र की साक्षी में धारण किये गये व्रत को प्राण कण्ठगत होने पर भी भंग नहीं करना चाहिए। अर्थात् प्राणघातक उपसर्ग परीषह उपद्रव-स्थिति आने पर भी ग्रहीत व्रत नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि प्राण नष्ट होने पर तो उसी भव में अल्प कष्ट पीड़ा सहनी पड़ती है परन्तु व्रत भंग होने पर भव-भव में अनेकों भवों दुर्गतियों-नरकादि के भीषण दुःख सहन करने पड़ते हैं। अतः प्रत्येक भव्य को दृढ़ता से व्रत पालनकर उत्तम गति पाने का प्रयत्न करना चाहिए ॥ १८ ॥

कर व्रतों का पालन करेगा, निरतिचार श्रावक की प्रतिमाओं के व्रतों-नियमों का पालन करेगा वह स्वर्ग को प्राप्त कर सुरेन्द्र अहमिन्द्रादि के सुख प्राप्त कर परम्परा से मुक्ति सुख प्राप्त कर अमर पद प्राप्त करेगा ॥ २० ॥

संसार परिभ्रमण व दुःख परम्परा का मूल हेतु मिथ्यात्व है। प्रथम आत्म हितेच्छु को इसका नवकोटि से त्याग करना चाहिए तभी धर्मानन्द की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि इनका रात्र दिवस के समान परस्पर विरोध है। याद रहे एक म्यान में दो तलवार नहीं समाती। मनुष्यफल की सफलता स्व-पर कल्याण में है। यह योग्यता इस ग्रन्थ की शिक्षा से अवश्य प्राप्त होगी ॥ २१ ॥

◆ इस कृति की आवश्यकता –

जो बुध धर्मानन्द का करन चहत अभ्यास।
उन हिन्दी काव्य यह, सुगम सुखद गुणरास ॥ २२ ॥

छन्द काव्य गुणहीन मैं, धर्मानन्द आसक्त।
शब्द अर्थ की भूल को, शोधि पढउ गुण भक्त ॥ २३ ॥

धर्मानन्द ही जग बढ़ो, जब लग नभ शशि भान।
महावीरकीर्ति कृति यह, तब तक पढ़ें सुजान ॥ २४ ॥

अर्थ - सम्यग्ज्ञानी प्रत्येक विवेकी धर्मानुकूल आचरण करता है। प्रत्येक मानव अपने श्रम का फल अवश्य चाहता है। धर्म का फल ही धर्मानन्द है। उस फल का स्वरूप निरूपक आगम है। उसी उद्देश्य से आगमानुसार आचार्य श्री १०८ महावीरकीर्ति जी गुरुदेव ने सर्व साधारण के हितार्थ सरल हिन्दी भाषा में इसे छन्दोबद्ध किया है। यह सुगम, सरल, गुणरूपी रत्नों का पिटारा है। उद्भट विद्वान अठारह भाषा भाषी होने पर भी अपनी लघुता प्रकट कर रहे हैं। सज्जनों का यही स्वभाव है, वे सदैव ऊपर की ओर दृष्टि रखते हैं अर्थात् विशिष्ट

गुणवानों पर नजर रहने से अपने में स्वभाव से न्यूनता दिख पड़ने लगती है। अस्तु आचार्य श्री कथन करते हैं - मैं छन्द, काव्य कला से अनभिज्ञ हूँ। परन्तु धर्मानन्द का रसिक हूँ। इसका जो परम आनन्दानुभव होता है वह हर प्राणी को उपलब्ध हो इसी अनुकम्पा-परोपकार भावना से यह ग्रन्थ रचना की है। इसका प्रवाह यावच्चन्द्र दिवाकर प्रवाहित रहकर भव्यात्माओं का आत्मकल्याण करे यही भावना है। इसमें शब्द, अर्थ, छन्द विन्यास में जो भी त्रुटि हो बुधजन पाठक सुधारने का कष्ट करें। प्राणीमात्र को धर्मानन्द प्राप्त होगा, इसी आशा से ग्रन्थ समाप्त किया है। लघुता-विनम्रता की द्योतक है॥ २२-२४॥

कहा भी है -

"लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।"

- कृतिकार का परिचय -

श्रावक पद में रहि, पुनि ऊदगांव में आय।
आचार्य आदिसागर से, धारी दीक्षा सुखदाय॥ १॥
जो वारिधि स्याद्वाद के, वादीभसिंह केसरी जान।
वाचस्पति नय शास्त्र के, थे विद्वान महान॥ २॥
धर्म, न्याय, व्याकरण युत, पूर्ण ज्ञान साहित्य।
शास्त्राध्ययन से जिन, पाया कुछ पाण्डित्य॥ ३॥
अंकलीकर विख्यातवें, महातपस्वी वीर,
'मुनिकुंजर' विख्यात वे, दयानिधि भरपूर॥ ४॥
उनका पाया शिष्य पद, महावीर कीर्ति मुझ नाम।
उन्हीं का आचार्य पद, प्राप्त लिखा यह मर्म॥ ५॥

श्री सन्मति प्रभु जन्म दिन, चौबीस सौ सत्तर।
लिखी कृति आज समाप्त की, ऊदगाँव में सुखदाय ॥ ६ ॥

"इति धर्मानन्दग्रन्थश्रावकाचार ग्रन्थ समाप्त ॥"

अर्थ - आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी जिनके गुरु मुनि कुञ्जर, समाधि सम्राट् आचार्य स्याद्वाद विद्या पारंगत, वादीभ सिंह केसरी, वाचस्पति, न्याय शास्त्र वेत्ता, धर्म, व्याकरण ज्ञाता, पाण्डित्यपूर्ण गुरु श्री आदिसागर जी अंकलीकर थे। उन्हीं तपस्वी वीर दयानिधि का आचार्य पद मैंने (आचार्य महावीरकीर्ति ने) इस मार्मिक, रहस्यपूर्ण, जीवनोपयोगी ग्रन्थ की रचना की है। इसकी परिसमाप्ति ऊदगाँव (कुंजवन) में वीर प्रभु जन्म जयन्ती २४७० में की है। अर्थात् चैत्र शुक्ला त्रयोदशी वीर जयन्ती २४७० में पूर्ण किया।

प्रस्तुत "धर्मानन्द श्रावकाचार" टीका की प्रशस्ति

अथ श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्य परम्परायां दिगम्बराम्नाये परम पूज्य श्री अंकलीकर चारित्र-चक्रवर्ती मुनि कुञ्जर सम्राट् प्रथमाचार्य श्री आदिसागरस्य पट्ट शिष्य परम पूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि समाधि सम्राट् अष्टादश भाषा भाषी उद्भट विद्वान् आचार्य श्री महावीरकीर्तेः विरचितस्य "धर्मानन्द श्रावकाचारस्य" इयं हिन्दी टीका गणिनि आर्यिका विजयमत्या कृता धर्म नगरी इचलकरञ्जीनगरे महाराष्ट्र प्रान्ते परिसमाप्ता।

॥ शुभं भूयात् ॥

॥ जयतु श्री जिनवीरशासनम् ॥

औचक...उजास

✍... आचार्य श्री सन्मति सागर जी

भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर तक चली आई श्रमण परंपरा आज भी जीवित है। श्रमण परंपरा में प्राण फूंकने वाले समय-समय पर अनेक आचार्य हुए है, जिनमें आचार्य धरसेन, पुष्पदंत-भूतबलि, कुंदकुंद, समंतभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, अमृतचन्द्र स्वामी, शुभचंद्र आदि स्मरणीय हैं।

इस श्रमण परंपरा में प्राण फूंकने का कार्य दक्षिण के वयोवृद्ध संत मुनिकुञ्जर आचार्य श्री आदिसागरजी ने भी किया। वे अंकलीकर आचार्य अथवा अंकलीक स्वामी के नाम से भी जाने जाते हैं।

आचार्य प्रवर श्री आदिसागरजी महाराज (अंकलीकर) घोर तपस्वी और आत्मज्ञानी आचार्य थे। उन्होंने उस समय के भीषणकाल में भी खूब धर्मप्रभावना की। वे जगह-जगह धर्मोपदेश देकर जनता को धर्म के मार्ग पर लगाते थे। उनके प्रखर शिष्य आचार्य महावीरकीर्ति जी ने उनकी कीर्ति को और भी विस्तृत किया था। इन श्री महावीर कीर्ति जी महाराज में अपने गुरु के समान गुण विद्यमान थे। ये अठारह भाषाओं के जानकार भी थे। जिस क्षेत्र में जाते थे, वहीं की भाषा में प्रवचन करते थे।

आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज ने अपने गुरु की स्तुति मे एक **'प्रबोधाष्टक'** नामक स्तोत्र की रचना की थी जो स्वोपज्ञ टीका के बाद एक ग्रंथ रूप में विकसित हो गया। शार्दूलविक्रीडित छंद में रचित इसके अत्यन्त सुंदर श्लोक शांतरस से परिपूर्ण हैं। कालान्तर में इस ग्रन्थ की हिंदी टीका प्रथम गणिनी आर्यिका विजयमतिजी की योग्य शिष्या आर्यिका विमलप्रभा जी ने की है, जो प्रकाशित भी हो चुकी है।

आचार्य श्री की रचनाधर्मिता से कितने सुंदर ग्रंथों का सृजन हुआ है, यह बात अभी तक अजानकारी के गर्भ में ही थी, पर अभी कुछ वर्षों से उनकी कृतियां प्रकाश में आ रही हैं। उनकी तथा उनके गुरु आचार्य श्री आदिसागरजी (अंकलीकर) की कृतियों का यहाँ संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है-

प्रबोधाष्टक - यह आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी द्वारा अपने दीक्षादाता गुरु की स्तुति के रूप में लिखी गई सुंदर कृति है। इसकी स्वोपज्ञ संस्कृत टीका भी उन्होंने स्वयं की थी । इसकी हिंदी टीका आर्यिका विमलप्रभा जी ने की है। जो बहुत सुन्दर बन पड़ी है। नामानुरूप ग्रंथ में जीव को प्रबोध देने वाले आठ श्लोक शार्दूलविक्रीडित छंद में रचनाबद्ध है।

जिनधर्म रहस्य - यह एक उपदेशात्मक रचना है। इसके मूल प्रेरणास्रोत आचार्य श्री आदिसागरजी (अंकलीकर) हैं। कुल २६१ श्लोक प्रमाण वाक्यों में श्रावकों के लिए मूलरूप से मार्गदर्शन दिया गया है। कालान्तर में इसका हिंदी अनुवाद आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी ने, पद्यानुवाद गणिनी आर्यिका विजयमतिजी ने तथा संस्कृत अनुवाद प्रोफेसर प्रकाशचंद्रजी ने किया था। जो आज प्रकाशित होकर हमारे सामने हैं।

प्रायश्चित्त विधान – किस दोष के हो जाने पर क्या प्रायश्चित्त होता है। प्रायश्चित्त कैसे किया जाता है ? आदि चर्चाओं का संक्षिप्त रूप से संकलन करने वाली यह कृति आचार्य श्रीआदिसागरजी (अंकलीकर) की भावोक्त रचना है। इसका लेखन ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी वि. सं. १९७१ में हुआ। कालान्तर में इसका पद्यानुवाद संस्कृत भाषा में आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी ने महावीर जयंति वि. सं. २००१ में पूर्ण किया। इसका हिन्दी अनुवाद गणिनी आर्यिका विजयमति जी ने मगशिर शुक्ला दोज वीर नि. स. २५२९ में पूर्ण किया। १०८ गाथा निबद्ध यह कृति आदरणीय है।

शिवपथ - ३११ श्लोकों का यह सुंदर समायोजन संस्कृत निबद्ध है। इसके मूल लेखक आचार्य आदिसागरजी अंकलीकर है। ग्रंथ का लेखन वि. सं. २००० में पूर्ण हुआ था। तथा मगसिर कृष्णा दसमी २००४ में आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी द्वारा अनूदित हुआ हिंदी भाषा में। कृति में श्रावकाचार, नीति-न्याय, लोक व्यवहार तथा धर्म आदि की चर्चा विशेष रूप से की गई है।

चतुर्विंशति स्तोत्र - यह २५-२५ श्लोकों के २५ पाठों से युक्त २२५ श्लोकों की सुंदर रचना है। इसमें चौबीस तीर्थंकरों की वंदना करते हुए न्याय एवं दर्शन की भी सुंदर चर्चा की गई है। ग्रंथ के कर्ता आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी माने जा रहे हैं। इसकी हिंदी टीका गणिनी आर्यिका विजयमति जी ने की है। जो अच्छी बन पड़ी है।

वचनामृत (Words of Nectar) - इस लघुकाय पुस्तिका में आचार्य श्री आदिसागरजी (अंकलीकर) के वचनामृतों का संकलन हुआ है। कालान्तर में इसका अंग्रेजी अनुवाद भी हुआ है। आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी को अंग्रेजी का कितना अच्छा ज्ञान था वह इस कृति को पढ़ने से मालूम पड़ जायेगा।

सभी मोक्षमार्ग के साधक जिनवाणी मार्गानुसारी ग्रंथों का स्वाध्याय करते हुए आत्मोन्नति के मार्ग पर बढ़ें, ऐसी भावना के साथ गुरू चरणों में प्रणाम करता हुआ विराम लेता हूँ।

आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी विरचित "धर्मानन्द श्रावकाचार"

संदर्भित शास्त्रों-ग्रन्थों की सूची

१. सर्वार्थसिद्धि
२. जैन शास्त्र
३. पद्मनंदि पंचविंशतिका
४. अथर्ववेद
५. व्यासभाष्य
६. चाणक्य नीति
७. हितोपदेश
८. सागार-धर्मामृत
९. गोमट्टसार जीवकाण्ड
१०. तत्वार्थसार
११. मनुस्मृति
१२. तत्वार्थ सूत्र
१३. भगवती आराधना
१४. नीति शास्त्र
१५. चारित्रसार
१६. रत्नकरण्डश्रावकाचार
१७. पंचास्तिकाय
१८. वैशेषिक दर्शन
१९. धर्मसंग्रह श्रावकाचार
२०. सनातन जैन ग्रन्थ
२१. पुरूषार्थ सिद्ध्युपाय
२२. स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा
२३. अमितगति श्रावकाचार
२४. गोमट्टसार कर्मकांड
२५. पातंजलि योग दर्शन
२६. तत्वार्थ राजवार्तिक
२७. महाभारत
२८. सामान्यनीति
२९. पद्मपुराण
३०. मार्कंडेय पुराण
३१. आदि पुराण
३२. सामायिक पाठ
३३. श्रावकाचार
३४. सम्यक्त्व कौमुदी
३५. जैमिनि नीति
३६. नीति शतक
३७. मूलाचार
३८. मृत्यु महोत्सव
३९. पार्श्व पुराण